Jīvarāja Jaina Granthamālā, No. 7

GENERAL EDITORS:

Dr. A. N. UPADHYE & Dr. H. L. JAIN

PAÜMAṆAṀDI'S

JAMBŪDĪVA-PAṆṆATTI-SAṀGAHO

(An Important Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography etc.)

Authentically Edited for the first time with Various Readings, Appendices etc.

BY

Prof. A. N. UPADHYE, M. A., D. Litt.
Rajaram College,
Kolhapur

Prof. HIRALAL JAIN, M. A., LL. B., D. Litt.
Director, Prākrit-Jaina Institute,
Muzaffarpur

With an Introduction in Hindi on the Mathematics of Tiloyapaṇṇatti

BY

Prof. LAKSHMICHANDRA JAIN, M. SC.
Mahakoshal Mahavidyalaya, Jabalpur

AND

With the Hindi Paraphrase of
Pt. BALCHANDRA, SIDDHANTASASTRI

PUBLISHED BY
GULABCHAND HIRACHAND DOSHI
JAINA SAṀSKṚTI SAṀRAKṢAKA SAṀGHA
SHOLAPUR

1958

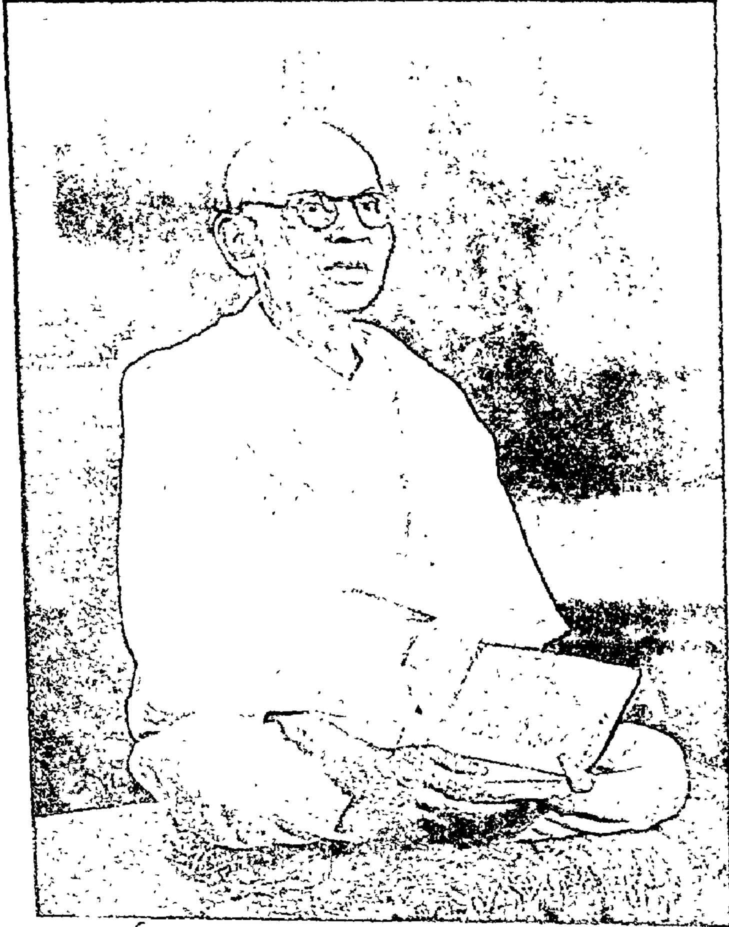
Price Rupees Sixteen only

जीवराज जैन ग्रंथमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ती लगा रहा थे। सन १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी, कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियां इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन १९४१ के ग्रीष्म कालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपंथा (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोह पूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ'की स्थापना की और उसके लिए ३००००) तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई और सन १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००) दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला'का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी ग्रंथमालाका सप्तम पुष्प है।

प्रकाशक-
गुलाबचंद हिराचंद दोशी,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापूर.

मुद्रक-
१) पृ. १–१६, लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी, निर्णयसागर प्रेस, २६-२८ कोलभाट स्ट्रीट, बम्बई २.
२) पृ. १–१०९, ज्योतिषप्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी.
३) पृ. ११०–१५४, वर्धमान प्रेस, सोलापुर.
४) पृ. १–२५४, सरस्वती मुद्रणालय, अमरावती.
५) पृ. १–५४, (परिशिष्ट) सरला प्रेस, गुदौलिया, वाराणसी.



स्व. ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंद दोशी
संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

जीवराज जैन ग्रंथमाला, ग्रन्थ ७

ग्रंथमाला-सम्पादक
प्रो० आ. ने. उपाध्ये & प्रो० हीरालाल जैन

पउमणंदिकओ

जंबूदीव-पण्णत्ति-संगहो

(जैन करणानुयोग विषयक महत्त्वपूर्ण प्राचीन प्राकृत-रचना)

आलोचनात्मक रीतिसे पाठान्तरों व परिशिष्टों आदि सहित, प्रथम वार सम्पादित

सम्पादक

प्रो. आ. ने. उपाध्ये,
एम. ए., डी. लिट्.
राजाराम कालेज, कोल्हापुर

प्रो. हीरालाल जैन, एम. ए.
एलएल्. बी., डी. लिट्.,
डायरेक्टर, प्राकृत जैन विद्यापीठ, वैशाली, मुजफ्फरपुर

त्रिलोकप्रज्ञप्तिके गणितपर हिन्दीमें प्रास्ताविक निबन्धलेखक
प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम्. एस्सी.,
महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर

हिन्दी अनुवादक
पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
श्री. गुलाबचन्द हिराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापुर

वी. नि. संवत् २४८४ | सन १९५८ | विक्रम संवत् २०१४

मूल्य रु. १६ मात्र

विषय – सूची

सम्पादकीय

तिलोय-पण्णत्तिका सम्पादन पूर्ण होते ही (प्रका. भा. २. १९५१) सम्पादकोंके सन्मुख उसी विषयका एक और ग्रंथ उपस्थित रह गया जिसने अभी तक दिनका प्रकाश नही देख पाया था। यह था पउमणंदिकृत जंबूदीवपण्णत्ति। सम्पादकोंमेंसे एक (प्रो. ही. ला. जैन) को इस कठिन ग्रंथके सम्पादन व अनुवादका कार्य हाथमें लेनेकी बुद्धिमत्तामें सन्देह था, क्योंकि इसका पाठ अनेक स्थलोंपर अनिश्चित दिखाई देता था और उसकी प्राप्य प्रतियां बहुत दोष पूर्ण पाई जाती थीं। किन्तु अपेक्षा कृत कम वृद्ध सम्पादक (प्रो. आ. ने. उपाध्ये) इन कठिनाइयोंसे डरना नही चाहते थे। अन्ततः इस ग्रंथको भी स्मृतिशेष रह जानेसे बचाना तो अवश्य ही है। और जब यह बात है तो अन्य कौन और कब इस कार्यको करेगा? अतः दोनों सम्पादक इस निर्णय पर पहुंचे कि वे सदैवके अनुसार इस कार्यको भी कंधेसे कंधा मिलाकर हाथमें लें, और उपलभ्य सामग्रीका यथाशक्ति सदुपयोग कर इस ग्रंथको भी प्रकाशमें लवें। पं. बालचन्द्रजी शास्त्रीको इसके हिन्दी अनुवादका कार्य सौंपा गया, क्योंकि उन्हें ति. प. के अनुवादका भी अनुभव था।

इस सम्मिलित प्रयासका फल प्रस्तुत ग्रंथ पाठकोंके सन्मुख है। वे ही देखकर कह सकेंगे कि सम्पादक कहां तक अपने दीर्घकालीन प्रयासमें सफल हो सके हैं।

इस ग्रंथके मूल और अनुवादका मुद्रण सरस्वती प्रेस, अमरावती, में किया गया था। किन्तु प्रो. लक्ष्मीचन्द्रजीके गणित सम्बंधी महत्त्वपूर्ण लेखके लिये शेष सामग्रीका मुद्रण रोक रखना पड़ा। जब वह लेख पूरा हुआ तब तक धवलाका कार्यालय अमरावतीसे उठकर बनारस चला गया था। और धवला कार्यालयसे ही इस ग्रंथके मुद्रणकी भी सम्हाल की जाती थी। अतः वह लेख बनारसके ज्योतिषप्रकाश प्रेस (विश्वेश्वरगंज), में तथा परिशिष्टोंको बनारसके सरला मुद्रणालयमें छपवाना पड़ा। उसमेंके कुछ यूनानी अक्षरों, संकेतों तथा चित्रोंके बनवानेका विशेष प्रयास करना पड़ा जिसमें भी बहुत समय लगा। गणित लेख, तथा परिशिष्टोंका मुद्रण समाप्त होते ही पं. बालचन्द्र शास्त्री बीमार हो गये और वे बनारस छोड़कर अपने घर बीना चले गये। इससे प्रस्तावनादिका शेष भाग बनारसमें न छप सका और उसे निर्णयसागर प्रेस, बम्बई और वर्धमान प्रेस, सोलापूर में छपाना पड़ा। ऐसी परिस्थितिमें यदि पाठकोंको इस ग्रंथमें कागज व मुद्रण आदिकी बहुरूपता दिखाई दे तो वे कृपाकर क्षमा करेंगे।

सम्पादकों और अनुवादकने तिलोयपण्णत्ति और जंबूदीवपण्णत्ति ग्रंथोंके गणित भागको सम्हालनेका अपनी शक्तिभर प्रयास किया था। किन्तु उन्हें इस विषयमें अपनी सीमाका भान था। अतएव इन ग्रंथोंके गणित भागका समुचित रीतिसे किसी गणितके अधिकारी विद्वान् द्वारा अध्ययन करानेकी सम्पादकोंको इच्छा हुई। सौभाग्यसे उन्हें ऐसी योग्यता गणितके नवयुवक प्रोफेसर श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम. एसूसी. में दिखाई दी। उन्हें इस विषयमें स्वयं भी रुचि उत्पन्न हुई। अतः उन्होंने विशेषतः तिलोयपण्णत्तिके गणित भागका अध्ययन कर मुद्रित १०४ पृष्ठोंका वह लेख लिखा है जो इस ग्रंथके साथ प्रकाशित है। जैन

ग्रंथोंमें प्रयुक्त विशेष संकेतों व चित्रों सहित गणितकी नाना प्रक्रियाओंके अतिरिक्त उन्होंने जो यूनानी, चीनी आदि लेखोंके साथ इनकी तुलना की है (देखिये गणित लेख पृ. १०, १३ आदि) वह बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वर्तमानमें यह कह सकना तो कठिन है कि इस ज्ञानका प्राचीन कालमें क्या कोई आदान प्रदान हुआ था, और कौनने किसे कितना दिया व कितना लिया था। किन्तु यह विषय आगे अनुसन्धान करने योग्य है। इस दिशामें प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्रजी प्रयत्नशील भी हैं।

इस प्रकाशनके पश्चात् जैन खगोल विषयक दो और ग्रंथ अप्रकाशित रह जाते हैं। वे हैं संस्कृत लोकविभाग और त्रैलोक्य-दीपिका। इन ग्रंथोंको भी इसी ग्रंथमालामें प्रकाशित करानेका प्रयत्न किया जा रहा है।

हमें महान् दुःखके साथ कहना पड़ता है कि जैन संस्कृति संरक्षक संघकी प्रवृत्तियों पर उसके संस्थापक और आजीवन अध्यक्ष ब्रह्मचारी जीवराज भाईके निधनसे बड़ा वज्राघात हुआ है। संघके स्थापन कालसे मृत्युपर्यन्त संघकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंके विकासकी ओर उनकी बड़ी तीव्र दृष्टि रहती थी। उसके किसी कार्यक्षेत्रमें वे किसी प्रकारकी ढिलाईको सहन नहीं करते थे। मार्गमें जो कठिनाइयां आतीं उन्हें वे अपने नैतिक बल और भौतिक साधनोंसे तुरंत दूर करनेका भरपूर प्रयत्न करते थे। उनकी मृत्युसे धार्मिक प्रवृत्तियों तथा जैन संस्कृतिकी सेवामें असीम दानशीलताका एक चमत्कारी जीवन समाप्त हो गया। हमारी यही भावना और प्रार्थना है कि उनकी आत्माको स्वर्गमें शान्ति मिले, तथा उनके आदर्शसे वर्तमान और भविष्यकी धनी पुरुषोंकी पीढियोंको स्वामित्व रहते अपने धनको सत्कार्यमें लगानेकी प्रेरणा मिलती रहे।

हम अपने नये अध्यक्ष श्रीमान् सेठ गुलाबचन्द हीराचन्दका स्वागत करते हैं। वे पहलेसे ही ट्रस्ट कमेटीके सदस्यके नाते संघकी प्रवृत्तियोंसे भली भांति परिचित हैं, और उनसे पूर्ण सहानुभूति रखते आये हैं। हमें पूरा भरोसा है कि ट्रस्टके अन्य सदस्योंके सहयोगसे वे अपने महान् पूर्वाध्यक्ष द्वारा स्थापित परम्पराओंके संरक्षणमें कोई प्रयत्न शेष नहीं रखेंगे।

वर्तमानमें हम बड़े संकटाकीर्ण और साथ ही आशाजनक कालमें चल रहे हैं। संकटाकीर्ण इसलिये क्योंकि आजकल धार्मिक बातोंमें प्रवृत्तियोंमें क्षीणता, वैयक्तिक दानशीलतामें शुष्कता तथा नवयुवकोंमें तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा भौतिक विज्ञान व यंत्रचातुरीकी ओर अधिक आकर्षण दिखाई पड़ता है। और इससे भी ऊपर, सर्वनाशी अस्त्रशस्त्र आकाशमें मंडरा रहे हैं व समस्त विद्वत्ता और संस्कृतिको एक फूंकमें हवा बना कर उड़ा देनेकी धमकी दे रहे हैं। किन्तु फिर भी यह युग आशाजनक इसलिये है क्योंकि पूर्वोक्त कारणोंसे ही, एक ऐसी भी विचारधारा उत्पन्न हो गई है जो उक्त बहावका रुख बदल देना चाहती है। देशके तथा संसारके चिन्तन-शील विद्वान् मानवताके संरक्षण तथा जगत्की शान्ति व समृद्धिके लिये अब अपने चित्तको प्राचीन तत्त्वज्ञानकी ओर फेर रहे हैं। इस विचारशीलतामें हमारे साहित्यके प्रत्येक पृष्ठ और प्रत्येक पंक्तिसे उद्भूत होनेवाला संदेश बहुत बलदायक सिद्ध हो सकता है। वह संदेश है जीव और प्रकृतिकी अनश्वरशीलता एवं भौतिक लाभोंकी अपेक्षा आध्यात्मिक तत्त्वोंकी परमश्रेष्ठता।

हमें आशा करना चाहिये कि इस दृष्टिकोणसे न केवल हमारे इस उपलब्ध साहित्यके अध्ययनका प्रसार होगा, किन्तु जो साहित्य अभी भी प्राचीन भंडारों और मंदिरोंकी अंधेरी कोठरियोंमें बन्द पड़ा है उसे प्रकाशमें लानेकी ओर भी अधिक ध्यान दिया जायगा। भारतीय संस्कृतिको अभी भी अपना उचित स्थान प्राप्त करना है।

अन्तमें हम कृतज्ञतापूर्वक उन सब संस्थाओं और व्यक्तियोंके प्रति अपना ऋण स्वीकार करते हैं, जिन्होंने किसी न किसी प्रकार इस सम्पादनमें अपना सहयोग प्रदान करने की कृपा की है। विशेषतः संघके ट्रस्ट व व्यवस्थापक मंडलके सदस्य इस ओर उत्साह और अभिरुचिके लिये हमारे धन्यवादके पात्र हैं। जिन्होंने हमें अपनी हस्तलिखित प्रतियाँ उधार दीं और जिन विद्वानोंने अपने परामर्श आदि द्वारा हमें उपकृत किया उन सबका हम बहुत आभार मानते हैं।

सम्पादक,

सोलापूर
५–१–५८

ही. ला. जैन
आ. ने. उपाध्ये

INTRODUCTION

1. Jaina Authors on Cosmography

Indian Cosmography is a subject of immense interest and an independent branch of study by itself; and it is evident from earlier studies (W. Kirfel: Die Kosmographie der Inder, Bonn u. Leipzig 1920, pp. 208–340) that Jaina cosmography occupies an important position therein. Jaina texts dealing with cosmography have a manifold interest: first, the cosmographical details are worked out in an elaborate plan which shows a remarkable consistency and vision; secondly, these details have a close connection with Jaina metaphysical and ethical doctrines; thirdly, the entire range of Jaina literature, especially of the Prathamānuyoga group, is so much permeated by these details that a clear understanding of them needs constant reference to standard works on cosmography; and lastly, there is found in them a good deal of knowledge of contemporary mathematics. A historian of the growth of human knowledge in different countries and ages has, therefore, a special interest in these works.

In the Ardhamāgadhī canon there are some works dealing with this subject: the Sūrapaṇṇatti (Skt. Sūryaprajñapti, published with the Ṭīkā of Malayagiri, Āgamodaya Samiti, Surat 1919), Jambuddīva-paṇṇatti (Skt., Jambūdvīpa-prajñapti, pub. with Śānticandra's Ṭīkā, Devachanda Lālabhāi Jaina Pustakoddhāra, 52 & 54, Bombay 1920) and Caṁdapaṇṇattī (Skt., Candraprajñaptiḥ). Besides the commentaries on the Tattvārthasūtra, which present good many cosmographical details especially in chapters 3–4, there are available many post-canonical texts: Umāsvāti's Jambūdvīpa-samāsa with the *commentary of Vijayasiṁha (Ahmedabad 1922); Jinabhadra's Saṁghā*yaṇī with the commentary of Malayagiri (Bhavanagar Saṁvat 1973), Bṛhatkṣetra-samāsa with the comm. of Malayagiri (Bhavanagar Saṁ. 1977); Haribhadra's Jambuddīva-saṁghāyaṇi (Bhavanagar 1915) etc. (Schubring: Die Lehre der Jainas, Berlin u. Leipzig 1935, p. 216).

Then there is a small but well-knit group of the pro-canonical texts to which belongs the Tiloya-paṇṇatti, already published, in two volumes, in the Jīvarāja Jaina Granthamālā, Sholapur 1943 and 1951. The Loyavibhāga was another ancient text but only a Sanskrit digest of it, the Lokavibhāga, has come down to us. The Tiloyasāra of Nemicandra (Bombay 1917) with the comm. of Mādhavacandra is an important text of this group. To this category of texts belongs the Jambūdīva-paṇṇatti-saṁgaha (JPS) an authentic edition of which, along with the Hindl paraphrase etc., is being presented in this volume. (See JPS, The Indian Historical Quarterly, Calcutta, XIV, 1938, pp. 188 ff.)

*

2. JPS: Mss., Contents, Form etc.

There are very few Mss. of JPS preserved in public libraries (Jinaratnakośa, Poona 1944, p. 131); still, through the efforts of the editors, some Mss. could be secured from unexpected quarters. The text constituted here is based on five Mss. which are fully described in the Hindī Introduction. The readings from the sixth Ms. are noted in an appendix. The Prākrit text is defective in many places; and in the absence of any commentary etc., the editors had to face many difficulties. In all those few cases, wherever the editors have improved upon the text, the actual readings are duly noted in the foot-notes. It is hoped that this authentic vulgate will serve the purpose of all critical studies for the present.

The Mss. often call this text by the name Jambūdvīpa-prajñapti, but the real title of the work, as mentioned in the colophons of various Uddeśas is Jambūdīva-paṇṇatti-saṁgaha (Skt. Jambūdvīpa-prajñapti-saṁgraha). The word *Saṁgraha* indicates that the author is compiling the contents from some earlier source the name of which was perhaps Dīvasāgara-paṇṇatti as indicated by gāthā Nos. I, 6 & 18, XIII, 142. In the absence of more evidence it is not possible to say whether this reference applies to the Śrutāṅga of the same name included under Parikarma which was a part of the 12th Aṅga, Diṭṭhivāda, according to one tradition.

In this work there are 2429 gāthās divided into thirteen Uddeśas. The title of each Uddeśa, mentioned in the colophon at its close, is quite significant and gives a fair idea of its contents.

The First Uddeśa (Uvagghāya-patthāvo, in gāthās 74) opens with the Maṅgala consisting of salutations to five Parameṣṭhins. Then the author declares his object to present the contents of this work as they are traditionally received from Mahāvīra, through a series of teachers, Gautama to Lohācārya. Then follows a description of the extent, circumference and area of the Jambūdvīpa which stands at the centre of a series of oceans and islands. Then are detailed the Gopura-dvāras, Kṣetras, mountains, rivers, and images of Jinas on their banks etc.

The Second Uddeśa (Bharaherāvaya-vaṁsa-vaṇṇaṇo, in gāthās 210) contains the descriptions of the seven Kṣetras, Bharata etc., and of the six Kula-parvatas which divide them: in all there are 190 Khaṇḍas or sectors the extent etc. of which are described in details. Then the Vijayārdha mountain, with so many Vidyādhara towns on both of its Śreṇīs and with numerous Jinabhavanas on its different peaks, is described extensively. It is from this that the rivers Gaṅgā and Sindhū flow out into the southern Bharata. The various ages, Suṣamā etc., are mentioned, along with the religious aptitude of the inhabitants.

The Third Uddeśa (Pavvada-ṇadī-bhogabhūmi-vaṇṇaṇo, in gāthās 246) describes the Kulaparvatas, their peaks and temples on them. Then follow the glories of the deities Śrī etc. who dwell in the lotus temples in the lakes on them, as well as those of the presiding gods residing on the Jambūvṛkṣas etc. The great river Gaṅgā flows from the Padmahṛd on the Himavān mountain. Flowing for 500 yojanas it rushes into a big lake at the foot of that mountain: in its course it washes many an image of Jina. Incidentally we get the description of lakes, streams, temples etc.

The Fourth Uddeśa (Mahāvidehāhiyāra, in gāthās 292) begins with the description of the Mandara mountain which stands at the centre of Jambūdvīpa. There are on it parks like Nandana etc. which are decked with gorgeous temples of Jina. It is in the Pāṇḍuka park that the birth-consecration of a Tīrthakara is celebrated by the gods. Incidentally the military glories of Sudharmendra are depicted here.

The Fifth Uddeśa (Mandaragiri-Jiṇabhavaṇa-vaṇṇaṇo, in gāthās 125) presents a detailed description (dimensions etc.) of the Jinabhavanas on the Mandara mountain, with their various items of decoration, articles of worship and architectural sectors. The Indras of various grades carry on different forms of worship here.

The Sixth Uddeśa (-Devakuru-Uttarakuru-viṇṇāsa-patthāro, in gāthās 178) gives a detailed description of Devakuru and Uttarakuru with regard to their mountains, rivers, lakes, deities dwelling therein and the various trees there. There dwell various Nāgakumāras in different quarters and sub-quarters which have got special names. Some specific characteristics of the inhabitants are also noted in conclusion.

The Seventh Uddeśa (–Kacchāvijaya-vaṇṇaṇo, in gāthās 153) sets forth a description of the Videha-kṣetra located in between the two Kulaparvatas, Niṣadha and Nīla. It is divided into various sections due to mountains and rivers. The Kacchāvijaya is divided into Khaṇḍas, one of which is Āryakhaṇḍa and five others Mlecchakhaṇḍas. Here dwell Cakravartins whose glories are elaborately noticed. The three Varṇas, excepting the Brāhmaṇa, are there; and they are all devoted to Jinas. The rivers have given rise to certain islands the presiding gods of which are conquered by Cakravartins who are honoured by Mleccha rulers. The Cakravartin is made to realize that there were many Cakravartins in the past.

The Eighth Uddeśa(–puvva-videha-vaṇṇaṇo, in gāthās 198) describes the Pūrvavideha with reference to its mountains, rivers, territories and capitals.

The Ninth Uddeśa(–avara-videha-vaṇṇaṇo, in gāthās 197) describes the Aparavideha with reference to its mountains, rivers, territories, and

their capitals which bear different names and have their specific dimensions. On the banks of these rivers, there are twenty Vakṣāra-parvatas the peaks of which are decked with the temples of Jina in which gods and Vidyādharas carry on regular worship.

The Tenth Uddeśa (Lavaṇa-samudda-vāvaṇṇaṇo, in gāthās 102) describes the Lavaṇa-samudra which surrounds the Jambūdvīpa on all the sides. Its dimensions, along with those of the Pātālas therein, are duly noted, and the seasonal tides are indicated. There are eight mountains of Velaṁdhara gods. Then there are the Antardvīpas which are inhabited by strangely figured human beings of abnormal habits. Those who lapse in their pious practices and religious standards are reborn among these.

The Eleventh Uddeśa (-bāhira-uvasaṁhāra-dīvasāyara-narayagadi-devagadi-siddhakhetta-vaṇṇaṇo, in gāthās 365) describes the oceans and islands and lower and upper worlds. Detailed measurements of the Dhātakīkhaṇḍa, of its mountains and of the oceans round about are given. It is due to Puṇyas and Pāpas that the beings go to the upper and lower worlds, of which the regions, residents (with their periods of life, heights etc.) etc. are elaborately discussed.

The Twelfth Uddeśa (Joisaloya-vaṇṇaṇo, in gāthās 193) describes the Vimānas of the Jyotiṣa or astral regions, the number of moons for different regions, the periods of life etc. of astral gods.

The Thirteenth Uddeśa (Pramāṇa-pariccheda, in gāthās 176) enumerates and defines the various units of Time and Space and discusses their currency or use in different walks of life. Then follows an exposition of the means of valid knowledge with a view-to establish the validity of omniscience, incidentally shedding light on different forms of knowledge. The glories of an omniscient divinity who is free from a number of physical wants and mental weaknesses are fully elaborated.

This brief resumé of the chapters of JPS gives us a fair idea of the range of its contents. The Prākrit text is not well preserved : if a few more independent Mss. are available for collation, one can be more confident about its authenticity and come nearer the text' as it left the hand of the author. Then alone one can explain the inconsistency and irrelevancy seen in some contexts (for instance, the description of the Kalpas in Uddeśa XI). The present text shows also some traditions different from those found in the Sarvārthasiddhi, Harivaṁśa etc. This JPS shows close relation with a number of other texts dealing with kindred topics. Comparing this work with the Jambūdīva-paṇṇatti of the Ardhamāgadhī canon, one is struck with some common contents : the canonical text of course is quite encyclopaedic. It is already known that JPS has a number of resemblances with the Tiloyapaṇṇatti (See the Hindi Intro. of TP, pp. 168 ff.) from which it has taken a good

deal of subject matter often expressed in identical or nearly identical gāthās. Similarly it has some gāthās common with the Mūlācāra of Vaṭṭakera, the Bṛhat-kṣetrasamāsa of Jinabhadra, the Trilokasāra of Nemicandra and the Jyotiṣkaraṇḍaka (for details, see the Hindī Intro.) : some of these gāthās might have been a part of traditional memory of cosmographical knowledge current among Jaina monks.

The entire work is written in gāthā metre, and the Prākrit dialect used by the author can be called Jaina Śaurasenī according to the terminology of Pischel (Grammatik der Prākrit-Sprachen, Strassburg 1900, pp. 19-20). In this work there are heavy descriptions of some regions, and they remind us of the long compounds in the Ardhamāgadhī canon.

3. Padmanandi: The Author

Though no date of the composition is mentioned, the author Paümaṇaṁdi or Padmanandi has supplied us with some information about his spiritual genealogy in the concluding verses (XIII. 155 ff.). There was a great saint Vīranandi who was endowed with five Mahāvratas, pure in faith, possessed of knowledge and the merits of self-control and penance, free from attachment etc., heroic, full of fivefold conduct, kind to six classes of living beings, free from infatuation and above joy and sorrow (158-59). His great disciple was Balanandi, who was well-versed in the Sūtras and their interpretations, who was of deep wisdom, who abstained from scandalising others, who was free from attachment, who was endowed with faith, knowledge and conduct, and whose mind was free from anxieties round about (160-61). And his disciple was Paümaṇaṁdi or Padmanandi, endowed with many a virtue, free from Daṇḍas, pure with reference to three Śalyas, free from three Gāravas, who had reached the other end of Siddhānta, who was endowed with penances and other vows, who was devoted to faith, knowledge and conduct, and who was free from preliminary sins (162-63). Padmanandi tells us that he received instructions in the scriptures from Śrīvijaya who was a great teacher of Paramāgama and endowed with spiritual values; and it is through his benign favour that he composed in short the various sections in this work (144-45, 153, 164).

There was a famous and learned monk Māghanandi who was free from attachment and aversion, who had crossed the ocean of scriptural knowledge, who was endowed with deep wisdom, austerities and self-control. His eminent pupil was Sakalacandra who had washed his sins in the ocean of Siddhānta, who was meritorious, and who practised austerities and various rules of conduct. Sakalacandra's great and famous pupil was Śrīnandi who was endowed with spotless knowledge and conduct, and who was pure in his right faith. It is for the sake of this Śrīnandi that Padmanandi wrote this JPS

while he was staying in the town of Bārā (Bārā-ṇayara) in the country of Pāriyatta or Pāriyātra which was rich in lakes and wells, charming with residential buildings, populated by different people, full of wealth and corn, and further attractive on account of pious householders and hosts of monks. The king of that place was Śakti- or Śānti- (Pkt. Satti- or Saṁti-) bhūpāla who was pure with right faith, who practised various vows, was endowed with good conduct, was ever generous in his gifts, was partial to Jainism and heroic, was endowed with many a virtue and honoured by many kings, and who was expert in various arts.

4. Padmanandi's Age

The time when Padmanandi lived is a problem in the absence of any mention of the date in the work itself. Obviously we have to piece together bits of external evidence and try to put broad limits for his age.

a) The earliest Ms. of JPS, known to us, is that from Āmera, and it is written in Saṁvat 1518 (–57 = 1461 A. D.).

b) It is seen that JPS is indebted to a number of earlier works, some of which of authentic authorship and date, like the Mūlācāra, Tiloya-paṇṇatti, Bṛhat-Kṣetrasamāsa and Trilokasāra. The Trilokasāra of Nemicandra is to be assigned to the 10th century A. D.

c) The Sanskrit text, Lokavibhāga, specifically mentions JPS and quotes a gāthā from it; but the date of it is not definite (Tiloyapaṇṇatti, part ii, Hindī Intro. p. 73).

The evidence set forth above allows us to conclude that JPS of Padmanandi was composed after Trilokasāra, i. e., after the 10th century A. D., but before 1461 A. D., that being the age of the Āmera Ms. Some more evidence has to be sought to narrow down this period and put a specific date.

Pāriyātra stands for the territory above the Vindhya, and also for its western range. Pt. Premi has suggested (Jaina Sāhitya aura Itihāsa, pp. 256 ff.) that Bārā-nagara might be the same as Bārā in the Kota area of Rajasthān; and it was a seat of the Bhaṭṭārakas in the 11th and 12th century A. D. He further suggests that Śakti-bhūpāla might be the same as Śakti-kumāra of the Guhilot dynasty of Rajasthān, roughly at the close of the 10th contury A. D. Śakti-kumāra seems to have been partial to Jainism, though he was a Pāśupata by faith. So Padmanandi might have composed this JPS at the close of the 10th or at the beginning of the 11th century A. D. at the time of Śaktikumāra.

5. General Editorial

As soon as the edition of Tilloyapaṇṇatti was completed (Vol. II published in 1951), the editors had before then one more Prākrit work on the same subject to see the light of day, the Jambudīva-paṇṇatti of Paümaṇaṁdi.

One of them (Prof. H. L. Jain) had his doubts about the wisdom of taking in hand for edition and translation a very difficult text like it, obscure at many places, the available Mss. of which were very corrupt. But the younger of the two editors (Prof. A. N. Upadhye) would not be deterred by these apprehensions. After all, this text has to be rescued from oblivion. And if so, who else would do the job and when? So at last the two agreed to put their shoulders together as usual and make as best use of the available material as possible. Pt. Balchandra Shastri who already had the experience of translating the Tiloyapaṇṇatti was harnessed for the Hindī paraphrase.

The result of their joint labours is now before the world of scholars to see how far they have succeeded in their long drawn efforts.

The printing of the text was done at the Saraswati Press, Amraoti. But the completion of the volume had to be delayed for the important essay on the mathematics of the Tiloyapaṇṇatti (TP) by Prof. Laxmichandra Jain, the printing of which had to be done at Banaras, owing to the shifting of the Dhavalā Office through which the printing work was being looked ofter. For the printing of this essay many Greek letters and signs had to be specially cast and the figure blocks had to be made: this again required much labour and delay. Immediately after the printing of the mathematical essay and the appendices was over, but before this introduction could be sent to the press, Pt. Balchandra Shastri fell ill and had to leave Banaras for his home in Bina. Therefore the printing of the rest of this work had to be done at Bombay and Sholapur. Under these circumstances, if the readers find any odd variety of paper and printing in this volume they would kindly excuse us.

The editors and the translator had done their best to handle the mathematical material as it occurred in these texts, viz., TP & JPS. But they were conscious of their limitations in this subject, and they desired to have the material studied adequately by a competent scholar of Mathematics. Luckily, they found a willing intellect in the young Professor of Mathematics, Shri Laxmichandra Jain. He has mainly studied the mathematical portions of the Tiloyapaṇṇatti and given his exposition in his Hindi Essay of 104 pages. Besides explaining the numerous mathematical processes of the Jaina works, with proper signs, symbols and diagrams, he has drawn pointed attention to certain peculiarities of Jaina Mathematics which have a similarity with ancient Greek and Chinese writings (for example see pp. 10 & 13). It would be hazardous at this stage to draw inferences regarding giving and borrowing. The points, however, deserve further study and investigation. Prof. Laxmichandra is himself continuing his studies in this direction.

After this publication, there remain two more unpublished texts on the subject of Jaina Cosmology. They are the Lokavibhāga and Trailokyadīpikā in Sanskrit. Attempts are being made to include them also in this series.

The activities of the Sanskriti S. Saṃgha have received a very severe blow by the sad demise of its founder Brahmachari Jivarajbhai, who, during the whole period of its functioning so far, was the Chairman of the Trust and of the Managing Committee, and kept a very vigilant watch on the progress of its work. He never allowed any slackness creeping into any sphere of its working, and tried to resolve every difficulty that came in the way, with the whole force of his moral power and material resources. With his death, a brilliant career of pious pursuits and unreserved charity in the cause of Jaina Culture, has come to an end. May his soul rest in peace, and may his example inspire the present and future generations of wealthy men to use their wealth for the right cause, so long as they are the masters of it! We welcome Seth Gulabchand Hirachand as our succeeding Chairman. As an old member of the Trust Committee, he was already well acquainted with the activities of the Sangha and had full sympathy for the same. We have no doubt that with the best co-operation of his colleagues on the Trust Board, he will not spare any pains to maintain the traditions built up by his noble predecessor.

We are now passing through very difficult and yet hopeful times: difficult because religious values are on the decline, sources of private charities are drying up, young men have more attraction for science and technology than for humanities, and, above all, destructive weapons are hovering over our heads, threatening to turn all intellect and culture into vapour any moment; hopeful, because, for those very reasons, a thought process has started which wants to reverse the movement. Sober people in our country as well as the world over are turning their mind to old values for the safety of humanity, for the peace and prosperity of the world. In this process of thought, much strength can be derived from the message emanating from every page and every sentences of our ancient literature, the message of eternity of life and nature, and supremacy of spiritual values over material gains.

Let us hope that from this point of view not only this literature would continue to be studied, but more attention would be paid to bring to light what remains still hidden in the obscure corners of ancient Bhandars and temples. The great Indian Heritage has still to come in to its own.

In the end, we gratefully acknowledge our debt to all those institutions and persons who have, in one way or another, helped in the edition and publication of this volume. In particular, our best thanks are due to the members of the Board of Trustees and Managing Committee of the Sangha for their interest and zeal, the owners of the Mss. utilized here and the scholars who have co-operated with us in this task.

Sholapur
5-1-58

A. N. Upadhye
H. L. Jain

तिलोय-पण्णत्तिका गणित

परम्परा के आधार पर त्रिकालवर्ती विश्व-रचना का सार रूप से परिचय कराने वाला यह (तिलोय पण्णत्ति नामक) ग्रंथ मुख्यतः गणित ग्रंथ नहीं है। सूत्रबद्ध प्ररूपणा में केवल फलों का वर्णन तथा कहीं कहीं उपयोग में लाये गये सूत्रों का वर्णन रहता है। इस ग्रंथ में कहीं कहीं गणित की झलक होने से, गणना की शैली का कुछ वर्णन सम्भव हो सका है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह ग्रंथ महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। अन्य समकालीन अथवा कुछ पूर्वोत्तर ग्रंथों की तुलना में, इस ग्रंथ में कुछ ऐसे प्रकरण तथा निरूपण दिये गये हैं जिनके आधार पर तिलोय-पण्णत्ति की रचना से शताब्दियों पूर्व प्रचलित ज्ञान के विषय में आभास मिल जाता है। सबसे महत्वपूर्ण वस्तु असंख्यात विषयक संख्याओं की प्रतीकों के आधार पर प्ररूपणा है। इन प्रतीकों के आधार पर भाषा विज्ञान शास्त्री उनके उपयोग में लाये जाने वाले काल को निश्चित कर सकता है। यतिवृषभ के द्वारा कब इसकी रचना हुई, यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि इन क्रियात्मक प्रतीकों के उपयोग का रचना काल। दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु, विविध वेत्रासन आदि आकार के सांद्रों का घनफल, छेदविधि निरूपण तथा वृत्त सम्बन्धी माप हैं। ज्यामिति के क्षेत्र में भारतवर्ष बहुत पीछे रहा है। परन्तु इन ज्यामिति विधियों के आधार पर मिश्र, बेबीलोन, यूनान, चीन, आदि देशों की रेखागणित से सह सम्बन्ध नहीं तो तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। इसके पश्चात् संख्या प्ररूपणा, श्रेणि-प्ररूपणा और अल्पबहुत्व तथा ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों का मात्र प्रतिपादन गणितज्ञ के लिये कितने रोचक होंगे, यह निम्न लिखित विवेचन से स्पष्ट हो जावेगा।

संख्या सिद्धान्त

आधुनिक गणितज्ञ के लिये संख्या शब्द की स्पष्ट परिभाषा की आवश्यकता नहीं रहती। तिस पर भी, व्यापक रूप से सर्व प्रकारकी संख्याओं, वास्तविक और काल्पनिक, परिमेय और अपरिमेय, पूर्णांक और भिन्न आदि का निरूपण करने के लिये यह कहा जा सकता है कि संख्या केवल समान राशियों (ढेरों) की राशि है, और कुछ नहीं। गणित के इतिहास से प्रतीत होता है कि सबसे पहिले महावीराचार्य ने काल्पनिक संख्याओं को पहिचान कर उनको उपयोग में न लाने का कथन किया था। तथापि, जैसे $\frac{1}{2}$ आदमी का अर्थ आदमी की आधी ऊँचाई लेकर उसका उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार काल्पनिक संख्याओं का आधुनिक-युगीन विभिन्न विद्वानों में विस्तृत और महत्वपूर्ण उपयोग हो चुका है। पायथेगोरियन युग में भी अनन्त के विषय में वार्तायें चल पड़ीं थीं, परन्तु ज़ीनो के तर्कों ने बाद के गणितज्ञों को उस ओर आगे जाने में भय उत्पन्न कर दिया था। जब गेलिलियो के पश्चात् उन्नीसवीं सदी में जार्ज कैंटर ने अनन्त विषयक गणित की संरचना प्रारम्भ की, उस समय गणितज्ञों ने कहा था[१] कि यह विषय १०० वर्ष अति पूर्व लाया गया है। किन्तु भारतवर्ष में यह विषय ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व प्रतिपादित हो चुका था। पुष्पदंत और भूतबलि के ग्रंथ षट्खंडागम तथा उनके पश्चात् के प्रायः सभी ग्रंथों में असंख्यात और अनन्त शब्द बिलकुल साधारण शैली में उपयोग में लाये जाते हैं, मानों ये हमसे अपरिचित ही नहीं हैं। तिलोय-पण्णत्ति में, असंख्यात और अनन्त के वास्तविक दर्शन को क्रमशः अवधिज्ञान तथा केवलज्ञानी का विषय बनाया है। वीरसेन ने अनन्त संज्ञा उस राशि को दी है, जो व्यय के होत रहने पर भी अनन्त काल में समाप्त न हो। संख्यात अथवा असंख्यात प्रमाण राशि, अनन्त

---

१ Fraenkel, p. 2.

में से व्यय कर दी जाने पर भी, अनन्त का प्रमाण अनन्त रहता है, अथवा उसकी अनन्त संज्ञा नष्ट नहीं हो सकती है। यद्यपि संख्या के २१ भेदों का उल्लेख तथा उन्हें उत्पन्न करने का पूर्ण विवरण तिलोय-पण्णत्ति में है, तथापि उन भेदों का वास्तविक अर्थ समझना वांछनीय है। संख्यात से उत्कृष्ट संख्यात की प्राप्ति होने पर, केवल १ जोड़ने पर जघन्य परीत असंख्यात प्राप्त हो जावे, पर उस संख्या में यह असंख्यात संज्ञा उपचार रूप में दी गई है। वास्तविक असंख्यात वहाँ से प्रारम्भ होता है, जहाँ उत्कृष्ट असंख्यात की प्राप्ति के लिये, वास्तविक असंख्यात संज्ञाधारी धर्म द्रव्यादि राशियों को क्रमबद्ध गणना से प्राप्त संख्यात में जोड़ा जाता है। इसी प्रकार, उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात में १ जोड़ने पर जघन्य परीत अनन्त की जो उत्पत्ति है वह अनन्त संज्ञा की धारी इसलिये है कि वह संख्या अब अवधिज्ञानी का विषय नहीं रही। इसलिये औपचारिक रूप से अनन्त शब्द द्वारा बोधित है, वास्तविक अनन्त नहीं है। अनन्त की प्राप्ति के लिये इस संख्या से क्रमबद्ध गणना के पश्चात् जो असंख्यात से ऊपर प्रमाण राशि उत्पन्न होती है, उसमें उपधारित (Postulated) अनन्त राशियां जब मिलाई जाती हैं तभी वह वास्तविक अनन्त संज्ञा की अधिकारिणी होती है। इनके आधार पर द्रव्य, क्षेत्र और काल के आधार पर कहे गये प्रमाण तथा उनका अल्पबहुत्व (Calculus of relations) मौलिक है, मनोरंजक भी है। यहाँ अल्पबहुत्व (Comparibility) के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य संक्षेप में बतलाना आवश्यक है। वह यह कि किसी अनन्त से अपेक्षाकृत बड़ा अनन्त भी होता है। उदाहरणतः यह बात मन में साधारणतः नहीं बैठती है कि क्या अनन्त काल के एक एक करके बीतनेवाले समयों में संसारी जीव राशि कभी समाप्त नहीं होती। इस सत्य का दर्शन करने के लिये और समाधान के लिये हम पाठकों को कैंटर द्वारा प्रस्तुत दशमलव तथा एक एक संवाद पर आधारित संततता (Continuum) के गणात्मक और प्राकृत संख्याओं की राशि (१, २, ३,······) के गणात्मक का अल्पबहुत्व पठन करने के लिये आग्रह करते हैं[1]। (जिनागम प्रणीत अल्पबहुत्व एवं आधुनिक राशि सिद्धान्त के अल्पबहुत्व के तुलनात्मक अध्ययन के लिये सन्मति सन्देश, वर्ष १, अंक ४ आदि देखिए)।

संख्याओं के विभाजन का यह विषय लौकिक गणित का नहीं है, वरन् अलौकिक अथवा लोकोत्तर गणित का है, जैसा श्री अकलंक देव के तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लेख है। यूनान में भी, पायथेगोरियन युग में मथीमतिकी (μαθηματικη) शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसके विभिन्न अर्थ लगाये जाते हैं, तथापि यह निश्चित है कि लोगिस्तिकी (λογιστικη)—गणना कला तथा अर्थमितिकी (αριθμητικη)—संख्या सिद्धान्त, ग्रीक गणित में मूलभूत था[2]। प्लेटो ने कहा है—"But the art of calculation (λογιστικη) is only preparatory to the true science; those who are to govern the city are to get a grasp of λογιστικη, not in the popular sense with a view to use in trade, but only for the purpose of knowledge, until they are able to contemplate the nature of number in itself by thought alone.[3]"

ज्यामिति अवधारणायें

ति. प. में प्रथम महाधिकार की गाथा ९१ से लेकर १३५ वीं गाथा तक, ज्यामिति अवधारणाओं को इस शैली से रखा गया है कि ये ४४ वाक्य अथवा सूत्र जैन सिद्धान्त शास्त्री के लिये इतने सुपरिचित प्रतीत होंगे कि उनका महत्व दृष्टिगोचर नहीं होगा। जैन सिद्धान्तों को न जाननेवाले के लिये ये इतने अपरिचित सिद्ध होंगे कि उन्हें भी ये महत्व-विहीन प्रतीत होंगे। इनसे परिचित कराने में तो

१ Fraenkel, p. 64. २ Heath, vol. i, pp. 12 to 14. ३ Heath, vol. i. p. 13

एक ग्रंथ बनाना पड़ेगा, तथापि, यहां बहुत ही संक्षेप में सार रूप वर्णन ही झलक मात्र देने के लिये पर्याप्त होगा। अभेद्य पुद्गल परमाणु जितना आकाश व्याप्त करता है, उतने आकाशप्रमाण को प्रदेश कहा गया है। अमूर्त आकाश में इसके पश्चात् भेद की कल्पना का त्याग होना प्रतीत होता है, तथा मूर्त द्रव्य में ही भेद अथवा छेद की कल्पना के आधार पर मुख्य रूप से आकाश में प्रदेशों की कल्पना की गई है, जो अनुश्रेणिबद्ध है। आकाश जहां कथंचित् अखंड (Continuous) है, वहां कथंचित् प्रदेशवान भी है। इस प्रदेश (खंड, Point) के आधार पर, संख्याओं का निरूपण करने के लिये उपमा-मान भी स्थापित किये गये हैं। पल्योपम और सागरोपम उपमा प्रमाण समय की परिभाषा के आधार पर स्थापित किये गये हैं। चौथे महाधिकार में गाथा २८४, २८५ में समय का स्पष्टीकरण किया गया है। सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, जगश्रेणी, रज्जु आदि केवल एक महत्ता की सूचक नहीं हैं, वरन् जहां संख्या मान का प्ररूपण होता है, वहां इनका अर्थ, इन लम्बाइयों में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की गणात्मक संख्या है। एक स्कंध में अनन्त परमाणुओं के होने का अर्थ, संख्या प्ररूपणा के आधार पर, एक स्कंध (उवसन्नासन्न) की लम्बाई में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की संख्या अनन्त नहीं है, वरन् कुछ और ही है। एक आवलिमें समयोंकी संख्या जघन्य युक्तासंख्यात होती है। इस प्रकार कथन कर, संख्या मान के लिये उपमा से काल प्रमाण और आयाम प्रमाण में सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

$$(\text{अं})^{\log_2(\text{अ})} = (\text{प})$$

जहां अं, सूच्यंगुलके प्रदेशोंकी गणात्मक संख्या है, प पल्योपम काल में स्थित समयोंकी संख्या है तथा अ, अद्धापल्य काल राशि (कुलक) में स्थित समयों की संख्या है। ऐसे प्रदेश की अवधारणा के आधार पर धर्मादि द्रव्यों में संख्या स्थापित कर, तथा शक्ति के अविभागी अंश के आधार पर केवलज्ञान आदि अनन्त राशियों की स्थापना कर, उनके सूक्ष्म विवेचनों को संख्या मान अथवा द्रव्यप्रमाण का विषय बनाया गया है।

आधुनिक गणितज्ञ बिन्दुकी परिभाषाकी भी उपेक्षा करता है और बिन्दु कहलाई जानेवाली वस्तुओं की राशि से समारम्भ करता है। ऐसी अपरिभाषित वस्तुएँ एक उपराशि या उपकुलक (Subset) की रचना करती हैं जो सरल रेखा कहलाती है, इत्यादि। ऐसे अपरिभाष्य बिन्दु को लेकर, बोलज़ानोंके साध्य के आधार पर, जार्ज केन्टर ने अनन्त विषयक गणित की संरचना की, जिसे अमूर्त राशि सिद्धान्त (Abstract set theory) कहा जाता है। जार्ज केन्टर ने, परिमित और पारपरिमित (Trans finite) राशियों पर कार्य करने में असंख्यात की उपेक्षा की है। परन्तु, पारपरिमित गणात्मक संख्याओं के विभिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। इस प्रकार, पारपरिमित गणात्मकों और अखण्ड फैलाव (Continuum) के सिद्धान्तों से प्राप्त गणितीय दक्षता, अमूर्त राशि सिद्धान्त को जन्म दे चुकी है, परन्तु उसकी बृहद् संरचना करते समय, गणितज्ञों के सम्मुख विभिन्न मिथ्याभास (Paradox) उपस्थित हुए हैं, जिनका सर्वमान्य समाधान नहीं हो सका है। समाधान के लिये, इस शताब्दी में गणितीय दर्शन में विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर परि गणित (Meta-mathematics) की संरचना, गणितीय तर्क के रूप में हो चुकी है। यह केवल प्रतीक रूप में है। ज़ीनों के तर्क भी सर्वमान्य समाधान को प्राप्त नहीं हो सके हैं, जहाँ परिमित रेखा में अनन्त विभाज्यता का खण्डन किया गया है। और मेरी समझ में अन्तिम दो तर्कों में समय की अवधारणा को अन्यथा-युक्ति खंडन के आधार पर पुष्ट किया गया है[१]। पायथेगोरियन युग में, बिन्दु की परिभाषा, "स्थिति वाली इकाई" थी। पायथेगोरियन सिद्धान्त के अनुसार, फिलोलस (Philolaus) ने कहा है "All things which can be known have

१ सन्मतिसन्देश, वर्ष १, अंक २, पृ० ७.

number; for it is not possible that without number anything can either be conceived or known.[1]"

एरिस्टाटिल ने वस्तुओं के लक्षणों और संख्याओं के बीच दार्ष्टान्त[2] आधारित कर, पायथेगोरियन सिद्धान्त को निम्न लिखित शब्दों में व्यक्त किया था—

"They thougt they found in numbers, more than in fire, earth or water, many resemblances to things which are and become; thus such and such an attribute of numbers is justice, another is soul and mind, another is opportunity, and so on; and again they saw in number the attributes & ratios of the musical scales. Since, then, all things seemed in their whole nature to be the first things in the whole of nature, they supposed the elements of numbers to be the elements of all things, and the whole heaven to be a musical scale and a number.[3]"

जहां यूक्लिड ने बिन्दु को भाग रहित, विमाओं रहित कहकर छोड़ दिया है, वहां पायथेगोरियन परिभाषा, "monad having position" बहुत कुछ वैज्ञानिक प्रतीत होती है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित "चौड़ाई रहित श्रेणि breadthless length" की परिभाषा प्लेटो ने स्वयं दी है, "That of which the middle covers the end" (i. e. to an eye placed at either end and looking along the straight line) ;......"[4]

रूप (Figure) की परिभाषा मनोरंजक है, जिसे सुकरात (Socrates) ने इस प्रकार कहा है, "Let us regard as figure that which alone of existing things is associated with colour.' यहां रंग (Colour) के विषय में विवाद उठने पर, सुकरातका उत्तर यह है, "It will be admitted that in geometry there are such things as what we call a surface or a solid, & so on; from these examples we may learn what we mean by figure; figure is that in which a solid ends, or figure is the limit (or extremity, περασ) of a solid."[5]

περασ शब्द का उच्चारण परस होता है। यहां चौड़ाई रहित श्रेणि के समान ही एकानन्तकी परिभाषा वीरसेन ने दी है। रूपी अथवा मूर्तिक पदार्थों (पुद्गल) के विषय में अवधारणाएं पठनीय हैं। इस प्रकार, यूनानी ज्यामिति में परिभाषायें, स्वसिद्ध, उपधारणायें, आधारभूत थीं जिनके विषय में यही कहा जाता है कि उन्हें पायथेगोरियन वर्ग ने खोजा था। जिस प्रकार जैनाचार्यों ने स्वलिखित ग्रंथों में आचार्य परम्परागत ज्ञान का ही आधार सर्वत्र लिया है[6], उसी प्रकार पायथेगोरियन वर्ग ही आविष्कारकों का नाम हुआ करता था[7]।

---

१ Heath, vol. 1, p. 67.

२ इस सम्बन्ध में धवलाकार वीरसेन द्वारा उद्धृत अंक एवं रैखिकीय का निरूपण देखने योग्य है। षट्खंडागम (पु. १०) ४, २, ४, १७३; पृ. ४२१–४३०, (१९५४)। तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, जीवराशि की गणना भी त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदि ग्रंथों में विस्तृत रूप से वर्णित है।

३ Heath, vol. 1, Sc. 66.

४ Heath, vol. I. Sc. 293.

५ Heath, vol. I, Sc. 293.

६ ति. प. १, ८४.

७ Coolidge2, p. 26.

पायथेगोरियन वर्ग के विषय में प्लेटो के कुछ कथन अति मनोरंजक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—

"They have in view practicality, and are always speaking in a narrow and ridiculous manner of squaring and extending and applying and the like.............. Then, my noble friend, geometry will draw the soul towards truth and create the spirit of philosophy, and raise up that which is now, unhappily, allowed to fall down............ And do you not know also that although they make use of visible forms and reason on them they are thinking not of those but of the ideal which they resemble, not of the figures which they draw, but of the absolute square, the absolute diameter and so on.......... And when I speak of the other division of the intelligible you will understand me to speak of that other sort of knowledge which reason herself attains by the power of dialectic, using the hypotheses, not as first principles, but as base hypotheses, in order that she may soar beyond them to the first principle of the whole, and clinging to this and then to that which depends on this by successive steps. She may descend again without the aid of any sensible object from ideas through ideas, and in ideas she ends.[१]"

उपर्युक्त वर्णन, ऐसा प्रतीत होता है, मानो आत्मा, आयत चतुरस्राकार लोक (जिसका तल वर्गाकार होता है), जम्बूद्वीप (जो वृत्ताकार होता है) के विष्कम्भ, आदि के विषय में किया जा रहा हो। वास्तव में, यूनान का पायथेगोरियन वर्ग अथवा बाद के दर्शनशास्त्री, गणित में क्या व्यावहारिक गणना के लिये रुचि रखते थे? नहीं, वे वास्तविक सत्य (absolute truth) के सम्बन्ध में ही रुचि रख कर, गणना करते थे[२]। यही भारतवर्ष में वीरसेन तथा यतिवृषभ के परिकर्म ग्रंथादि विषयक उल्लेख से प्रतीत होता है।

यदि जैनागम प्रणीत पुद्गल परमाणु के आधार पर कथंचित् प्रदेश संरचित आकाश की अवधारणाओं को लेकर आधुनिक ज्यामिति क्षेत्र में नये सुझाव दिये जावें तो प्रश्न उठता है कि अविभागी पुद्गल परमाणु किसे माना जावे। अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं का एक क्षेत्रावगाही होना, स्पर्श (contact) के सिद्धान्त के लिये उपधारित हो, वह तो ठीक है, परन्तु क्या हम अणुविभंजन विधियों से उस अन्तिम परमाणु को प्राप्त करने की चरम सीमा तक पहुँच सकते हैं, अथवा नहीं? डेन्टन का विचार है, "In fact, the ultimate particle of matter presents great difficulties; it need not be the electron—probably is not—but the atomic notion of the constitution of matter does surely demand an ultimate particle, and such reasoning as has been suggested shows that to this ultimate particle no properties of any sort—not even magnitude-can be assigned. The alternative of pushing the responsibility on to the last member of an unending series of particles can hardly be said to satisfy the mind which demands a clear physical conception of nature.[३]"

१ Coolidge, pp. 26, 27. २ Coolidge, p. 24. ३ Denton, p. 42.

क्या यह पुद्गल परमाणु, वह है जिसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने उपधारित किया है, "Besides possessing extension in space and time, matter possesses inertia. We shall show in due course *that inertia, like extension; is expressible in terms of the intervol relation*; but that is a development belonging to a later stage of our theory. Meanwhile we give an elementary treatment based on the empirical laws of conservation of momentum and energy rather than any deep-seated theory of the nature of inertia.

For the discussion of space and time we have made use of certain ideal apparatus which can only be imperfectly realized in practice—rigid scales and perfect cyclic mechanisms or clocks, which always remain similar configurations from the absolute point of view. Similarly for the discussion of inertia we require some ideal material object, say a perfectly elastic billiard ball, whose condition as regards inertial properties remains constant from an absolute point of view. The difficulty that actual billiard balls are not perfectly elastic must be surmounted in the same way as the difficulty that actual scales are not rigid. To the ideal billiard ball we can affix a constant number, called the invariant mass, (proper mass) which will denote its absolute inertial properties; and this number is supposed to remain unaltered throughout the vicissitudes of its history, or, if temporarily disturbed during a collision, is restored at the times when we have to examine the state of the body.[१]" यहां, अचल मात्रा (invariant mass—m) तथा सापेक्ष मात्रा (relative mass—M) के विषय में, किये गये प्रयोगों के आधार पर मात्रा को शून्य से उत्पन्न करना तथा मात्रा को शून्य में बदल देना (विनष्ट कर देना) जैसी कल्पनाएं पाठक न बना लें, उसके लिये हम अगला अवतरण पढ़ने के लिये बाध्य करते हैं—"It will thus be seen that although in the special problems considered the quantity m is usually supposed to be permanent, its conservation belongs to an altogether different order of ideas from the universal conservation of M.[२]"

पुनः, क्या बिन्दु विद्युन्मय कण (Point Electron) को पुद्गल परमाणु कहा जाय, जिसके विषय में यह कहा गया है, "Accordingly, I am of opinion that the point-electron is no more than a mathematical curiosity, and that the solution (78. 6) should be limited to values of r greater than a.[३]" इसके विषय में अभी हम कहने में असमर्थ हैं। निश्चित कार्य हो जाने पर हम निर्धारण करेंगे।

इस प्रकार, आकाश में प्रदेशों की श्रेणियाँ मुख्य रूप से मानकर, विग्रहगति (कर्म निमित्तक योग)

१ Eddington, The mathematical Theory of Relativity, pp. 29, 30.

२ Eddington, p. 33   ३ Eddington p. 33.

में, जीव और पुद्‌गलों की गति मानी गई है। डिस्कार्टीज़ और फरमेट के समान, यहाँ अकलंक ने तत्त्वार्थवार्तिक में निरूपण किया है कि चार समय (the now of Zeno) से पहिले ही मोड़े वाली गति होती है, क्योंकि संसार में ऐसा कोई स्थान (कोनेवाला, टेढ़ा मेढ़ा) नहीं है जिसमें तीन मोड़े से अधिक मोड़ा लेना पड़े। जैसे षष्टिक चावल साठ दिन में नियम से पक जाते हैं, उसी तरह विग्रहगति भी तीन समय में समाप्त हो जाती है[१]। इस आधार पर यदि बिन्दु की परिभाषा दी जावे और घटना को x, y, z और t यामों से निरूपित किया जावे तो भी, जैनागम प्रणीत वचनों का पूरा अर्थ नहीं निकल सकता। यहां तो अनन्तानन्त अलोकाकाश के बहुमध्यभाग में स्थित, जीवादि पांच द्रव्यों से व्याप्त और जगश्रेणी के घन प्रमाण लोकाकाश बतलाया गया है। ऐसे असंख्यात प्रमाण प्रदेशोंवाले काल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य, जीव और पुद्‌गलों के स्वभाव से घटनायें परिणमन करने में स्वभावानुसार परिणत होते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि क्या पायथेगोरियन युग के पांच नियमित सांद्र (the five regular solids) ये ही हैं जिनके विषय में कहा गया है, "The same parenthetical sentence in Proclus.........also states that he (Pythagoras) discovered the 'putting together (σνστασισ) of the cosmic figures' (the five regular solids.)"[२]

इस सम्बन्ध में हम ईशस (Aetius) के शब्दों को उद्धृत कर, हीथ का विचार प्रस्तुत करना उपयुक्त समझते हैं।

'*Pythagoras* seeing that there are five solid figures, which are also called the mathemetical figures, says that the earth arose from the cube, fire from the pyramid, air from the octahedron, water from the icosahedron and the sphere of the universe from the dodecahedron'.

It may, I think, be conceded that Pythagoras or the early Pythagoreans would hardly be able to 'construct' the five regular solids in the sense of a complete theoretical construction such as we find in Eucl. XIII;.........But, there is no reason why the Pythagoreans should not have 'put together' the five figures in the manner in which Plato puts them together in the *Timaeus*, namely, by bringing a certain number of angles of equilateral triangles, squares or pentagons severally together at one point so as to make a solid angle, and then completing all the solid angles in that way."[३]

पुनः, "According to Heron, however, Archemedes, who discovered thirteen semi-regular solids inscribable in a sphere, said that, 'Plato also knew one of them, the figure with fourteen faces, of which there are two sorts, one made up of eight triangles and six squares, of earth and air, and already known to some of the ancients, the other again made up of eight squares and six triangles, which seems to be more difficult."[४]

१ तत्त्वा. वा. २, २८, १.   २ Heath, vol. 1. p. 158.
३ Heath, vol. 1., p. 159   ४ Heath vol. 1., p. 295.

इनके विषय में हम पाठकों का ध्यान प्रथम महाधिकार की १६८ वीं गाथा से लेकर, महाधिकार के अन्त तक गाथाओं के रैखिकीय निरूपण की ओर आकर्षित करते हैं। कहा नहीं जा सकता, कि ये रैखिकीय विधियां कहां तक पांच सांद्रों सम्बन्धी उलझे हुए प्रश्न को सुलझा सकेंगी। समाधान अनुसंधान पर आश्रित है।

अंक गणना

इस ग्रन्थ से भी पूर्व के ग्रन्थों, अनुयोगद्वार सूत्र[१] (१०० ई०पू०),तथा षट्खण्डागम[२] में मनुष्य पर्याप्तों में मिथ्यादृष्टि मनुष्य द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा से कोड़ाकोड़ाकोड़ि से ऊपर और कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ि से नीचे, अथवा छठवें और सातवें वर्गों के बीच की संख्या बतलाई गई है। यहां शून्य का स्थानार्हा पद्धति में प्रयोग किया गया है। भारतीय गणित में ऐसा निरूपण पूर्व के ग्रन्थों में अभी अन्यत्र कहीं नहीं दिखा है। बख्शाली हस्तलिपि में O प्रतीक का प्रयोग शून्य (Emptiness) अथवा अग्राह्यता (Omission) के लिये हुआ प्रतीत होता है। वीरसेन के पूर्व के सूत्रों में कई शैलियों से संख्या का कथन किया गया है जिसके लिये सूत्र ५२, ७१, ७२ आदि देखने योग्य हैं[3]। तिलोय-पण्णत्ति में प्रायः सभी स्थानों में स्थानार्हा पद्धति का उपयोग है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि इसकी संरचना के समय तक दसार्हा संकेतना पूरी तरह उपयोग में आ चुकी थी। गाथा ३०८ (चतुर्थ महाधिकार) में अचलात्म नामक काल की संकेतना दी गई है जो $(८४)^{३१} \times (१०)^{९०}$ प्रमाण वर्षों के तुल्य होता है[४]। आगे निर्देशित किया है कि यह संख्यात काल वर्षों की गणना, उत्कृष्ट संख्यातकी प्राप्ति तक ले जाना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि, आर्यभट्ट से भी पूर्व वर्गमूल या घनमूल निकालने की रीतियां भारत वर्ष में प्रचलित थीं, परन्तु तिलोय-पण्णत्ति तथा षट्खंडागम में आये हुए उल्लेखों से प्रतीत होता है कि यहां ऐसे कथन भी थे, "जगश्रेणी को जगश्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है वह वंशा पृथ्वी के नारकियों का प्रमाण होता है[५]"।

यद्यपि यूनानमें दशमलव पद्धति का प्रचलन ऐतिहासिक काल में सबसे पूर्व हुआ प्रतीत होता है, तथापि मिश्र में उनसे भी पूर्व दसार्हा पद्धति के आधार पर १, १०, १००, १००० आदि के लिये चिन्ह थे। इसी प्रकार बेबीलोन में भी दशमलव और षाष्ठिक पद्धतियों पर संख्याओं के निरूपण के लिये चिन्ह थे। आर्कीमिडीज़ पद्धति उल्लेखनीय है। $(१०)^{८}$ पर आधारित यह पद्धति काल के विषय में बड़ी संख्याओं की प्ररूपणा के लिये थी जिसके सम्बन्धमें कहा गया है, "This system was, however, a tour-de-force, and has nothing to do with the ordinary Greek numerical notation.[६]"

इन सबकी तुलना में उत्कृष्ट संख्यात, गणना द्वारा उत्पन्न करने की रीति, जो तिलोय-पण्णत्ति में वर्णित है, वह दूसरे ग्रंथों के आधार पर पायथेगोरियन युग की प्रतीत होती है। एक और नवीन रीति का वर्णन अत्यंत रोचक है। वह है वर्गण-संवर्गण विधि। इस विधि को शलाका निष्ठापन विधि भी

---

१ अनु. सूत्र १४२.

२ द्रव्यप्रमाणानुगम (पु. ३) सूत्र ४५.

३ द्रव्यप्रमाणानुगम

४ यह संकेतना वर्णन अनुयोगद्वारसूत्र में भी है, और उसका प्रचलन उससे भी पूर्व काल में हुआ होगा।

५ तिलोयपण्णत्ति २, १९६.

६ Heath, vol 1. p. 41.

कहते हैं। यदि २ को तीसरी बार वर्गित संवर्गित किया जावे तो $\overline{2}|^{3}$ अथवा $(२५६)^{२५६}$ राशि प्राप्त होती है। सोचिये, कि यदि हम $\overline{Aaj}|^{(Aaj)}$ का मान निकालने जावेंगे तो क्या प्राप्त होगा[१] ?

पुनः अर्द्धच्छेदों तथा वर्गशलाकाओं के द्वारा, इन संख्याप्रमाणों द्वारा प्ररूपित राशियों के अल्पबहुत्व का विश्लेषण किया जाता था। अर्द्धच्छेद आधुनिक $\log_2$ है तथा वर्गशलाका आधुनिक $\log_2 \log_2$ है। वीरसेन ने तो द्रव्यप्रमाणानुगम में इस विधि का उपयोग इस तरह किया है कि बीजगणित के लिये अभूतपूर्व सामग्री का नवीं शताब्दि में उपस्थित होना एक आश्चर्यपूर्ण बात प्रतीत होती है। जहां इस गणित के नियमों से नवीं सदी के जैनाचार्य पूर्ण दक्षता को प्राप्त हो चुके थे वहां यूरोप में जान नेपियर और बर्जी द्वारा इसके पुनः आविष्कार की पुनरावृत्ति सत्रहवीं सदी में होती दिखाई देती है। ईसा से १०० वर्ष पूर्व ही अनुयोगद्वारसूत्र में $(२)^{९६}$ को वह संख्या प्ररूपित किया है जो २ के द्वारा ९६ बार छेदी जा सके[२]। तिलोय-पण्णत्ती के प्रथम अधिकार की १३१, १३२ वीं गाथाओं से ही अर्द्धच्छेद के नियमों का परिचय हो जाता है। आगे सातवें महाधिकार में गाथा ६१३ के पश्चात् सपरिवार चन्द्रों के बिम्बों का प्रमाण निकालने में, वीरसेन ने (?) अथवा यतिवृषभ ने (?) जो प्ररूपण दिया है वह जिस प्रकार हम सरल विधि से आधुनिकता लाकर प्रदर्शित करने में प्रयत्न कर सके हैं वह अति मनोरंजक और ऐतिहासिक महत्व की वस्तु है[3]।

आगे श्रेढियों में समान्तर और गुणोत्तर श्रेढियों के योग, विभिन्न रूप से श्रेढियों की संरचना कर, उनके योग निकालकर, तथा विभिन्न रूप में अल्पबहुत्व का निरूपण, जैनाचार्यों की मौलिक वस्तु प्रतीत होती है। दूसरे महाधिकार में गाथा २७ से लेकर गाथा १०४ तक, नारक बिलों के विषय में उनके संकलन का विवरण महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार पांचवें महाधिकार में पृष्ठ ५६३ से लेकर पृष्ठ ५९६ तक, द्वीप-समुद्रों के क्षेत्रफलों का अल्पबहुत्व उनकी दक्षता का प्रमाण प्रतीक है। श्रेढियों को इतने विस्तृत रूप में वर्णन करने का श्रेय जैनाचार्यों को है। यदि तिलोय-पण्णत्ती का यह विवरण पूर्वाचार्यों से लिया गया है तो आर्यभट्ट से पूर्व श्रेढि संकलन सूत्रों का होना सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में यूनानी इतने आगे नहीं आये तथापि ऐतिहासिक अभिलेखों के आधार पर पायथेगोरियन वर्ग काल में भी प्राकृत संख्याओं के संकलन का प्रमाण मिलता है[४]।

निकोमेकस (Nicomachus) ने प्रायः १०० ईस्वी पश्चात् श्रेढियों के संकलन के विषय में, जो कुछ प्रदर्शित किया उसे देखकर आश्चर्य होता है कि जहाँ रोमन खेत गणकों (agrimensores) को प्राकृत संख्याओं के घनों का योग निकालने के लिये सूत्र ज्ञात था, वहाँ उसने सूत्र प्ररूपणा नहीं की है। इस आविष्कार के सम्बन्ध में कहा गया है—"It may have been discovered by the same mathematician who found out the proposition actually stated by Nicomachus, which probably belongs to a much earlier time[५]." यथोचित सामग्री के अभाव में इस विषय में और कुछ कहना उपयुक्त नहीं है।

---

१ सरल स्पष्टीकरण के लिये, $\overline{ब}|^{अ}$ किसी संख्या ब की अ बार वर्गित संवर्गित राशि का प्रतीक है।

२ B. B. Datta & A. N. singh P. 12 Part I. पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे जान नेपियर के लागरिथ्म के आधारभूत ग्रंथ 'The Constructio' से जैनाचार्यों की श्रेढियों पर आधारित अर्द्धच्छेद, वर्गशलाका आदि का समन्वय तथा सहसम्बन्ध अवलोकन करने का प्रयत्न करें।

३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी इसकी झलक का उल्लेख मात्र है (११, ९६-१०३)।

४ Heath vol. 1. P. 76, vol. ii. PP. 515 & 516. ५ Heath vol. 1. P. 109.

हो सकता है कि नवीं सदी में हुए महावीराचार्य और प्रायः ३०० वर्ष पूर्व हुए यतिवृषभ की गणनाविधियों में अन्तर रहा हो, तथापि यतिवृषभ कालीन जैनाचार्य का गणित ग्रंथ न होने से इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

अन्त में, यह भी उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों की भांति यूनान में संख्याओं को २^n के रूप में प्ररूपण करने का प्रचलन था। "The Neo-Pythagoreans improved the classification thus. With them the 'even-times even' number is that which has its halves even, and so on till unity is reached'; in short, it is a number of the form 2^n"[१]

बीजगणित

इस ग्रंथ में उपयोग में आये हुए प्रतीकों का उपयोग केवल संख्या निरूपण के लिये ही नहीं वरन् कुछ क्रियाओं के लिये भी हुआ है। वीरसेन द्वारा अर्द्धच्छेदों और वर्गशलाकाओं के प्रमाण को शब्दों में व्यक्त करना सरल सा प्रतीत होता है, तथापि यह कथन करना कि $\log_२ \log_२ \overline{Iij}|^3$ राशि $\overline{Iij}|^१$ से १ वर्ग स्थान भी ऊपर नहीं पहुँची है, वास्तव में यह निरूपण है[२] —

$$\log_२ \log_२ \overline{Iij}|^3 = [Iij]^{Iij+१} \log Iij + (Iij+१) \log Iij + \log \log Iij$$

स्पष्ट है, कि ऐसे निरूपणों से भरे हुए इस ग्रंथ के रचने में वीरसेन के पास क्रियात्मक प्रतीकत्व अवश्य रहा होगा। यतिवृषभ के द्वारा जगश्रेणी का प्रतीक एक आड़ी रेखा होना, तथा उसके घन का $\equiv$ रूप में प्ररुपित होना, नानाघाट शिलालेख काल से लेकर कुशन काल अथवा उससे भी बाद के क्षत्रप और आन्ध्र शिलालेख कालीन प्रतीत होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है, कि घटाने के लिये ऋण शब्द (रिण) का उपयोग, पृष्ठ ६०२ से लेकर ६१७ तक हुआ है। बख्शाली हस्तलिपि में रिण के + उपयोग में लाया गया है। + प्रतीक की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मतों को हम प्रस्तुत करते हैं,

"The origin of the Bakhshali minus sign (+) has been the subject of much conjecture. Thibaut suggested its possible connection with the supposed Diophantine negative sign ⫛ (reversed ψ, tachygraphic abbreviation for λειψισ meaning wanting). Kaye believes it. The Greek sign for minus, however, is not ⫛ but ↑. It is even doutful if Diophantus did actually use it; or whether it is as old as the Bakhshali cross.[4] Hoernle[5] presumed the Bakhshali minus sign to be the abbreviation ka of the Sanskrit word kanita, or nu (or nu) of nyuna, both of which mean diminished and both of which abbreviations in the Brahmi characters would be denoted by a cross. Hoernle was right, thinks Datta,[6] so far as he sought for the origin of + in a tachygraphic abbreviation of some Sanskrit word. But, as neither the word kanita or nyuna is found to have been used in the Bakhshali work in connection with the subtractive operation, Datta finally, rejects the theory of Hoernle and believes it to be the abbre-

१ Heath vol. I, P. 72.　　२ षट्खंडागम—द्रव्यप्रमाणानुगम पृष्ठ २४.

viation ksa, from ksaya (decrease) which occurs several times, indeed, more than any other word indicative of subtraction. The sign for ksa, whether in the Brahmi characters or in Bakhshali characters, differs from the simple cross (+) only in having a little flourish at the lower end of the vertical line. The flourish seems to have been dropped subsequently for convenient simplification[1]."

तिलोय-पण्णत्ती में उपयोग में आये हुए प्राकृत शब्द 'रिण' के आधार पर हम भी अपना सुझाव रख सकते हैं। + चिह्न, रिण शब्द के रि अक्षर से ब्राह्मी लिपि के अनुसार (ी) लिया गया है। इस रिण शब्दको केवल परम्परागत आचार्यों द्वारा प्राप्त कार्य मार्गणाओं में स्थित जीवों की संख्या प्ररूपणा करने तथा उनमें अल्पबहुत्व दिखलाने के लिये प्रतीक निरूपण रूप में लिया गया है। हम यह कह सकते हैं कि रिण शब्द का उपयोग यतिवृषभ कालीन नहीं वरन् उनके पूर्व काल का है। इसके लिये प्रमाण हम और आगे चलकर बतलावेंगे। रिण शब्द का प्रयोग उस काल का निरूपण करता है जब कि + उपयोग में लाया गया होगा। और इस प्रकार रिण शब्द के उपयोग से, उपयोग में आये हुए अन्य प्रतीकों का काल निर्धारण हो सकता है। स्पष्ट है कि रिण शब्द से + धीरे धीरे किस प्रकार उपयोग में आने लगा होगा और यदि ऐसा हुआ है तो प्रतीकत्व का उपयोग बख्शाली काल से बहुत पूर्व का होना चाहिये। यह निर्णय करना भाषाविज्ञान शास्त्रियों के लिये है। उल्लेखनीय है कि धवलाकार वीरसेनाचार्य ने भी ऋण के लिये + प्रतीक का उपयोग किया है[2]।

पुनः, चौथे महाधिकार में गाथा १२८७ से लेकर १९९१ तक कोठों में शून्य का उपयोग क्या अग्राह्यता के लिये हुआ है, यह अभी नहीं कहा जा सकता। बख्शाली हस्तलिपि में भी ० का उपयोग खाली स्थान अथवा अग्राह्यता (omission) के लिये हुआ है। तथापि, शून्य का यह उपयोग खाली स्थान के लिये ही हुआ होगा, यह सम्भव प्रतीत होता है। भिन्न-भिन्न असंख्यात संख्याओं के निरूपण के लिये भिन्न-भिन्न प्रतीक लिये गये हैं। जैसे असंख्यात के लिये a, असंख्यात लोक प्रमाण राशि के लिये ९, तथा 'असंख्यात लोक ऋण एक' के लिये ८ को उपयोग में लाया गया है, इत्यादि। संख्यात के लिये...(यह चिह्न ति. प. पृ. ६०३ पंक्ति २ में देखिये) प्रतीक उपयोग में आया है। मिश्र में इसका उपयोग १०० की लिये प्रतीक रूप में हुआ है। मिश्र में खड़ी लकीर १ का, ग्रीस में खड़ी लकीर १० का निरूपण करती थ तथा ☰ ६० के लिये प्रतीक था। ९, १०० का प्रतीक था। आगे मू. अक्षर का उपयोग केवल निम्न लिखित स्थान में दिखाई देता है[3]—

=५८६४ रिण रा. = ४।४।६५६१ ४।६५५३६ ५	−२ मू.	॰ ˆ १।३ मू.	= ४।६५५३६।५

यह स्थापना कैसे उत्पन्न की गई है, यह समझने में हम अभी समर्थ नहीं हैं। तथापि, बख्शाली हस्तलिपि में मू. प्रतीक का उपयोग मूल के लिये हुआ है। इसी प्रकार यहां तथा और दूसरी जगह भी σ का उपयोग योग के लिये किया गया प्रतीत होता है। Ω का अर्थ हम नहीं समझ सके हैं। इस प्रकार α, σ, Ω, ९ में यूनानी झलक दिखाई देती है, तथापि, निम्न लिखित अवतरण पढ़ना वांछनीय है।

---

१ B. B. Datta & A. N. singh Part I. PP. 14, 15.

२ षट्खंडागम पु. १०, ४, २, ४, ३२, पृ. १५१. ३ ति. प. भाग २, पंचम अधिकार, पृष्ठ ६०९.

"Ssade, a softer sibilant (= σ σ), also called San in early times, was taken over by the Greeks in the place it occupied after π......... The Phoenician alphabet ended with T; the Greeks first added Υ, derived from Vau apparently (......), then the letters Φ, X, Ψ and, still later, Ω.........Now, as Ω is fully established at the date of the earliest inscriptions at Miletus (about 700 B. C.) and Naucratis (about 650 B. C.), the earlier entension of the alphabet by the letters Φ X Ψ must have taken place not later then 750 B. C."[१]

इस प्रकार, σ, Ω, ≡, के उपयोग के आधार पर रिण का उपयोग भी तिलोय-पण्णत्ती की संरचना से पूर्व का प्रतीत होता है।

रज्जु के लिये र, पल्य के लिये प, आदि प्रतीक ग्रहण करना स्वाभाविक है। द्वीन्द्रिय के लिये बीइंदिय शब्द का उपयोग प्राकृत में होता रहा है। सूच्यंगुल के लिये और कहीं कहीं आवलि के लिये २ प्रतीक चुना है— इसका कारण, तथा उपयोग में लाये जाने के काल का निर्धारण करना अभी शक्य नहीं है। भिन्नों के लिखने की शैली बख्शाली हस्तलिपि के समान ही है। मिश्र में भी यही शैली प्रचलित थी। जैसे, $\frac{१}{२३}$ को ∩̑∩ ||| और $\frac{१}{३२४}$ को ९९९∩∩̑ |||| लिखा जाता था। बेबीलोन में भी खड़ी और आड़ी खूंटियों के द्वारा संख्या निरूपण होता था, जैसे I<.........का अर्थ $(६०)^{८}$ + १०. $(६०)^{७}$ होता था। जिस तरह द्वि के लिये प्राकृत में बी है, उसी प्रकार यूनानी अक्षर β दो का प्रतीक है। अन्य चिह्न प्राप्त नहीं हुए हैं।

प्रतीकत्व के उपयोग के सिवाय, विभिन्न स्थानों में सूत्रों का उपयोग, तथा सूत्र द्वारा अल्पबहुत्व का निरूपण ही विभिन्न समीकारों की उत्पत्ति करता है, जो पठनीय है, तथा जिनसे पर्याप्त मात्रा में खोज की जा सकती है। अल्पबहुत्व का निरूपण ही विश्लेषण अथवा बीजगणित है, जिसके कुछ उदाहरण अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, और जिनके पूर्वापर विरोध का खंडन करने के लिये वीरसेन अथवा यतिवृषभने अपने समय की प्रचलित युक्तियों की झलक दिखा दी है। वही झलक ऐतिहासिक दृष्टिसे कितने महत्त्व की है, यह स्वयं प्रकट हो जावेगा।

मापिकी या ज्यामिति विधियां

तिलोय-पण्णत्ती के विवरणसे स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने जो भी खोजें कीं वे परम्परागत ज्ञान को सुलझाने, स्पष्ट करने के लिये ही कीं हैं। जम्बूद्वीप आदि द्वीप-समुद्रों के वृत्तरूप क्षेत्रों के क्षेत्रफल, धनुष, जीवा, बाण पार्श्वभुजा तथा उनके अल्पबहुत्वों का प्रमाण निकालने के लिये उन्होंने वृत्त और सरल रेखा पर बहुत कार्य किया। यूनानियों ने भी वृत्त और सरल रेखा पर आधारित अंशदान दिया है। पुनः लोक के चतुरस्र आकार के कारण उन्होंने वेत्रासन के आकार के सांद्रों का छेदविधिसे विभिन्न प्रकार के ज्ञात क्षेत्रों में प्राप्त कर, घनफल निकाला है, जिनमें वातवलयों से वेष्टित आकाशका घनफल निकालना, उनकी पटुता का द्योतक है। क्षेत्रावगाहना के वर्णन के आधार पर उन्होंने वेलनाकार, शंक्वाकार, क्षेत्रों के घनफल भी निकाले हैं। ये विधियां भारतीय शैली के आधार पर सूत्रबद्ध निरूपित हैं। यह सब होते हुए, गोल क्षेत्र के घनफल का निरूपण न होना एक आश्चर्यपूर्ण बात प्रतीत होती है, क्योंकि गोलार्द्ध बिम्बों की अवगाहना तथा चंद्रादि की कलाओं के क्षेत्रफल आदि विषयों की चर्चाओं को भी

१ Heath vol. 1. PP. 32-34.

गणितीय निरूपण प्राप्त होना था। यूनानमें गोलके सम्बन्धमें (पायथेगोरियन युग से अथवा उसके बाद के सूत्र की) प्ररूपणा है, तथा जैनाचार्यों द्वारा उसका उपयोग न करना इस बातका सूचक है कि उन्होंने जो कुछ किया वह उनकी स्वतः की मौलिक प्रतिभाका अंशदान था जिसके बहुत से उदाहरण धवला टीका तथा तिलोय-पण्णत्तीमें बिखरे पड़े हैं। दृष्टिवाद अंगके आधार पर जम्बूद्वीपकी परिधिका उल्लेखितरूप में कथन ही इस बात का सूचक है कि तिलोय-पण्णत्तिकी संरचनाके पूर्व ही, $\sqrt{१०}$ का उपयोग π के लिये हो चुका था[1]। तथा ख ख पदसंसख्स पुढं का गुणकार $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$ निश्चित करना एक अति कठिन गणनाके आधार पर प्राप्त हुआ होगा[2]। यदि यह गणना बौद्धायन के शुल्व सूत्र कालीन है तो बौद्धायन द्वारा निश्चित $\pi = ३\text{'}०८८$, का मान इससे स्थूल है[3]। यूनान में, आर्कमिडीज् का प्रयत्न अति प्रशंसनीय माना जाता है। उसने π का मान इस रूपमें निश्चित किया था[4] :—

$$\frac{१३५१}{७८०} > \sqrt{३} > \frac{२६५}{१५३}$$

तथापि, वीरसेनाचार्य द्वारा उपयोग में लाया गया सूत्र, 'व्यासं षोडशगुणितं ....' चीन के त्सुशुंग चिह (Tsu-chung-chih) के द्वारा दिये गये π के प्रमाण से मिलता जुलता है, जो षोडश सहित को निकाल देने पर एक सा हो जाता है। वास्तव में यह अत्यंत सूक्ष्म प्रमाण है जहाँ $\pi = \frac{३५५}{११३} = ३\text{'}१४१५९३$ आदि प्राप्त होता है। इसकी विधि चीन में प्राप्य नहीं है, तथापि उसका उद्गम वीरसेनाचार्य द्वारा दिये गये सूत्र में निबद्ध है। जहां वीरसेन ने यह सूत्र नवीं सदी में उल्लेखित किया है, वहां त्सु शुंग चिह ने प्रायः ४७६ ईस्वी पश्चात् में लिया है[5]। इससे प्रतीत होता है, कि चीनियों ने

$$\frac{१६ \text{ व्यास} + १६}{११३} + ३ (\text{व्यास}) = \text{परिधि}$$

सूत्र को प्रथम पद में से १६ निकाल कर सुधार किया होगा। अथवा, भारत में वह सूत्र चीन से लिया गया हो, जो १६ अधिक होने से गलत रूप में सूत्र बद्ध हो गया हो। यह एक ऐतिहासिक महत्व रखता है तथा चीन से गणितीय सम्बन्ध की परम्परा स्थापित करता है[6]।

तिलोय-पण्णत्ती के चतुर्थ अधिकार में गाथा १८० और १८१ में दिये गये सूत्र अति महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। ये सूत्र, जीवा और धनुष का प्रमाण निकालने के लिये हैं, गणना $\sqrt{१०}$ के आधार पर इन सूत्रों की संरचना का प्रमाण मिलता है। जीवा के विषय में बिलकुल ऐसा ही सूत्र,[7]

$$\text{जीवा} = \sqrt{४\left[\left(\frac{\text{व्यास}}{२}\right)^२ - \left(\frac{\text{व्यास}}{२} - \text{बाण}\right)^२\right]}$$

रूप में, बेबीलोन में अभिलेखों के आधार पर २६०० वर्ष ईस्वी पूर्व उपस्थित होना, हमें आश्चर्य में डाल देता है।[8] जहां π का मान निश्चित रूप से ३ होना स्वीकृत हो चुका है[9] वहां पायथेगोरियन

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में कुछ भिन्न मान हैं। भिन्नता हाथ प्रमाण से प्रारम्भ होती है और इसके पश्चात् प्रमाण का कथन नहीं है (१–२३)। २ ति. प. ४, ५५–५६. ३ Coolidge P. 15.
४ Coolidge P. 61. ५ Coolidge P. 61.

६ इस सूत्र की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में डा० अवधेशनारायणसिंह के विचार देखने योग्य हैं जो उन्होंने "वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ", सागर, (वीर नि. सं० २४७६) में प्रकाशित अपने "भारतीय गणित के इतिहास के जैन-स्रोत" में पृष्ठ ५०३ पर व्यक्त किये हैं।

७ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में इस रूप में सूत्र मिलता है— जीवा = $\sqrt{४\text{'} \text{बाण}}$ [illegible]

८ Coolidge P. 7. ९ Coolidge P. 6.

साध्य के आधार पर इस सूत्र का होना उपयुक्त है। धनुष के सम्बन्ध में जैनाचार्यों द्वारा दिया गया सूत्र π का $\sqrt{१०}$ मान लेने के आधार पर है, जो बेबीलोन में अप्राप्य प्रतीत होता है। सूत्रों की ऐसी क्रमबद्धता के आधार पर, मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो Cuneiform texts[१] की तिथि २६०० वर्ष ईस्वी पूर्व निश्चित करना शंकास्पद है। $\sqrt{१०}$ का मान π रखकर, उपर्युक्त दो समीकारों द्वारा, कुछ ऐसे सम्बन्ध प्राप्त किये जा सकते हैं जो हाइजिन्स ने धनुष और जीवा के बीच, टेलर के साध्य के आधार पर प्राप्त किये हैं। आश्चर्य है कि महावीराचार्य ने इन सूत्रों को कुछ दूसरे ही रूप में दिया है[२]।

$$\text{धनुष की लम्बाई} = \sqrt{५\,(\text{बाण})^२ + (\text{जीवा})^२}$$

अवधा के क्षेत्रफल निकालने के लिये महावीराचार्य ने जो सूत्र दिया है,

$$\text{क्षेत्रफल} = (\text{जीवा} + \text{बाण}) \times \frac{\text{बाण}}{२}$$

वह चीन में चिउ-चांग सुआन चु (Chiu-Chang suan-chu) ग्रंथ से लिया गया प्रतीत होता है, जिसकी तिथि पुस्तकों के जलाये जाने की घटना के कारण निर्णीत नहीं हो सकी है। वहां, उनसे भी पूर्व के ग्रंथ तिलोय-पण्णत्ती में धनुषाकार क्षेत्र का क्षेत्रफल $\frac{\text{बाण} \times \text{जीवा}}{४}\sqrt{१०}$ रूप में प्राप्त होना आश्चर्यजनक है[३]। यूनान में, सिकन्दरिया के हेरन ने, इनके प्रमाण और कुछ प्राप्त किये हैं[४]।

इनके पश्चात् महत्वपूर्ण सूत्र अनुपात सिद्धान्त (Theory of proportion) सम्बन्धी हैं। यतिवृषभ ने इन्हें, गाथा १७८१ (महाधिकार चौथा), से लेकर गाथा १७९७ तक शंकु समच्छिन्नकों (frustrums of cone) की पार्श्वभुजाओं (Slant lines) के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं[५]। इनके सिवाय, वेत्रासन तथा अन्य आकार के वातवलय सम्बन्धी क्षेत्रों (लोक का वेष्टन करनेवाले क्षेत्रों) का घनफल निकालने में जो निरूपण दिया है वह सिकन्दरिया के हेरन (ईसा की तीसरी सदी) के βωμισκοσ सम्बन्धी घनफल के निरूपण की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं है[६]। इसके आधार पर वेत्रासन (छोटी वेदी) सदृश आकार के सांद्रों का वर्णन अन्य धर्मग्रंथों में भी मिलना मनोरंजक है, और उनमें सम्बन्ध स्थापित करना इतिहासकारों का कार्य है[७]। पुनः लोक का घनफल विभिन्न आकारों के क्षेत्रों में व्यक्त करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो पायथेगोरियन कालीन विधियों से सम्पर्क स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। चौथे अधिकार में गाथा २४०१ आदि का निरूपण हेरन की Anchoring या tore की स्मृति स्पष्ट करती है[८]।

हेरन ने शंकु समच्छिन्नक का घनफल दो विधियों से निकाला है, परन्तु वीरसेन ने शंखाकार मृदंग रूप लोक की धारणा को अन्यथा सिद्ध करने के लिये जिस विधि का प्रयोग किया है, वह अन्यत्र देखने में

---

१ Coolidge P. 7.

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में इसका मान $\sqrt{६\,(\text{बाण})^२ + (\text{जीवा})^२}$ दिया है (२–२८, ६–१०). गणितसारसंग्रह अध्याय ७, सूत्र ४३.

३ ति. प. ४, २३७४.

४ Heath vol. (II) PP. 330, 331.

५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३।२१३-२१४; ४।३९, १३४-१३५, १०।२१; ११२८.

६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में इस सम्बन्ध में दी गई विधि तिलोयपण्णत्ती में दी गई विधि के समान है (११–१०९).

७ गाथा २७० आदि, प्रथम महाधिकार।

८ Heath vol. (ii) P. 334,

नहीं आई है। उस विधि से, घनफल निम्न लिखित श्रेढि का योग निकालने पर प्राप्त होता है जो बिलकुल ठीक है,

$$\pi\left(\frac{\text{व्यास}_1}{2}\right)^2 \text{उत्सेध} + \left(\pi.\ \text{व्या}_1.\text{उ}.\ \frac{\text{व्या } 2 - \text{व्या } 1}{2^2}\right)$$
$$+\left(\pi\ \frac{\text{व्या}_2 - \text{व्या}_1}{2^2}.\ \frac{\text{उ}}{2}.\ \frac{\text{व्या}_2 - \text{व्या}_1}{2}\right)$$
$$+\left(\pi\ \frac{\text{व्या}_2 - \text{व्या}_1}{2^3}.\ \frac{\text{उ}}{2^2}.\ \frac{\text{व्या}_2 - \text{व्या}_1}{2}\right) + \cdots \text{असंख्यात तक,}$$

क्योंकि अविभागप्रतिच्छेदों की संख्या, अंतिम प्रदेश प्राप्त करने तक अनन्त नहीं हो सकती है[1]। हम अभी नहीं कह सकते कि यह विदारण विधि यूनानियों की विधियों के आधार पर है अथवा सर्वथा मौलिक है। वीरसेन ने क्षेत्र प्रयोग विधि के आधार पर जो बीजीय समीकारों का रैखिकीय निरूपण दिया है वह भी क्या यूनानसे लिया गया है, यह भी हम नहीं कह सकते; क्योंकि हो सकता है कि पारपरिमित गणात्मक संख्याओंके निरूपण के लिये ये विधियां भारत में पहिले भी प्रचलित रहीं हों[2]।

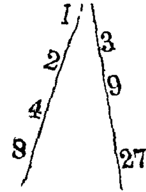
ज्योतिष सम्बन्धी एवं अन्य गणनायें

त्रिलोक संरचना के विषय में कुछ भी कहना विवादास्पद है। यहाँ केवल दूरियों के कथन तथा बिम्बों के अवस्थित एवं विचरण सम्बन्धी विवरण, पूर्वापर विरोध रहित एवं सुव्यवस्थित रखे गये हैं। रज्जु के कितने अर्द्धच्छेद लिये जावें, इस विषयमें वीरसेन अथवा यतिवृषभ ने बिम्बों के कुल प्रमाण को परम्परागत ज्ञान के आधार पर सत्य मान कर, परिकर्म नामक गणित ग्रंथ में दिये गये कथन में 'रूपाधिक' का स्पष्टीकरण किया है। यह विवेचन वीरसेन अथवा यतिवृषभकी दक्षता का परिचय देता है। सातवें महाधिकार में चंद्रमा के बिम्ब की दूरी एवं विष्कम्भ के आधार, आंख पर आपतित कोण का माप आधुनिक प्राप्त सूक्ष्म मापों से १० गुणा हीन है[3]। गोलार्द्ध रूप चंद्रमा आदि के बिम्बों का मानना, उनकी अवलोकन शक्ति का द्योतक है, क्योंकि ये बिम्ब सर्वदा पृथ्वी की ओर केवल वही अर्द्धमुख रखते हुए विचरण करते हैं। सूर्य के विषय में आधुनिक धारणा घब्बों के आधार पर कुछ दूसरी ही है। उष्णतर किरणों तथा शीतल किरणों का क्या अर्थ है, समझ में नहीं आ सका है। इनका अर्थ कुछ और होना चाहिये, जिनके अधार पर, चंद्रमा आदि के गमन के कारण ही उसकी कलाओं का कारण सम्भवतः प्रकट हो सके (?) वृहस्पति से दूर मंगल का बिम्ब होना आधुनिक मान्यता के विपरीत है। गाथा ११७ आदि में समापन और असमापन कुंडली (Winding and Unwinding Spiral) में चंद्र और सूर्य का गमन, सम्भव है, [illegible]

pressed in a small sphere the whole of the circle which the aether embraces.[१]"

पुनः, निम्न लिखित अवतरण विचारणीय है :—

"As regards the distances of the sun, moon and planets Plato has nothing more definite than the seven circles 'in the proportion of the double intervals, three of each'[3]: the reference is to the Pythagorean τετϛακτυο represented in the annexed figure,··· what precise estimate of relative distances Plato based upon these figures is uncertain.[२]"



विविध गणनायें, गणित के प्रसंगानुसार, सुव्यवस्थित एवं उपयुक्त हैं। ग्रहों के सम्बन्धमें, उनके गमनविषयक ज्ञान का कालवश विनष्ट होना बतलाया है, तथापि वह अपोलोनियस तथा हिपरशस की खोजों के आधार पर व्यवस्थित हो सकता है। जैनाचार्यों के चांद्र दिवस व मास के समान यूनान में भी एरिस्टरशस (Aristarchus) द्वारा २८१ अथवा ० ई. पू. में, और हिपरशस द्वारा १६१ ई. पू.-१२६ ई. पू. में चंद्र मास और चंद्र वर्ष की गणनाएं की गईं थीं। इसके सम्बन्ध में निम्न लिखित विचार पठनीय है।

"We now learn that the length of the mean synodic, the sidereal, the anomalistic and the draconitic month obtained by Hipparchus agrees exactly with Babylonian cuneiform tables of date not later than Hipparchus, and it is clear that Hipparchus was in full possession of all the results established by Babylonian astronomy[3]."

परन्तु; जहां तक पायथेगोरियन युग के बाद की (प्लेटो कालीन एवं उपरांत के) ज्योतिष का सम्बन्ध है, तिलोय-पण्णत्ती सदृश मूल ग्रंथ, उस यूनानी ज्योतिष के प्रभाव से सर्वथा अछूते दृष्टिगत होते हैं। साथ ही, ऐसे ज्योतिष मूल ग्रंथों के भारतीय ज्योतिष के लिये प्रदत्त अंशदान सम्बन्धी विवेचन के लिये पाठकगण, पं० नेमिचंद्र जैन ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित "भारतीय-ज्योतिष का पोषक जैन-ज्योतिष" नामक लेख (जो 'वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ' सागर में प्रकाशित हुआ है) देख सकते हैं। इस लेख में सुविज्ञ लेखक मुख्यतः निम्न लिखित निष्कर्षों पर पहुँचे प्रतीत होते हैं।

(१) पञ्चवर्षात्मक युग का सर्व प्रथमोल्लेख जैन ज्योतिष-ग्रंथों में प्राप्त होना।

(२) अवम-तिथि क्षय सम्बन्धी प्रक्रिया का विकास जैनाचार्यों द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया जाना।

(३) जैन मान्यता की नक्षत्रात्मक ध्रुवराशि का वेदाङ्गज्योतिष में वर्णित दिवसात्मक ध्रुवराशि से सूक्ष्म होना तथा उसका उत्तरकालीन राशि के विकास में सम्भवतः सहायक होना।

(४) पर्व और तिथियों में नक्षत्र लाने की विकसित जैन प्रक्रिया, जैनेतर ग्रंथों में छठी शती के बाद दृष्टिगत होना।

(५) जैन ज्योतिष में सम्वत्सर सम्बन्धी प्रक्रिया में मौलिकता होना।

---

१ Heath vol. (i) P. 163. २ Heath vol. I. P. 313. ३ Heath vol. (ii) PP. 254, 255.

(६) दिनमान प्रमाण सम्बन्धी प्रक्रिया में, पितामह सिद्धान्त का जैन प्रक्रिया से प्रभावित प्रतीत होना।

(७) छाया द्वारा समय निरूपण का विकसित रूप इष्ट काल, भयाति आदि होना।

यहां मन्सर (सम्भवतः ५००-७०० ईस्वी पश्चात् अथवा इससे कुछ पूर्व ?) के शिल्प शास्त्र पर आधारित श्री पिल्लई के खोजपूर्ण ग्रन्थ, "The way of the Silpis" (1948) में वर्णित ज्योतिष सम्बन्धी खोजों का उपर्युक्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन सम्भवतः उपयोगी सिद्ध हो।

इनके अतिरिक्त आतप और तम क्षेत्र तथा चक्षुस्पर्शध्वान सम्बन्धी कथन, गणना के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। इन सब अवधारणाओं के हेतुओं का सिद्धान्तबद्ध स्पष्टीकरण करना, इस दशा में अशक्य है।

मुख्यतः त्रिलोकप्रज्ञप्ति विषयक गणित का यह कार्य, परम श्रद्धेय डॉ. हीरालाल जैन के सुसंसर्ग में समय समय पर प्रबोधित होकर रचित हुआ है। उनके प्रति तथा जिन सुप्रसिद्ध निस्पृही लेखकों के ग्रंथों की सहायता लेकर यह कार्य किया गया है उनके प्रति भी हम आभार प्रकट करते हैं।

निर्देशित ग्रंथ एवं ग्रंथकारों की सूची —

(१) श्री यतिवृषभाचार्य विरचित तिलोय-पण्णत्ती भाग १, २.
सम्पादक प्रो. हीरालाल जैन, प्रो. ए. एन्. उपाध्ये, १९४३, १९५०.

(२) श्री धवला टीका समन्वित षट्खंडागम पुस्तक ३, पुस्तक ४.
सम्पादक हीरालाल जैन, १९४१, १९४२.

(३) A History of Geometrical methods, by Julian Lowell Coolidge Edn. 1940.

(४) A History of Greek Mathematics, part I & II.
by sir thomas Heath. Edn. 1921.

(५) History of Hindu Mathematics, Part I & II.
by Bibhutibhusen Datta, & Awadhesh Naryan singh, Edn. 1935, 1938.

(६) Abstract Set theory, by Abraham A. Fraenkel, Edn. 1953.

(७) The Mathematical Theory of Relativity by A. S. Eddington Edn. 1923.

(८) The Development of Mathematics by E. T. Bell. Edn. 1945.

(९) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 'श्री अकलंकदेव'

(१०) Relativity and commonsense.
by F. M. Denton.

(प्रथम महाधिकार गा. ९१)

जगश्रेणी का मान ७ राजू होता है। राजू एक असंख्यात्मक दूरी का माप है। इसीलिये जगश्रेणी को दर्शाने के निमित्त ग्रंथकार ने प्रतीक की स्थापना की जो कि अंग्रेजी के Dash (—) के समान है। इस जगश्रेणी का घन करने पर लोकाकाश का घनफल प्राप्त होता है। जगश्रेणी का घन ग्रंथकार ने एक के नीचे एक स्थापित तीन आड़ी रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया है (≡)। इन तीन आड़ी रेखाओं का अर्थ तीन जगश्रेणी नहीं, किन्तु जगश्रेणी का घन होता है। परस्पर गुणन के लिये यह प्रतीक असाधारण है। ≡ १६ ख ख ख इस प्रतीक के स्पष्टीकरण का निम्न प्रकार से अनुमान किया जा सकता है। ≡ यह लोकाकाश की स्थापना है जो एक (१) है। लोकाकाश सहित पांच द्रव्य ६ हुए, जिसकी स्थापना १ के बाद है। तत्पश्चात् ख ख ख की स्थापना अनंतानंत अलोकाकाश के लिये है, जिसके बहुमध्य भाग में यह लोकाकाश स्थित है। बहुमध्य भाग के कथन से यह अर्थ निकलता है कि अनन्तानन्त[1] रूप में विस्तृत आकाश का मध्य निश्चित किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि अनन्तानन्त एक बिलकुल ही अनिश्चित प्रमाण नहीं माना गया, जैसी कि आज के गणितज्ञों की धारणा है[2]।

(गा. १, ९३-१३२)

जगश्रेणी का प्रमाण प्रदर्शित करने के लिये [जो कि एक दिश माप (Linear Measure) है], अन्य ज्ञात मापों की परिभाषायें दी गई हैं। दूरत्व के माप के लिये उवसन्नासन्न नाम से प्रसिद्ध एक स्कंध अथवा उसके विस्तार को दूरत्व की इकाई (Unit) माना गया है। इस स्कंध की रचना नाना प्रकार के अनन्तानन्त परमाणु[3] द्रव्यों से होती मानी गई है। इस स्कंध के अविभागी अंश को भी परमाणु

---

१ इस सम्बन्ध में आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध गणितज्ञ F. H. Bradley के विचार निम्न प्रकार हैं—

"We may be asked whether Nature is finite, or infinite...... if Nature is infinite, we have the absurdity of a something which exists, and still does not exist. For actual existence is, obviously, all finite. But, on the other hand, if Nature is finite, then Nature must have an end, and this again is impossible. For a limit of extension must be relative to an extension beyond. And to fall back on empty space will not help us at all. For this (itself a mere absurdity) repeats the dilemma in an aggravated form. But we can not escape the conclusion that Nature is infinite....... Every physical world is essentially and necessarily infinite." The Encyclopedia Americana, Vol. 15, p. 121, Edn. 1944.

२ "With the intrusion of irrational numbers to disrupt the integral harmonics of the Pythagorean cosmos, a controversy that has raged of and on for well over two thousand years began : is the mathematical infinite a safe concept in mathmatical reasoning, safe in the sense that contradictions will not result from the use of this infinite subject to certain prescribed conditions ? (The 'infinities' of religion and philosophy are irrelevant for mathematics)"—Development of Mathematics, E. T. Bell, Page 548.

३ ग्रंथकार द्वारा प्रतिपादित परमाणु का अर्थ अन्यथा न ले लिया जावे, तथैव श्री जी. आर. जैनी की Cosmology Old and New के ९४वें पृष्ठ पर दिया गया यह अवतरण पढ़ना लाभदायक होगा—

"It follows that a paramanu can not be interpreted and should not be inter-

कहा गया है और एक स्कंध के अर्द्ध भाग को देश तथा चतुर्थ भाग को प्रदेश कहा गया है। स्कंध के अविभागी अर्थात् जिसका और विभाग न हो सके ऐसे अंश को परमाणु कहा है (गाथा ९५)। यह परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरे (रोके) उसको प्रदेश कहते हैं[1]।

अन्य मापों का निरूपण इस भांति है —

८ उवसन्नासन्न स्कंध	=	१ सन्नासन्न स्कंध
८ सन्नासन्न स्कंध	=	१ त्रुटिरेणु स्कंध
८ त्रुटिरेणु "	=	१ त्रसरेणु "
८ त्रसरेणु "	=	१ रथरेणु "
८ रथरेणु "	=	१ उत्तम भोगभूमि का बालाग्र
८ उ. भो. बा.	=	१ मध्यम भोगभूमि " "
८ म. भो. बा.	=	१ जघन्य " " "
८ ज. भो. बा.	=	१ कर्मभूमि का बालाग्र
८ कर्मभूमि के बालाग्र	=	१ लीक
८ लीकें	=	१ जूँ.
८ जूँ	=	१ जौ
८ जौ	=	१ अंगुल

इस परिभाषा से प्राप्त अंगुल, सूची अंगुल (सूच्यंगुल) कहलाता है, जिसकी संदृष्टि (Symbol) २ मान ली गई है। यह अंगुल उत्सेध सूच्यंगुल भी कहा जाता है, जिसे शरीर की ऊँचाई आदि के प्रमाण जानने के उपयोग में लाते हैं।

पांच सौ उत्सेध अंगुलों का एक प्रमाणांगुल माना गया है जिससे द्वीप, समुद्र, नदी, कुलाचल आदि के प्रमाण लेते हैं।

एक और प्रकार का अंगुल, आत्मांगुल भी निश्चित किया गया है जो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में होनेवाले मनुष्यों के अंगुल प्रमाणानुसार भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न हुआ करता है। इसके द्वारा छोटी वस्तुओं (जैस झारा, तोमर, चामर आदि) की संख्यादि का प्रमाण बतलाते हैं।

जहां जिस अंगुल की आवश्यकता हो, उसे लेकर निम्न लिखित प्रमाणों का उपयोग किया गया है —

६ अंगुल = १ पाद ; २ पाद = १ वितस्ति ; २ वितस्ति = १ हाथ ; २ हाथ = १ रिक्कू ; २ रिक्कू = १ दण्ड ; १ दण्ड या ४ हाथ = १ धनुष = १ मूसल = १ नाली ;

२००० धनुष = १ क्रोश ; ४ क्रोश = १ योजन.

---

preted as the atom of modern Chemistry, although originally the word was invented by the Greek philosopher Democritus (420 B.C.) to denote something which could not be sub-divided (atom—α, not ; τεμνω I cut)........But since the atom of chemistry has now been proved to be a Conglomeration of proton, neutrons and electrons, I venture to suggest that Parmanus are really these elementary particles wich exist by themselves, or if at any future date a subelectron were to be discovered that should then be interpreted as the Paramanu of the Jains."

१ प्रदेश को त्रिविम आकाश (Three Dimensional Space) की इकाई माना गया है जिसे पदार्थों का क्षेत्रमाप लेने के उपयोग में लाते हैं।

(प्रथम महाधिकार गा. ९१)

जगश्रेणी का मान ७ राजू होता है। राजू एक असंख्यात्मक दूरी का माप है। इसीलिये जगश्रेणी को दर्शाने के निमित्त ग्रंथकार ने प्रतीक की स्थापना की जो कि अंग्रेजी के Dash (—) के समान है। इस जगश्रेणी का घन करने पर लोकाकाश का घनफल प्राप्त होता है। जगश्रेणी का घन ग्रंथकार ने एक के नीचे एक स्थापित तीन आड़ी रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया है (≡)। इन तीन आड़ी रेखाओं का अर्थ तीन जगश्रेणी नहीं, किन्तु जगश्रेणी का घन होता है। परस्पर गुणन के लिये यह प्रतीक असाधारण है। ≡ १६ ख ख ख इस प्रतीक के स्पष्टीकरण का निम्न प्रकार से अनुमान किया जा सकता है। ≡ यह लोकाकाश की स्थापना है जो एक (१) है। लोकाकाश सहित पांच द्रव्य ६ हुए, जिसकी स्थापना १ के बाद है। तत्पश्चात् ख ख ख की स्थापना अनंतानंत अलोकाकाश के लिये है, जिसके बहुमध्य भाग में यह लोकाकाश स्थित है। बहुमध्य भाग के कथन से यह अर्थ निकलता है कि अनन्तानन्त रूप में विस्तृत आकाश का मध्य निश्चित किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि अनन्तानन्त एक बिलकुल ही अनिश्चित प्रमाण नहीं माना गया, जैसी कि आज के गणितज्ञों की धारणा है[२]।

(गा. १, ९३-१३२)

जगश्रेणी का प्रमाण प्रदर्शित करने के लिये [जो कि एक दिश माप (Linear Measure) है], अन्य ज्ञात मापों की परिभाषायें दी गई हैं। दूरत्व के माप के लिये उवसन्नासन्न नाम से प्रसिद्ध एक स्कंध अथवा उसके विस्तार को दूरत्व की इकाई (Unit) माना गया है। इस स्कंध की रचना नाना प्रकार के अनन्तानन्त परमाणु[3] द्रव्यों से होती मानी गई है। इस स्कंध के अविभागी अंश को भी परमाणु

---

१ इस सम्बन्ध में आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध गणितज्ञ F. H. Bradley के विचार निम्न प्रकार हैं —

"We may be asked whether Nature is finite, or infinite······ if Nature is infinite, we have the absurdity of a something which exists, and still does not exist. For actual existence is, obviously, all finite. But, on the other hand, if Nature is finite, then Nature must have an end, and this again is impossible. For a limit of extension must be relative to an extension beyond. And to fall back on empty space will not help us at all. For this (itself a mere absurdity) repeats the dilemma in an aggravated form. But we can not escape the conclusion that Nature is infinite······. Every physical world is essentially and necessarily infinite." The Encyclopedia Americana, Vol. 15, p. 121, Edn. 1944.

२ "With the intrusion of irrational numbers to disrupt the integral harmonics of the Pythagorean cosmos, a controversy that has raged of and on for well over two thousand years began : is the mathematical infinite a safe concept in mathmatical reasoning, safe in the sense that contradictions will not result from the use of this infinite subject to certain prescribed conditions ? (The 'infinities' of religion and philosophy are irrelevant for mathematics)"—Development of Mathematics, E. T. Bell, Page 548.

३ ग्रंथकार द्वारा प्रतिपादित परमाणु का अर्थ अन्यथा न ले लिया जावे, तथैव श्री जी. आर. जैनी की Cosmology Old and New के ९४वें पृष्ठपर दिया गया यह अवतरण पढ़ना लाभदायक होगा —

"It follows that a paramanu can not be interpreted and should not be inter-

कहा गया है और एक स्कंध के अर्द्ध भाग को देश तथा चतुर्थ भाग को प्रदेश कहा गया है। स्कंध के अविभागी अर्थात् जिसका और विभाग न हो सके ऐसे अंश को परमाणु कहा है (गाथा ९५)। यह परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरे (रोके) उसको प्रदेश कहते हैं[1]।

अन्य मापों का निरूपण इस भांति है —

८ उवसन्नासन्न स्कंध	=	१ सन्नासन्न स्कंध
८ सन्नासन्न स्कंध	=	१ त्रुटिरेणु स्कंध
८ त्रुटिरेणु "	=	१ त्रसरेणु "
८ त्रसरेणु "	=	१ रथरेणु "
८ रथरेणु "	=	१ उत्तम भोगभूमि का बालाग्र
८ उ. भो. बा.	=	१ मध्यम भोगभूमि " "
८ म. भो. बा.	=	१ जघन्य " " "
८ ज. भो. बा.	=	१ कर्मभूमि का बालाग्र
८ कर्मभूमि के बालाग्र	=	१ लीक
८ लीकें	=	१ जूँ.
८ जूँ	=	१ जौ
८ जौ	=	१ अंगुल

इस परिभाषा से प्राप्त अंगुल, सूची अंगुल (सूच्यंगुल) कहलाता है, जिसकी संदृष्टि (Symbol) २ मान ली गई है। यह अंगुल उत्सेध सूच्यंगुल भी कहा जाता है, जिसे शरीर की ऊँचाई आदि के प्रमाण जानने के उपयोग में लाते हैं।

पांच सौ उत्सेध अंगुलों का एक प्रमाणांगुल माना गया है जिससे द्वीप, समुद्र, नदी, कुलाचल आदि के प्रमाण लेते हैं।

एक और प्रकार का अंगुल, आत्मांगुल भी निश्चित किया गया है जो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में होनेवाले मनुष्यों के अंगुल प्रमाणानुसार भिन्न भिन्न कालो में भिन्न भिन्न हुआ करता है। इसके द्वारा छोटी वस्तुओं (जैस झारी, तोमर, चामर आदि) की संख्यादि का प्रमाण बतलाते हैं।

जहां जिस अंगुल की आवश्यकता हो, उसे लेकर निम्न लिखित प्रमाणों का उपयोग किया गया है —

६ अंगुल = १ पाद ; २ पाद = १ वितस्ति ; २ वितस्ति = १ हाथ ; २ हाथ = १ रिक्कू ; २ रिक्कू = १ दण्ड ; १ दण्ड या ४ हाथ = १ धनुष = १ मूसल = १ नाली ;

२००० धनुष = १ क्रोश ; ४ क्रोश = १ योजन.

---

preted as the atom of modern Chemistry, although originally the word was invented by the Greek philosopher Democritus (420 B.C.) to denote something which could not be sub-divided (atom—α, not ; τεμνω I cut)........But since the atom of chemistry has now been proved to be a Conglomeration of proton, neutrons and electrons, I venture to suggest that Parmanus are really these elementary particles wich exist by themselves, or if at any future date a subelectron were to be discovered that should then be interpreted as the Paramanu of the Jains."

१ प्रदेश को त्रिविम आकाश (Three Dimensional Space) की इकाई माना गया है जिसे पदार्थों का क्षेत्रमाप लेने के उपयोग में लाते हैं।

इसके आगे बढ़ने के पहिले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस योजन की दूरी आज-कल के रैखिक माप में क्या होगी ?

यदि हम २ हाथ = १ गज मानते हैं तो स्थूल रूप से १ योजन ८०००००० गज के बराबर अथवा ४५४५'४५ मील (Miles) के बराबर प्राप्त होता है।

यदि हम १ कोश को आजकल के मील के समान लें, तो १ योजन ४००० मील (Miles) के बराबर प्राप्त होता है।

कर्मभूमि के बालाग्र का विस्तार आज-कल के सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किये गये मापों के अनुसार १/८०० इंच से लेकर १/२०० इंच तक होता है। यदि हम इस प्रमाण के अनुसार योजन का माप निकालें तो उपर्युक्त प्राप्त प्रमाणों से अत्यधिक भिन्नता प्राप्त होती है। बालाग्र का प्रमाण १/८०० इंच मानने पर १ योजन ४९६४८'४८ मील प्रमाण आता है। कर्मभूमि का बालाग्र १/३०० इंच मानने से योजन ७४४७२'७२ मील के बराबर पाया जाता है। बालाग्र को १/२०० इंच प्रमाण मानने से योजन का प्रमाण और भी बढ़ जाता है।

ऐसी स्थिति में, हम १ योजन को ४५४५'४५ मील मानना उपयुक्त समझकर, इस प्रमाण को आगे उपयोग में लावेंगे।

(गा. १, ११६ आदि)

पल्य की संख्या निश्चित करने के लिये ग्रंथकार ने यहां बेलन (पृ. २१ पर आकृति–१ देखिये) का घनफल निकालने के लिये सूत्र दिया है जो $\pi r^2 h$ के ही समान है। प्रथम, लम्ब वर्तुलाकार ठोस बेलन के आधार का क्षेत्रफल निकालने के लिये उसकी परिधि को प्राप्त किया है। परिधि को प्राप्त करने के लिये व्यास को $\sqrt{१०}$ से गुणित किया है, अर्थात् $\frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}}$ की निष्पत्ति को $\sqrt{१०}$ माना है, जो ३'१६२२··· के बराबर प्राप्त होता है। इसका उपयोग प्रायः सभी जैन शास्त्रों में जहां वृत्त क्षेत्र का गणित आया है, किया गया है। ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व भी इस प्रमाण के भिन्न भिन्न रूप उपयोग में लाये गये। ईसासे १६५० वर्ष पूर्व मिश्र के आहमस के पेपीरसमें इस प्रमाण को ३'१६०५ लिया गया है। भास्कराचार्य ने भी स्थूल मान के लिये $\sqrt{१०}$ उपयोग किया है[1]।

---

१ एच. टी. कालब्रुक ने अनुमान रूप से लिखा है —

"Braumgupta gave $\sqrt{10}$ which is eqnal to 3·1622······. He is said to have obtained this value by inscribing in a circle of unit diameter regular polygons of 12, 24, 48 and 96 sides & calculating successively their perimeters which he found to be $\sqrt{9·65}$, $\sqrt{9·81}$, $\sqrt{9·86}$, $\sqrt{98·7}$ respectively and to have assumed that as number of sides is increased indefinitely, the perimeter would approximate to $\sqrt{10}$".—

ब्रह्मगुप्त (६२८ वी सदी) और भास्कर (११५० वी सदी) की बीजगणित के अनुवाद में पृष्ठ ३०८ अध्याय १२ वां अनुच्छेद ४०.

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीसमें एंटीफोन के द्वारा ईसा से प्रायः ४०० वर्ष पूर्व दी गई Method of Exhaustion (निश्शेषण की रीति) से भारतीयों ने प्रेरणा ली है; क्योंकि, श्री सेनफोर्ड ने लिखा है—

"This was the method of exhaustion, due in all probability to Antiphon (C 430 B. C). This method was developed in connection with the 'quadrature' of the circle. It consisted of doubling & redoubling the number of sides of a regular inscribed polygon, the assumption being that, as this process continued, the

इस प्रकार प्राप्त करणी गत (irrational) राशि को ग्रंथकार ने $\frac{१९}{६}$ मान लिया है। त्रिज्या $\frac{१}{२}$ है, जिसका वर्ग $\frac{१}{४}$ प्राप्त हुआ। ऊँचाई १ योजन है। इस प्रकार घनफल $\frac{१९}{२४}$ प्राप्त किया गया है। भिन्न $\frac{१९}{२४}$ को लिखने के लिये आज-कल के भिन्नों को लिखने की रीति का उपयोग नहीं होता था, वरन् $^{१९}_{२४}$ का अर्थ $\frac{१९}{२४}$ लेते थे। इस माप के गड्ढे को विशिष्ट मैढ़े के रोमों के अविभागी खंडों से भरें तो उन खंडों की संख्या जितनी होगी वह व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या है। अथवा $\frac{१९}{२४}$ घन प्रमाण योजनों में जितने उत्तम भोगभूमि के बालाग्र होते हैं वह संख्या है। यहां संख्या निदर्शन के लिये रैखिकीय निरूपण प्रशंसनीय है।

१यो.

१यो.

आकृति – १

(गा. १, १२३–२४)

इन रोमों की संख्या $= \frac{१९}{२४} (४)^3 \times (२०००)^3 \times (४)^3 \times (२४)^3 \times (५००)^3 \times (८)^{२१}$ प्राप्त होती है।

यह गणना करने के लिये ग्रंथकार ने अपने समय में प्रचलित व्यवहार गणित का उपयोग किया है। इस गुणन क्रिया को तीन पंक्तियों में लिखा गया है जिनमें परस्पर गुणन करना है। गुणन का कोई प्रतीक नहीं दर्शाया गया है, केवल एक खड़ी लकीर का उपयोग प्रत्येक संख्या के पश्चात् किया है जो गुणन का प्रतीक हो भी सकती है और नहीं भी। एक पंक्ति यह है —

80।९६।५००।८।८।८।८।८।८।८।८। इत्यादि

80 इस प्रतीक का अर्थ यह प्रतीत होता है कि गुणन के पश्चात् प्रथम पंक्ति में तीन शून्य बढ़ा दिये जावें। इसका गुणन किया जाय तो वह $(१०००) \times ९६ \times ५०० \times (८)^{८}$ के सम होगा। ऐसी ऐसी तीन पंक्तियां ली गई हैं जिनका आपस में गुणन करने से एक संख्या प्राप्त की है जिसे मूल ग्रंथ में दहाई अथवा स्थानार्हा पद्धति (Place value notation) का उपयोग करके शब्दों में और फिर अंकों में लिखा गया है। शब्दों में सबसे पहिले इकाई के स्थान और तब दहाई, सैकड़े आदि के स्थानों का उल्लेख किया गया है।

व्यवहार पल्य से व्यवहार पल्योपम कालको निकालने के लिये व्यवहार पल्य राशि में १०० का गुणा करते हैं। जो राशि उत्पन्न होती है उतने वर्षों का एक व्यवहार पल्योपम काल माना गया है।

इसके पश्चात् उद्धार पल्य = (व्यवहार पल्य × असंख्यात करोड़ वर्षों के समयों की राशि)

---

difference in area between the circle and the polygon would at last be exhausted." —"A Short History of Mathematics" p. 310.

श्री बेल ने अपना मत व्यक्त किया है—

"The Greeks called it exhaustion; Cavalieri in the seventeenth century called it the method of indivisibles and, as will appear in the proper place, got no closer to proof than the ancient Egyptions of at latest 1850 B. C. To us it is the theory of limits &, later, the integral calculus."

—Development of Mathematics p. 43. Edn. 1945.

जितना गुणनफल प्राप्त हो उतने समयों का एक उद्धार पल्योपम माना गया है। यह गुणनफल राशि उद्धार पल्य कही गई है।

और फिर अद्धा पल्य = (उद्धारपल्य राशि × असंख्यात वर्षों के समयों की राशि)

जितना गुणनफल प्राप्त हो उतने समयों का एक अद्धा पल्योपम माना गया है और इस गुणनफल राशि को अद्धा पल्य माना गया है। इसे पल्य भी कहा गया है। इसके आगे —

१० कोड़ाकोड़ी व्यवहार पल्योपम = १ व्यवहार सागरोपम

१० कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योपम = १ उद्धार सागरोपम

१० कोड़ाकोड़ी अद्धा पल्योपम = १ अद्धा सागरोपम

(गा. १, १३१)

अब सूच्यंगुलादि का प्रमाण निकालने के लिये अर्द्धच्छेद का उपयोग किया है। यह रीति गुणन को अत्यन्त सरल कर देती है। छेदागणित का[1] प्रचुर उपयोग नवीं सदी के वीरसेनाचार्य द्वारा धवला टोका में हुआ है। आजकल की संकेतना में[2] यदि किसी राशि य (x) के अर्द्धच्छेद प्राप्त करना हो तो—

य के अर्द्धच्छेद = $छे_2$य अथवा $Log_2 x$ होंगे।

वास्तव में किसी संख्या के अर्द्धच्छेद उस संख्या के बराबर होते हैं जितने बार कि हम उसका अर्द्धन कर सकें। उदाहरणार्थ, यदि हम $2^{अ}$ = य लें तो य के अर्द्धच्छेद अ होंगे।

यदि अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद $Log_2 P$ से दर्शाया जाय, (जहां P अद्धापल्य है) तो

$$जगश्रेणी = [घनांगुल]^{(Log_2 P / असंख्यात)}$$

$$और सूच्यंगुल = [P]^{(Log_2 P)}$$

इस तरह से प्राप्त सूच्यंगुल का प्रतीक पहिले की भांति २ और जगश्रेणी का प्रतीक एक आड़ी रेखा (–) दिया है। जगश्रेणा का मान इस सूत्र से निकाला जा सकता है, पर प्रश्न उठता है कि

---

१ जैनाचार्यों के द्वारा उपयोग में लाये गये छेदागणित को यदि आजकल की Logarithms (Gk : logos = reckoning, arithmos = number) की गणित का सर्वप्रथम और कुछ दृष्टियों से सदृश रूप कहा जाय तो गलत न होगा। इस गणित के दो स्वतंत्र आविष्कारक माने जाते हैं — एक तो स्काटलेंड के बेरन नेपियर (१५५० – १६१७) और दूसरे प्रेग देश के जे. बर्जी (१५५२ – १६३२)। इस गणित के आविष्कार के विषय में गणित इतिहासकार सेनफोर्ड का मत है, "The discovery of logarithms, on the other hand, has long been thought to have been independent of contemporary work, and it has been characterised as standing 'isolated, breaking in upon human thought abruptly without borrowing from the work of other intellects or following known lines of mathematical thought."

—A short history of mathematics, P. 193.

२ आज की संकेतना में यदि बेरन नेपियर के अनुसार n के Logarithm के प्रमाण को दर्शाया जाय तो वह $10^7 \, Log_e (10^7 . n^{-1})$ होगा। यहाँ, प्रोफेसर प्लेफेअर के शब्दों में यह अभिव्यञ्जना स्पष्टतर हो जावेगी।

"The numbers which indicate (in the Arithmetical Progression) the places of the terms of the Geometrical Progression are called by Napier, the *logarithm* of those terms."—Bulletin of Calcutta Mathematical Society vol. VI. 1914-15.

असंख्यात वर्षों की राशि कितनी ली जाय, क्योंकि असंख्यात कोई विशिष्ट संख्या नहीं है, किन्तु सीमा रूप दो असंख्यात संख्याओं के बीच में रहनेवाली कोई भी संख्या है।

(गा. १, १३२)

इसके पश्चात् प्रतरांगुल = (सूच्यंगुल)^{२} = ४ (प्रतीक रूपेण)

और घनांगुल = (सूच्यंगुल)^{3} = ६ (प्रतीक रूपेण)

इस स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है कि लिये हुए प्रतीकों में साधारण गणित की क्रियायें उपयोग में नहीं लाई गईं, जैसे सूच्यंगुल का प्रतीक २, तो सूच्यंगुल के घन का प्रतीक ८ नहीं, अपि तु ६ लिया गया। इसी प्रकार जगप्रतर का प्रतीक (=) और जगश्रेणी का घन लोक होता है, जिसका प्रतीक (≡) है। इस प्रकार की प्रतीक-पद्धति के विकास को हम जर्मनी के नेसिलमेन के शब्दों में Syncopated और Symbolic Algebra का मिश्रण कह सकते हैं।

इसके पश्चात् राजू[१] का प्रमाण = $\frac{\text{जगश्रेणी}}{७}$

१ Raju (=Chain, a linear astrophysical measure), is according to Colebrook, the distance which a Deva flies in six months at the rate of 2,057, 152 Yojanas in one क्षण, ie. instant of time.

—Quoted by von Glassnappin "Der Jainismus".

—Foot Note—Cosmology Old & New p. 105,

इस परिभाषा के अनुसार राजु का प्रमाण इस तरह निकाला जा सकता है— ६ माह = (५४००००) × ६ × ३० × २४ × ६० प्रति विपलांश या क्षण

क्योंकि, ६० प्रति विपलांश = १ प्रति विपल

६० प्रति विपल = १ विपल

६० विपल = १ पल

६० पल = १ घड़ी = २४ मिनिट (कला)

∴ १ मिनिट (कला) = ५४०००० प्रतिविपलांश

और १ योजन = ४५४५·४५ मील (या क्रोशक) लेने पर,

∴ ६ माह में तय की हुई दूरी = ४५४५·४५ × २०५७१५२ × ६ × ३० × २४ × ६० × ५४०००० मील

∴ १ राजू = (१·३०८६६६६२···) × (१०)^{२१} मील

श्री जी. आर. जैनी ने डॉ. आइंसटीन के संख्यात (Finite) लोक की त्रिज्या लेकर उसका घनफल निकाल कर लोक के घनफल (३४३ घन राजु) के बराबर रखकर राजु का मान १.४५ × (१०)^{२१} मील निकाला है जो उपर्युक्त राजु मान से लगभग मिलता है। पर डॉ. आइंसटीन के संख्यात फैलनेवाले लोक की कल्पना को पूर्ण मान्यता प्राप्त नहीं है— वह केवल कुछ उपधारणाओं के आधार पर अवलम्बित है। भिन्न २ कल्पनाओं के आधार पर भिन्न २ लोकों (universes) की कल्पनायें कई वैज्ञानिकों ने की हैं।

रिसर्च स्कालर पंडित माधवाचार्य ने राजू की परिभाषा निम्न तरह से कही है— "एक हजार भार का लोहे का गोला, इंद्रलोक से नीचे गिरकर ६ मास में जितनी दूर पहुँचे उस सम्पूर्ण लम्बाई को एक राजू कहते हैं।"—अनेकान्त vol. 1, 3.

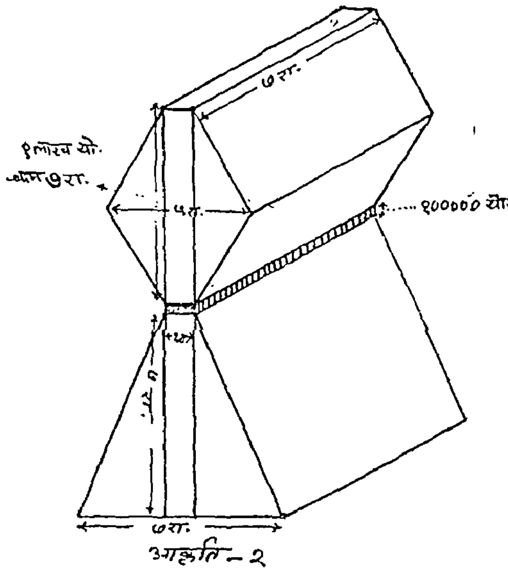
इस तरह दी गई परिभाषा से राजू की गणना नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रलोक से वस्तुओं (Bodies) के गिरने का नियम ज्ञात नहीं है।

प्रतीक रूप में राजू को (७) लिखा जाता है ।

(गा. १, १४९–५१)

[1] वर्ग आधार पर स्थित त्रिलोक के चित्र के लिये आकृति–२ देखिये—

स्केल :- $\frac{1}{2}$ सें. मी. = १रा.



आकृति – २

यहां, ऊर्ध्व लोक,

मध्यलोक (काले रंग द्वारा प्रदर्शित) १००००० यो. × १रा. × ७रा.,

एवं अधोलोक स्पष्ट है।

बाहल्य ७ रा. अर्थात् ७ राजु है। ऊँचाई १४ राजु है। ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई ७ रिण जो. १००००० लिखा है। अर्थात् ग्रंथकार के समय में ऋण के लिये कोई प्रतीक नहीं रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। ऋण और धन के लिये क्रमशः आड़ी रेखा (–) और (+) प्रतीकों के आविष्कार का श्रेय जर्मनी के जे. विडमेन (१४८९) को है। ग्रंथकार ने दूसरी जगह रिण के लिये रि. का उपयोग भी किया है। धवलाकार वीरसेन ने मिश्र शब्द के लिये + प्रतीक दिया है[2]।

(गा. १, १६५)

अधोलोक का घनफल निकालने के लिये लम्ब संक्षेत्र (Right Prism) का घनफल निकालने का सूत्र दिया है, जिसका आधार समलम्ब चतुर्भुज है। वह सूत्र है— (आधार का क्षेत्रफल × संक्षेत्र की ऊँचाई) = संक्षेत्र का घनफल। आधार का क्षेत्रफल निकालने का सूत्र दिया गया है : $\left[\frac{\text{मुख + भूमि}}{2} \times \text{(इन दो समांतर रेखाओं की लम्ब दूरी)}\right]$

१ मिस्र देश के गिज़े में बने हुए महास्तूप (Great Pyramid) से यह लोकाकाश का आकार किंचित् समानता रखता हुआ प्रतीत होता है। विशेष सहसम्बन्ध के विवरण के लिये सन्मति सन्देश, वर्ष १, अंक ११ आदि देखिये।

२ षट्खंडागम पुस्तक ४, पृष्ठ ३२०, ई. स. १९४२.

यह सूत्र आज भी उपयोग में लाया जाता है।

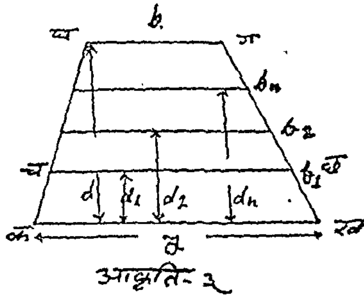
(गा. १, १६६)

अधोलोक का घनफल = $\frac{4}{7}$ × पूर्ण लोक का घनफल[1]।

(गा. १, १६९)

ऊर्ध्वलोक का घनफल भी इसी विधि के आधार पर दो वेत्रासनों में विदीर्ण कर निकाला गया है।

(गा. १, १७६–७९)



इन गाथाओं में[2] समानुपाती भागों के सिद्धान्त का उपयोग है[3]।

आकृति २ में क ख ग घ एक समलम्ब चतुर्भुज है जिसमें कख और गघ समांतर हैं तथा कघ और खग बराबर हैं। कख का माप a और घग का माप b है। कख भूमि और घग मुख है।

यदि कख से उसी के समांतर d_1 ऊँचाई पर मुख की प्राप्ति करना हो तो सूत्र दिया है,

$a - \left[\frac{a-b}{d}\right]d_1 = b_1$ जहां b_1 चछ है।

इसी प्रकार, $a - \left[\frac{a-b}{d}\right]d_2 = b_2$ और साधारण रूप से,

---

१ जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ११, १०९–१०.

२ ये विधियाँ और नियम जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी उल्लेखित हैं। १।२७; ४।३९; १०।२१.

३ समानुपात के सिद्धान्त के आविष्कार के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेखनीय है,

"It is true that we have no positive evidence of the use by Pythagoras of proportions in geometry, although he must have been conversant with similar figures, which imply some theory of proportion".

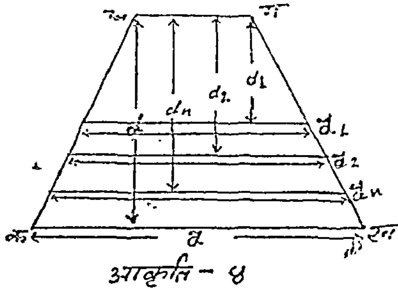
पुनः "The anonymous author of a scholium to Euclid's Book V, who is perhaps Proclus, tells us that 'some say' that this Book, containing the general theory of proportion which is equally applicable to geometry, arithmetic, music and all mathematical science, 'is the discovery of Eudoxus, the teacher af Plato.' 3—Heath, Greek Mathematics, Vol. 1, pp. 85 & 325, Edn. 1921.

साथ ही, कम से कम २१३ ईस्वी पूर्व के अभिलेखों के आधार पर, इस सम्बन्ध में चीनी अभिज्ञान पर कूलिज का अभिमत यह है,

"The Chinese, be it noted, were familiar with the properties of similar triangles and invented many problems connected with them".

—Coolidge, A History of Geometrical Methods, p. 22, Edn. 1940

$a - \left[\frac{a-b}{d}\right] d_n = b_n$, जहाँ d_n कोई भी इच्छित ऊँचाई है, और मुख b_n है।



आकृति – ४

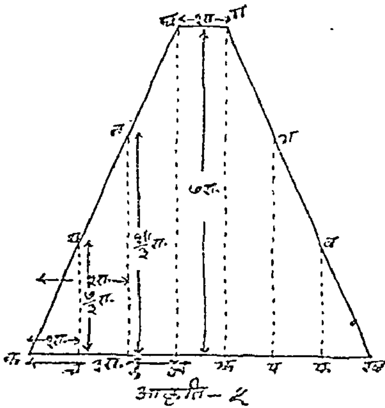
इसी प्रकार आकृति–४ में वही आकृति है और घग के समांतर किसी विवक्षित निचाई पर भूमि निकालने का साधारण सूत्र लिखा जा सकता है।

$$b + \left[\frac{a-b}{d}\right] d_n = a_n.$$

इस प्रकार, भूमि ७ राजु (१ जगश्रेणी) तथा मुख १ राजु लेकर ग्रंथकार ने ऊँचाई सात राजु को १ राजु प्रमाण से विभक्त कर सात पृथ्वियाँ प्राप्त कर उनके मुख और भूमि उपर्युक्त सूत्र से निकाले हैं। फिर, उनका घनफल अलग अलग लम्ब संक्षेत्र (जिसका आधार समलम्ब चतुर्भुज है) सूत्र द्वारा निकाला है। इस रीति से कुल घनफल का योग १९६, घन राजु बतलाया है।

(गा. १, १८०–८३)

अधोलोक का घनफल एक और रीति से निकालकर बतलाते हैं। आकृति ५ में लोक के अंत अर्थात् क ख से दोनों पार्श्वभागों अर्थात् क घ और ख ग की दिशाओं से, क्रमशः ३ राजु, २ राजु और १ राजु भीतर की ओर प्रवेश करने पर उनकी क्रमशः ७ राजु, $\frac{१४}{३}$ राजु और $\frac{७}{३}$ राजु ऊँचाईयाँ प्राप्त होती हैं।



आकृति – ५

इस प्रकार यह क्षेत्र, भिन्न भिन्न आकृतियों के क्षेत्र में विभक्त हो जाता है। ये आकृतियाँ त्रिभुज और समलम्ब चतुर्भुज हैं, तथा मध्य क्षेत्र आयत ज झ ग घ है। ऐसे क्षेत्रों के क्षेत्रफल निकालने के लिये दो सूत्र दिये गये हैं[1]।

त्रिकोण क च थ का क्षेत्रफल निकालने के लिये समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालने के उपयोग में लाये जानेवाले सूत्र का उपयोग है[2]।

---

१ इस सम्बन्ध में मिश्र में प्रचलित विधि के विषय में यह विवादास्पद मत है—

"The triangles in their pictures look like long and undernourished isosceles triangles, and some commentators have assumed that the Egyptians believed that the area of an isosceles triangle is one-half the product of two unequal sides."

—Coolidge, A History of Geometrical Methods, p 10, Edn. 1940.

२ इस सूत्र को महावीराचार्य ने गणितसारसंग्रह के सातवें अध्याय में ५० वीं गाथा द्वारा निरूपित किया है।

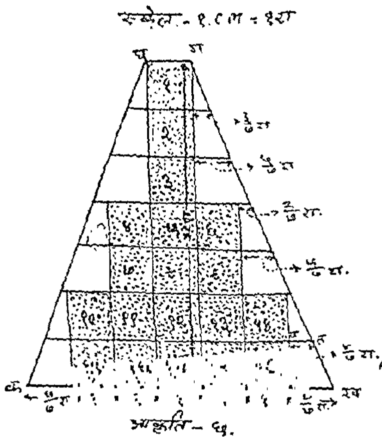
यहाँ भुजा क च मान ली जाय तो सम्मुख भुजा शून्य होगी और ऊँचाई च थ होगी, इसीलिये इस समकोण त्रिभुज का क्षेत्रफल $=\left(\frac{१+०}{२}\right)\frac{७}{३}=\frac{७}{६}$ वर्ग राजु प्राप्त होता है। दूसरा सूत्र इस प्रकार है—लम्ब बाहु युक्त क्षेत्र क च थ है। यहाँ व्यास क च तथा लम्ब बाहु च थ मान लेने पर, क्षेत्रफल $=$ लम्बबाहु $\times\frac{\text{व्यास}}{२}$ होता है।

शेष क्षेत्रों के लिये "भुज-पडिभुजमिलिदद्धं……" सूत्र का प्रयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार क च थ प्रथम अभ्यंतर क्षेत्र, च छ त थ द्वितीय, और छ ज घ त तृतीय अभ्यंतर क्षेत्र हैं जिनके क्षेत्रफल क्रमशः $\frac{७}{६}$, $\frac{७}{२}$ और $\frac{३५}{६}$ वर्ग राजु हैं। चूँकि प्रत्येक का बाहल्य ७ राजु है इसलिये इन तीनों क्षेत्रों का (जो बाहल्य लेने से सांद्र संक्षेत्रों (लम्ब संक्षेत्र) में बदल जाते हैं उनका) घनफल क्रमशः $८\frac{१}{६}$, $२४\frac{१}{२}$ और $४०\frac{५}{६}$ घन राजु होता है। इसी तरह, पूर्व पार्श्व ओर से लिये गये क्षेत्रों का घनफल होता है। शेष मध्य क्षेत्र का घनफल $१\times७\times७=४९$ घन राजु होता है। सबका योग करने पर १९६ घन राजु अधोलोकका घनफल प्राप्त होता है।

(गा. १, १८४–१९१)

अधोलोक का घनफल निकालने के लिये तीसरी विधि भी है (आकृति–६ देखिये)।

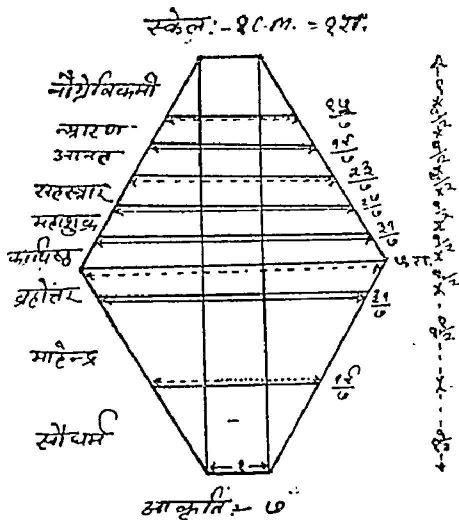


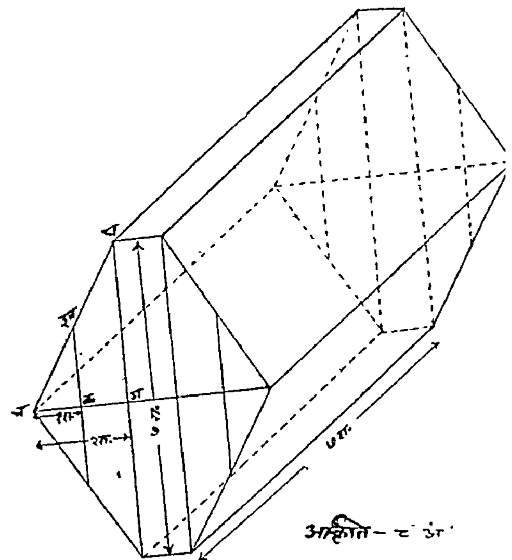
आकृति–६.

इस प्रशंसनीय विधि में क्षेत्र क ख ग घ में से १ वर्ग राजुवाले १९ क्षेत्रों को अलग निकाल कर शेष आकृतियों का क्षेत्रफल निकाला गया है और अंत में प्रत्येक के ७ राजु बाहल्य से उन्हें गुणित कर अंत में सबका योग कर अधोलोक का घनफल निकाला गया है। आकृति में छाया वर्ग अलग दर्शाये गये हैं और बची हुई भुजायें समानुपात के प्रमेय द्वारा निकाल कर क्रमशः ऊपर से दोनों पार्श्वों में $\frac{३}{७}$, $\frac{६}{७}$, $\frac{२}{७}$, $\frac{५}{७}$, $\frac{१}{७}$, $\frac{४}{७}$ तथा अंत में $\frac{७}{७}$ या १ राजु प्राप्त की गई हैं। लोक के अंत की आकृति ख त थ द का क्षेत्रफल $=$ $\left[\left\{\left(\frac{४}{७}+\frac{७}{७}\right)\div२\right\}\times\text{दथ}\right]$ वर्ग राजु है, और घनफल $=\left\{\left(\frac{४}{७}+\frac{७}{७}\right)\div२\right\}\times१\times७$ घन राजु है। इसी प्रकार, समस्त शेष क्षेत्रों का घनफल, ६१ घन राजु प्राप्त होता है। इसमें, १९ वर्ग क्षेत्रों का घनफल $१९\times७=१३३$ घन राजु जोड़ने पर, कुल १९६ घन राजु, अधोलोक का घनफल प्राप्त होता है।

(गा. १, १९३–९९)

समानुपात के नियम के अनुसार भूमि से १$\frac{१}{२}$, १$\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, ... आदि ऊँचाइयों पर उपर्युक्त नियम द्वारा विभिन्न मुखों के प्रमाण निकाले गए हैं जो आकृति–७ में दिये गये हैं। इसी प्रकार, यहाँ समलम्ब चतुर्भुज आधारवाले ९ लम्ब संक्षेत्र प्राप्त होते हैं जिनके घनफलों का योग करने पर ऊर्ध्व लोक का घनफल १४७ घन राजु प्राप्त होता है।





(गा. १, २००–२०२)

(आकृति–८ में) पूर्व और पश्चिम से क्रमशः १ राजु और २ राजु ब्रह्म स्वर्ग के उपरिम भाग से प्रवेश करने पर स्तम्भोत्सेध क्रमशः क ख = $\frac{७}{४}$ राजु और ग घ = $\frac{५}{२}$ राजु प्राप्त होते हैं। शेष प्रक्रिया इस प्रकार है कि च क ख क्षेत्र का क्षेत्रफल

$$= १ \times \frac{७}{४} \times \frac{१}{२}$$

∴ च क ख संक्षेत्र का घनफल

$$= १ \times \frac{७}{४} \times \frac{१}{२} \times ७ = \frac{४९}{८} = ६\frac{१}{८}$$ घन राजु

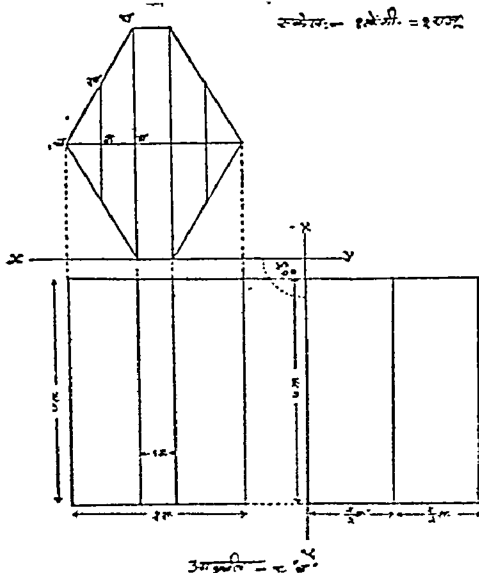
इसी तरह संक्षेत्र क ख घ ग का घनफल

$$= \left[\frac{\frac{७}{४} + \frac{५}{२}}{२}\right] \times १ \times ७$$

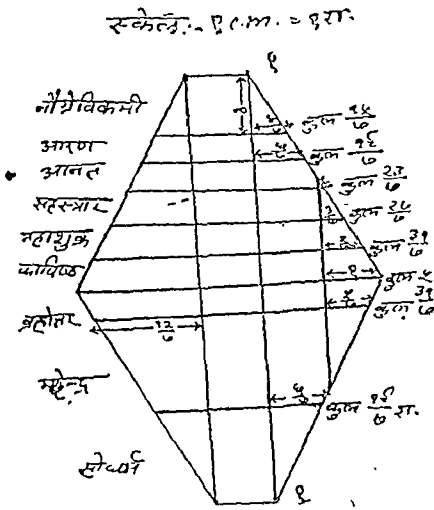
$= १८\frac{३}{८}$ घन राजु

= ३ (संक्षेत्र च क ख)

इनके योग का चौगुना करके उसमें अवशेष मध्यभाग का घनफल जोड़ कर ऊर्ध्व लोक का घनफल निकाला गया है।



(गा. १, २०३–१४)



आकृति –९

आकृति–९ में ऊर्ध्व लोक को पूर्व पश्चिम से, ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के ऊपर से क्रमशः १ और २ राजु प्रवेश कर स्तंभों द्वारा विभक्त कर दिया है। इस प्रकार विभक्त करने से बाह्य छोटी भुजायें चित्र में बतलाये अनुसार शेष रहती है। निम्न लिखित स्पष्टीकरण से, इस छेदविधि द्वारा निकाला गया ऊर्ध्व लोक का घनफल स्पष्ट हो जावेगा।

(प्रत्येक क्षेत्र का बाहल्य ७ राजु है)

सौधर्म के त्रिभुज (बाह्य क्षेत्र) का घनफल

$= \frac{१}{२} \times \frac{६}{७} \times \frac{३}{२} \times ७ = ४\frac{१}{२}$ घन राजु।

सानत्कुमार के बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल

$= (\frac{१२}{७} + \frac{६}{७})\frac{१}{२} \times ७ \times \frac{३}{२} = \frac{२७}{२} = १३\frac{१}{२}$ घनराजु।

और इसके बाह्य त्रिभुज का घनफल =

$\frac{५}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{५}{४} \times ७ = \frac{२५}{८} = ३\frac{१}{८}$ घन राजु।

(यहाँ, $\frac{५}{४}$ राजु उत्सेध प्राप्त करना उल्लेखनीय है जो माहेन्द्र के तल से $\frac{१}{४}$ रा. ऊपर से लेकर ब्रह्मोत्तर के तल तक सीमित है।)

$\therefore$ अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल $= \frac{२७}{२} - \frac{२५}{८} = \frac{८३}{८}$ घन राजु।

ब्रह्मोत्तर क्षेत्र का घनफल $= \frac{१}{२} (\frac{५}{७} + १) \times \frac{१}{२} \times ७ = ३$ घन राजु।

यही, कापिष्ठ क्षेत्र का भी घनफल है।

महाशुक्र का घनफल $= (\frac{५}{७} + \frac{३}{७}) \frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times ७ = २$ घनराजु।

सहस्रार का बाह्य घनफल $= \frac{१}{२} (\frac{३}{७} + \frac{१}{७}) \times \frac{१}{२} \times ७ = १$ घनराजु।

आनत का बाह्य और अभ्यंतर घनफल $= (\frac{८}{७} + \frac{६}{७}) \frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times ७ = \frac{७}{२}$ घनराजु।

,, बाह्य घनफल $= \frac{१}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{१}{४} \times ७ = \frac{१}{८}$ घनराजु।

$\therefore$ अभ्यंतर का घनफल $= \frac{७}{२} - \frac{१}{८} = \frac{२७}{८} = ३\frac{३}{८}$ घनराजु।

आरण का घनफल $= (\frac{६}{७} + \frac{४}{७}) \frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times ७ = \frac{५}{२}$ घनराजु।

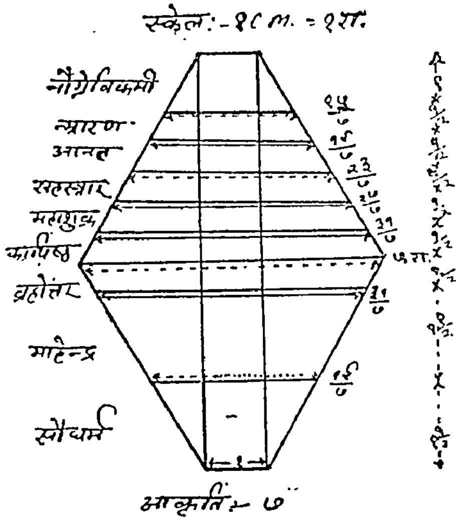
नौ ग्रैवेयकादि का घनफल $= \frac{४}{७} \times \frac{१}{२} \times १ \times ७ = \frac{४}{२}$ घनराजु।

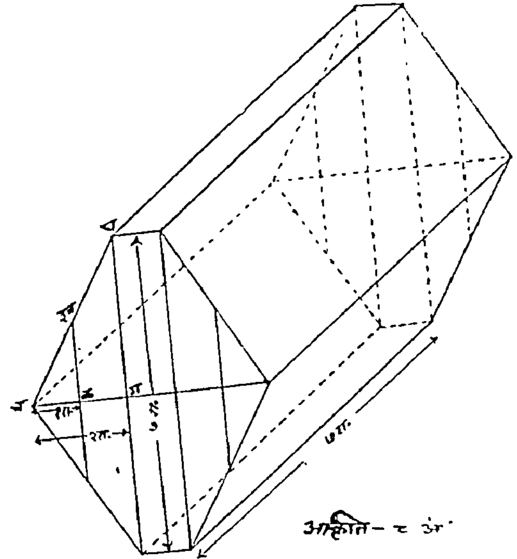
पूर्वोक्त घनफलों का योग = ३५ घनराजु है, इसलिये पूर्व पश्चिम दोनों ओर के ऐसे क्षेत्रों का घनफल ७० घनराजु होता है। इनके सिवाय, अर्द्ध घन राजुओं (दल घनराजुओं) का घनफल $= २ \times ४ \times [\frac{१}{२} \times १ \times ७] = २८$ घनराजु और मध्यम क्षेत्र (त्रसनाली) का घनफल $= १ \times ७ \times ७ = ४९$ घनराजु।

$\therefore$ कुल घनफल $= २८ + ४९ + ७० = १४७$ घनराजु।

(गा. १, १९३–९९)

समानुपात के नियम के अनुसार भूमि से $१\frac{१}{२}$, $१\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, ... आदि ऊँचाइयों पर उपर्युक्त नियम द्वारा विभिन्न मुखों के प्रमाण निकाले गए हैं जो आकृति–७ में दिये गये हैं। इसी प्रकार, यहाँ समलम्ब चतुर्भुज आधारवाले ९ लम्ब संक्षेत्र प्राप्त होते हैं जिनके घनफलों का योग करने पर ऊर्ध्व लोक का घनफल १४७ घन राजु प्राप्त होता है।





(गा. १, २००–२०२)

(आकृति–८ में) पूर्व और पश्चिम से क्रमशः १ राजु और २ राजु ब्रह्म स्वर्ग के उपरिम भाग से प्रवेश करने पर स्तम्भोत्सेध क्रमशः क ख = $\frac{७}{४}$ राजु और ग घ = $\frac{७}{२}$ राजु प्राप्त होते हैं। शेष प्रक्रिया इस प्रकार है कि च क ख क्षेत्र का क्षेत्रफल

$$= १ \times \frac{७}{४} \times \frac{१}{२}$$

$\therefore$ च क ख संक्षेत्र का घनफल

$$= १ \times \frac{७}{४} \times \frac{१}{२} \times ७ = \frac{४९}{८} = ६\frac{१}{८}$$ घन राजु

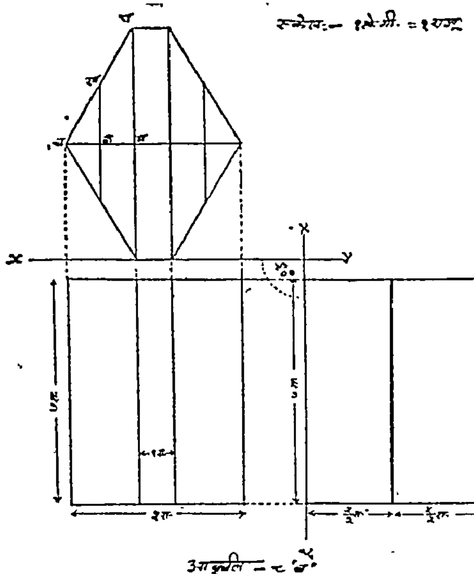
इसी तरह संक्षेत्र क ख घ ग का घनफल

$$= \left[\frac{\frac{७}{४} + \frac{७}{२}}{२}\right] \times १ \times ७$$

$= १८\frac{३}{८}$ घन राजु

$= ३$ (संक्षेत्र च क ख)

इनके योग का चौगुना करके उसमें अवशेष मध्यभाग का घनफल जोड़ कर ऊर्ध्व लोक का घनफल निकाला गया है।



(गा. १, २०३-१४)

आकृति—९ में ऊर्ध्व लोक को पूर्व पश्चिम से, ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के ऊपर से क्रमशः १ और २ राजु प्रवेश कर स्तंभों द्वारा विभक्त कर दिया है। इस प्रकार विभक्त करने से बाह्य छोटी भुजायें चित्र में बतलाये अनुसार शेष रहती है। निम्न लिखित स्पष्टीकरण से, इस छेदविधि द्वारा निकाला गया ऊर्ध्व लोक का घनफल स्पष्ट हो जावेगा।

(प्रत्येक क्षेत्र का बाहल्य ७ राजु है)

सौधर्म के त्रिभुज (बाह्य क्षेत्र) का घनफल

$=\frac{१}{२}\times\frac{६}{७}\times\frac{३}{२}\times ७=४\frac{१}{२}$ घन राजु।

सानत्कुमार के बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल

$=(\frac{१२}{७}+\frac{६}{७})\frac{१}{२}\times ७\times\frac{३}{२}=\frac{२७}{२}=१३\frac{१}{२}$ घनराजु।

और इसके बाह्य त्रिभुज का घनफल =

$\frac{५}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{५}{४}\times ७=\frac{२५}{८}=३\frac{१}{८}$ घन राजु।

आकृति -९

(यहाँ, $\frac{५}{४}$ राजु उत्सेध प्राप्त करना उल्लेखनीय है जो माहेन्द्र के तल से $\frac{१}{४}$ रा. ऊपर से लेकर ब्रह्मोत्तर के तल तक सीमित है।)

$\therefore$ अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल $=\frac{२७}{२}-\frac{२५}{८}=\frac{८३}{८}$ घन राजु।

ब्रह्मोत्तर क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}(\frac{५}{७}+१)\times\frac{१}{२}\times ७=३$ घन राजु।

यही, कापिष्ठ क्षेत्र का भी घनफल है।

महाशुक्र का घनफल $=(\frac{५}{७}+\frac{३}{७})\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=२$ घनराजु।

सहस्रार का बाह्य घनफल $=\frac{१}{२}(\frac{३}{७}+\frac{१}{७})\times\frac{१}{२}\times ७=१$ घनराजु।

आनत का बाह्य और अभ्यंतर घनफल $=(\frac{८}{७}+\frac{६}{७})\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{७}{२}$ घनराजु।

,, बाह्य घनफल $=\frac{१}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{४}\times ७=\frac{१}{८}$ घनराजु।

$\therefore$ अभ्यंतर का घनफल $=\frac{७}{२}-\frac{१}{८}=\frac{२७}{८}=३\frac{३}{८}$ घनराजु।

आरण का घनफल $=(\frac{६}{७}+\frac{४}{७})\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{५}{२}$ घनराजु।

नौ ग्रैवेयकादि का घनफल $=\frac{४}{७}\times\frac{१}{२}\times १\times ७=\frac{४}{२}$ घनराजु।

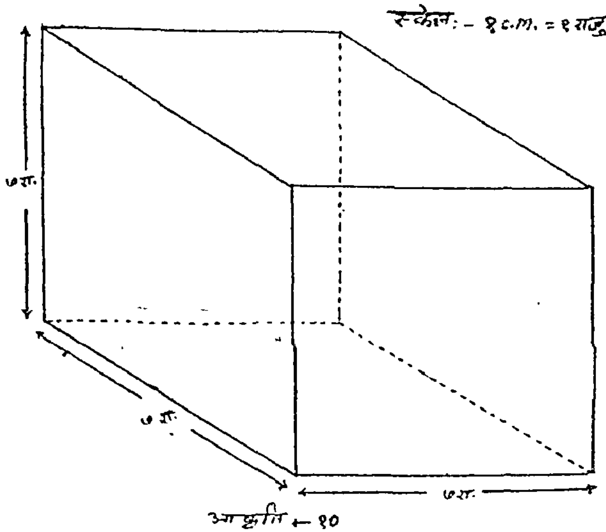
पूर्वोक्त घनफलों का योग = ३५ घनराजु है, इसलिये पूर्व पश्चिम दोनों ओर के ऐसे क्षेत्रों का घनफल ७० घनराजु होता है। इनके सिवाय, अर्द्ध घन राजुओं (दल घनराजुओं) का घनफल $= २\times ४\times[\frac{१}{२}\times १\times ७]=२८$ घनराजु और मध्यम क्षेत्र (त्रसनाली) का घनफल $=१\times ७\times ७=४९$ घनराजु।

$\therefore$ कुल घनफल $=२८+४९+७०=१४७$ घनराजु।

यहाँ सांद्र घन क्षेत्रों को समान घनफलवाले अन्य नियमित सांद्र क्षेत्रों में बदलकर, तत्कालीन क्षेत्रमिति और सांद्र रैखिकी का प्रदर्शन किया गया है। सम्पूर्ण लोक को आठ प्रकार के समान घनफल (३४३ घन राजु) वाले सांद्रों (Solids) में परिणत किया है। इनमें से जिन क्षेत्रों का रूप चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है, वे अनुमान से बनाये गये हैं, क्योंकि मूल गाथा में इन क्षेत्रों के केवल नाम दिये गये हैं, चित्र नहीं।

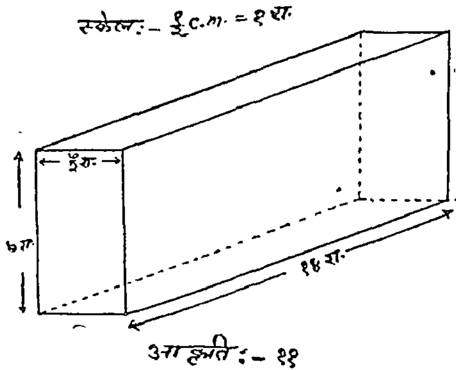
(१) सामान्य लोक — इसका वर्णन पहिले ही दे चुके हैं। चित्रण के लिये आकृति–२ देखिये।

(२) घनाकार सांद्र— यह आकृति–१० में दर्शाया गया है। इसका घनफल = ७ × ७ × ७ = ३४३ घनराजु है।



आकृति – १०

(३) तिर्यक्आयत चतुरस्र या Cuboid (आयतज)— इसका घनफल ३½ × ७ × १४ या ३४३ घन राजु है। (आकृति ११ देखिये)



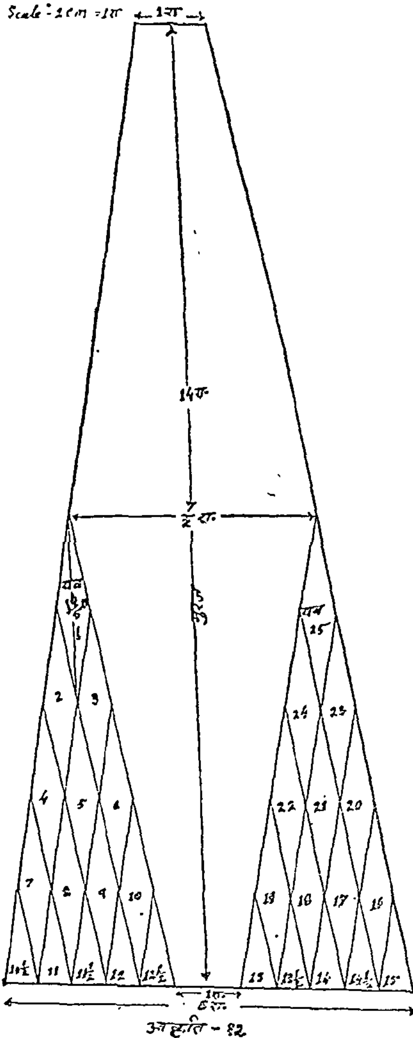
आकृति :- ११

(गा. १, २१७–१९)

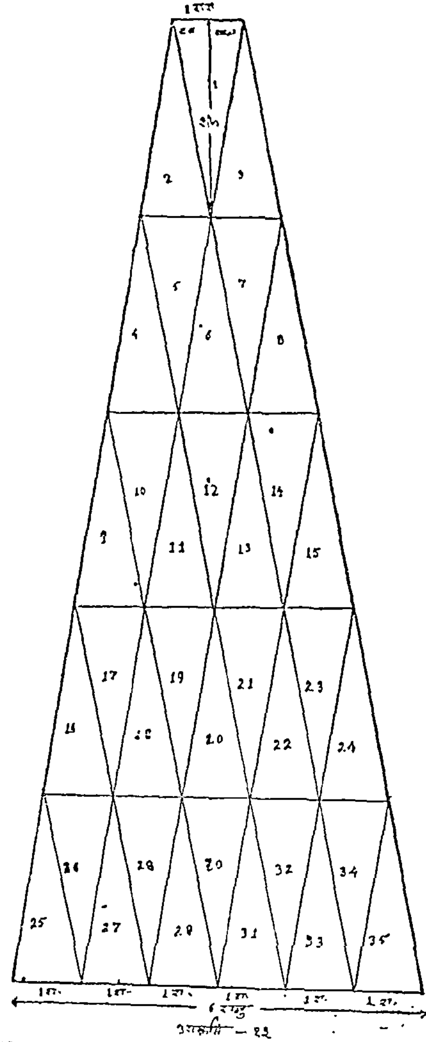
(४) यवमुरज क्षेत्र—(आकृति–१२ देखिये)। यह आकृति, क्षेत्र के उदग्र समतल द्वारा प्राप्त छेद (Vertical Section) है। इसका विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है।

यहाँ मुरज का क्षेत्रफल $\{(\frac{७}{२}$ रा + १ रा$) \div २\} \times$ १४ रा $= \{\frac{९}{२} \times \frac{१}{२}\} \times १४$

$= \frac{९}{२} \times \frac{७}{१} = \frac{६३}{२}$ वर्ग राजु



आकृति – १२



आकृति – १२

इसलिए, मुरज का घनफल $= \frac{६३}{२} \times ७ = \frac{४४१}{२}$ घन राजु $=$ २२० $\frac{१}{२}$ घन राजु।

एक यव का क्षेत्रफल $(\frac{१}{२}$ रा. $\div २) \times \frac{१४}{५}$ राजु $= \frac{१}{२} \times \frac{७}{५} = \frac{७}{१०}$ वर्ग राजु,

इसलिये, २५ यव का क्षेत्रफल $= \frac{७}{२} \times \frac{५}{१} = \frac{३५}{२}$ वर्ग राजु;

इस प्रकार २५ यव का घनफल $= \frac{३५}{२} \times \frac{७}{१} = \frac{२४५}{२}$ घन राजु $=$ १२२$\frac{१}{२}$ घन राजु।

(५) यवमध्य क्षेत्र—(पृ. ३१ पर आकृति–१३ देखिये)। यह आकृति, क्षेत्र के उदग्र समतल द्वारा प्राप्तछेद (Vertical section) है। इसका आगे-पीछे (उत्तर-दक्षिण) विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है।

यहाँ, यवमध्य का क्षेत्रफल (१ ÷ २) × $\frac{१४}{५}$ = $\frac{७}{५}$ वर्ग राजु,

इसलिये, ३५ यवमध्य का क्षेत्रफल = $\frac{७}{५}$ × $\frac{३५}{१}$ = ४९ वर्ग राजु;

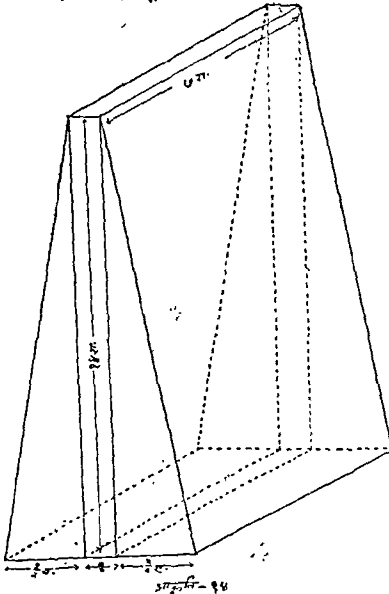
इस प्रकार, ३५ यवमध्य का घनफल = ४९ × ७ घन राजु = ३४३ घन राजु;

और, एक यवमध्य का घनफल = $\frac{३४३}{३५}$ = १९$\frac{३}{५}$ घन राजु।

इस गाथा के उपरान्त दिया गया निदर्शन $\frac{\equiv}{३५}$ | ≡ | ≡ | इस चित्र से ही स्पष्ट है। $\frac{\equiv}{३५}$ एक यवमध्य का घनफल है तथा ≡ | ≡ का अर्थ यह है कि १४ राजु ऊँचाई को पाँच बराबर भागों में विभक्त कर ३५ यवमध्यों को प्राप्त करना है।

(गा. १, २२०)

(६) मन्दराकार क्षेत्र—(आकृति–१४ देखिये)। इस क्षेत्र की भूमि ६ राजु, मुख १ राजु, ऊँचाई १४ राजु, और मुटाई ७ राजु ली गई है।


आकृति–१४

पुनः, समानुपात के सिद्धान्तों के द्वारा क्रमशः भूमि से $\frac{४}{३}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}+\frac{३१}{६}$, $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}+\frac{३१}{६}+\frac{३}{२}$ और अंत में $\frac{४}{३}+\frac{२}{३}+\frac{३}{२}+\frac{३१}{६}+\frac{३}{२}+\frac{२३}{६}$ राजुओं की ऊँचाईयों पर मुखों के विस्तार निकाले हैं। ये ऊँचाइयाँ साधित करने पर, क्रमशः $\frac{४}{३}$, २, $\frac{७}{२}$, $\frac{५२}{६}$, $\frac{६१}{६}$ और $\frac{८४}{६}$ अर्थात् १४ राजु प्राप्त होती हैं। [यहाँ २२१ से २२४वीं *गाथाओं का स्पष्टीकरण बाद में करेंगे।*]

ऐसे मन्दाकार क्षेत्र का घनफल = $\frac{६+१}{२}$ × १४ × ७ = ३४३ घन राजु है। दूसरी रीति से, इस क्षेत्र को ऊपर दी गई ऊँचाइओं पर विभक्त करने से ६ क्षेत्र प्राप्त होते हैं।

जब ऊँचाई $\frac{४}{३}$ राजु ली जाती है तो उस ऊँचाई पर व्यास उपर्युक्त नियम के अनुसार $६-\left[\frac{६-१}{१४}\right]\times\frac{४}{३}=\frac{११६}{२१}$ राजु प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब ऊँचाई $\frac{६}{३}$ या २ राजु ली जाती है तो विस्तार $६-\left\{\left(\frac{६-१}{१४}\right)\times २\right\}$ अर्थात् $\frac{३७}{७}$ या $\frac{१११}{२१}$ राजु प्राप्त होता है। इस प्रकार, इसी विधि से उन भिन्न भिन्न ऊँचाइओं पर विस्तार क्रमशः $\frac{३९९}{८४}$, $\frac{२४४}{८४}$, $\frac{१९९}{८४}$, $\frac{८४}{८४}$ प्राप्त होते हैं। अन्तिम माप, $\frac{८४}{८४}$ अर्थात् १ राजु, मंदराकार क्षेत्र का मुख है और भूमि $\frac{१२६}{२१}$ या ६ राजु है। इस प्रकार प्राप्त विभिन्न क्षेत्रों के घनफल निम्न लिखित रीति से प्राप्त करते हैं।

प्रथम क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{१२६}{२१}+\frac{११६}{२१}\right]\times\frac{४}{३}\times ७=\frac{४८४}{९}$ घनराजु।

द्वितीय क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{११६}{२१}+\frac{१११}{२१}\right]\times\frac{२}{३}\times ७=\frac{२२७}{९}$ घनराजु।

तृतीय क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{१११}{२१}+\frac{३९९}{८४}\right]\times\frac{३}{२}\times ७=\frac{८४३}{१६}$ घनराजु।

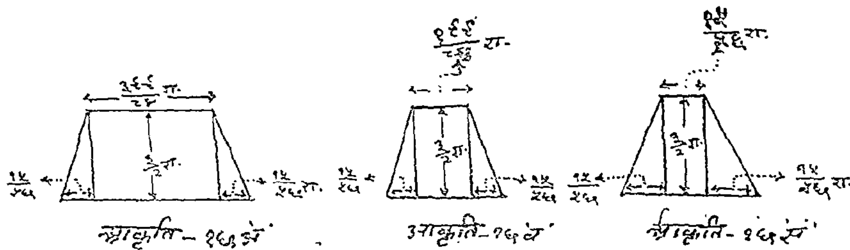
चतुर्थ क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{३९९}{८४}+\frac{२४४}{८४}\right]\times\frac{३१}{६}\times ७=\frac{१९९३३}{१४४}$ घनराजु।

पंचम क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{२४४}{८४}+\frac{१९९}{८४}\right]\times\frac{३}{२}\times ७=\frac{४४३}{१६}$ घनराजु।

षष्ठम क्षेत्र का घनफल $=\frac{१}{२}\left[\frac{१९९}{८४}+\frac{८४}{८४}\right]\times\frac{२३}{६}\times ७=\frac{६५०९}{१४४}$ घनराजु।

इन सबका योग ३४३ घनराजु प्राप्त होता है। यह प्रमाण सामान्य लोक के घनफल के तुल्य है।

तृतीय और पंचम क्षेत्र के घनफलों को प्राप्त करने की विधि मूल गाथा से नहीं मिलती है। इसका स्पष्टीकरण करते हैं (आकृति–१६ 'अ', 'ब' देखिये)—



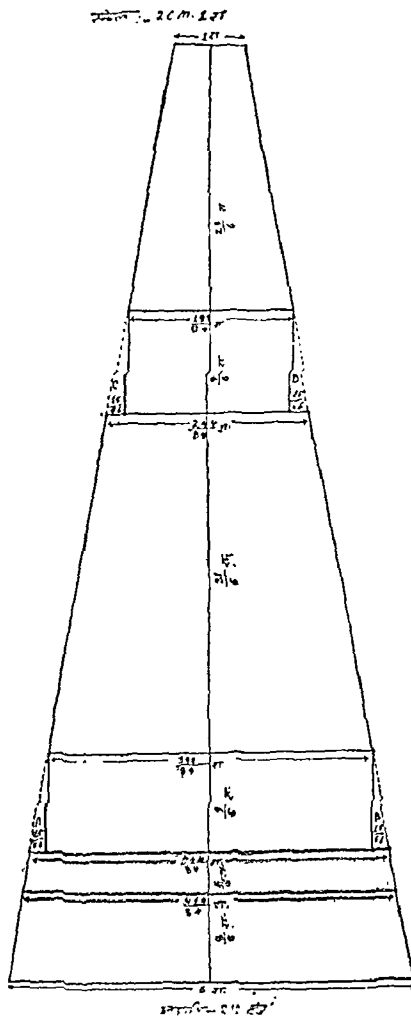
तृतीय क्षेत्र और पंचम क्षेत्र में से अंतर्वर्ती करणाकार क्षेत्रों को अलग कर, एक जगह स्थापित करने से, निम्न लिखित आकृति प्राप्त होती है,

जिसका घनफल $\frac{१}{२}\left[\frac{१५}{५६}+\frac{४५}{५६}\right]\times\frac{३}{२}\times ७=\frac{४५}{८}$ घनराजु प्राप्त होता है। आकृति–१६ 'स' देखिये।

इस प्रकार ग्रंथकार ने तृतीय और पंचम क्षेत्रों में से चार ऐसे त्रिभुजों को (जिनकी : $\frac{१५}{५६}$ योजन लम्बाई और $\frac{३}{२}$ योजन ऊँचाई हैं) निकाल कर, अलग से, मंदराकार क्षेत्र में सबसे ऊपर स्थापित किया है। तृतीय क्षेत्र में से जब $२\times\left(\frac{१५}{५६}\times\frac{३}{२}\right)\times\frac{१}{२}\times ७$ अर्थात् $\frac{४५}{१६}$ घन राजु घटाते हैं तो $\frac{८४३}{१६}-\frac{४५}{१६}$

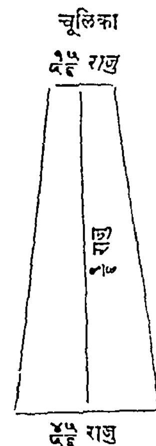
अर्थात् $\frac{३९९}{८}$ घन राजु बच रहता है। यही प्रमाण मूलगाथा में दिया गया है[१]। इसी प्रकार पंचम क्षेत्र में से $२(\frac{१५}{५६} \times \frac{३}{२}) \times \frac{१}{२} \times ७$ अर्थात् $\frac{४५}{१६}$ घन राजु घटाते हैं तो मूलगाथानुसार $\frac{६४३}{१६} - \frac{४५}{१६}$ अर्थात् $\frac{२९९}{८}$ घन राजु प्राप्त होते हैं। अंतिम उपरिम भाग में स्थित क्षेत्र का घनफल $\frac{४५}{८}$ रहता है। इस प्रकार, कुल घनफल ३४३ घन राजु प्राप्त किया गया है।

(गा. १, २२०–२२१)



यहां आकृति–१५ मन्दराकार क्षेत्र का उदग्र छेद (vertical section) है। त्रिभुज क्षेत्र A. B. C. D. से यह चूलिका बनी है, प्रत्येक त्रिभुज क्षेत्र का आधार $\frac{१५}{५६}$ राजु तथा ऊँचाई $\frac{१}{२}$ राजु है।

चूलिका

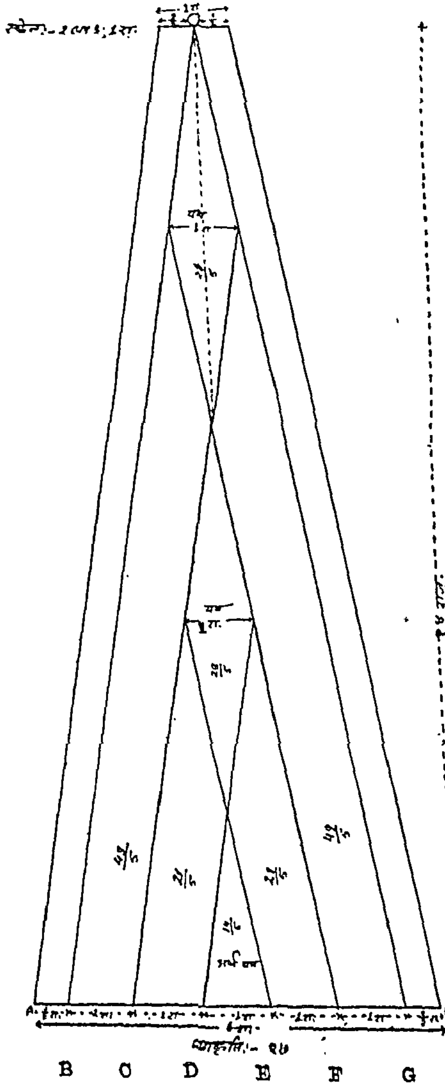


इन चार त्रिभुज क्षेत्रों में से तीन क्षेत्रों के आधार से चूलिका का आधार ($\frac{१५}{५६} \times ३ = \frac{४५}{५६}$) बना है और एक त्रिभुज क्षेत्र के आधार से चूलिका की चोटी की चौड़ाई $\frac{१५}{५६}$ राजु बनी है।

१ मूल में दिये हुए प्रतीकों (२२० वीं गाथा) का स्पष्टीकरण इस तरह से हो सकता है। $\frac{३}{१४} - \frac{१५}{३९२}$ का अर्थ $\frac{३}{१४} \times ७$ ऊँचाई और $\frac{१५}{३९२} \times ७$ आधार है। समलम्ब चतुर्भुज के चित्र का

(शेष पृ. ३५ पर देखिये)

(गा. १, २३२-३३)



आकृति-१७

(७) दूष्य क्षेत्र— यह आकृति-१७ कथित क्षेत्र का उदग्र छेद (vertical section) है। इसके आगे पीछे (उत्तर दक्षिण) के विस्तार ७ राजु का चित्रण यहाँ नहीं हुआ है।

बाहरी दोनों प्रवण क्षेत्रों का घनफल $\frac{१}{२}$ राजु $\times$ १४ राजु $\times$ ७ $\times$ २ ie O J A B + O I H G = ९८ घनराजु।

भीतरी दोनों प्रवण क्षेत्रों का घनफल $\frac{४९}{५} \times ७ \times २$ X K C B + Y K F G = $\frac{६८६}{५}$ = १३७$\frac{१}{५}$ घन राजु।

दोनों लघु प्रवण क्षेत्रों का घनफल $\frac{२१}{५} \times ७ \times २$ L N D C + M N E F $\frac{२९४}{५}$ = ५८$\frac{४}{५}$ घन राजु।

यव क्षेत्र = $\frac{५}{२}$ यव का घनफल

O X K Y + K L N M + N D E ($\frac{२८}{१०} + \frac{२८}{१०} + \frac{१४}{१०}$) + ७ = $\frac{७०}{१०} \times ७$ = ४९ घनराजु।

(गा. १, २३४)

(८) गिरिकटक क्षेत्र— पांचवीं आकृति, यव मध्य क्षेत्र, को देखने पर ज्ञात होता है कि उसमें २० गिरियां हैं। एक गिरि का घनफल $\frac{४९}{५}$ घनराजु है, इसलिये २० गिरियों का घनफल २० $\times \frac{४९}{५}$ = १९६ घन राजु प्राप्त होता है। ३५ यवमध्यों का घनफल ३४३ घन राजु आता है जो (२० गिरियों के समूह में शेष उल्टी गिरियों के घनफल को मिला देने पर) कुल गिरिकटक क्षेत्र का मिश्र घनफल कहा गया है। इस प्रकार हमें गिरिकटक क्षेत्र और यवमध्य क्षेत्र के निरूपण में विशेष भेद नहीं मिल सका है।

अर्थ इस भांति है कि भूमि ६ योजन को $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$ भागों, १ भाग और $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$ राजुओं में विभक्त किया है। ऊँचाई को समान रूप से विभक्त करने पर विस्तार ३ राजु लिखा हुआ है और १४ राजु ऊँचाई को ७, ७ राजु में विभक्त कर लिखा गया है।

प्र. $\frac{५-२}{७२} \mid \frac{१}{७२}$ का अर्थ $\frac{५ \times ७ \times २}{७ \times २}$, $\frac{१}{७ \times २}$.

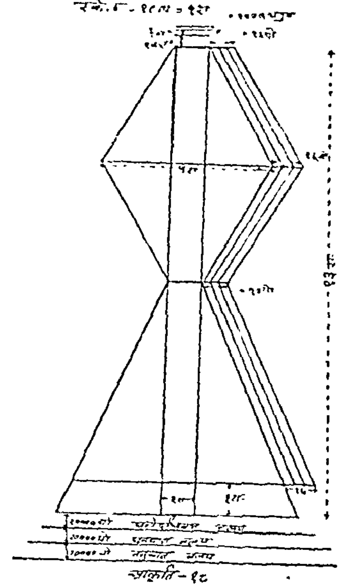
अर्थात् $\frac{५}{१४}$ राजु हानि-वृद्धि प्रमाण हो सकता है। शेष स्पष्ट नहीं है।

अगली गाथाओं (२३४-२६६) में ऊर्ध्व और अधोलोक क्षेत्रों को इन्हीं आठ प्रकार की आकृतियों (figures) में बदल कर प्ररूपण किया गया है। उपर्युक्त विवरण, यूनानियों की क्षेत्र प्रयोग विधि (method of application of areas) के विवरण के सदृश है।

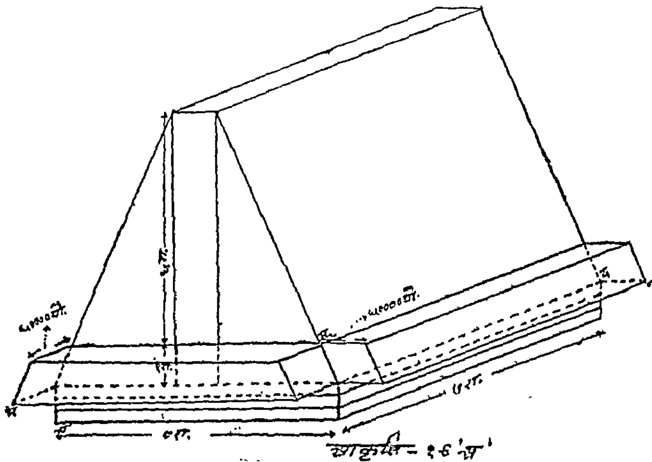
इन गाथाओं में भिन्न भिन्न घनफल लेकर, सामान्य लोक अथवा उसके भागों (जैसे, अधोलोक और ऊर्ध्व लोक) के घनफल के तुल्य उपर्युक्त आकृतियों को प्राप्त करने के लिये वर्णन दिया गया है। प्रक्रियाएँ और आकृतियाँ वही होंगी। (गा. १–२६८)

इन चित्रों में निदर्शित लम्बाइयों के प्रमाण मान रूप नहीं लिये गये हैं। (आकृति–१८ देखिये)

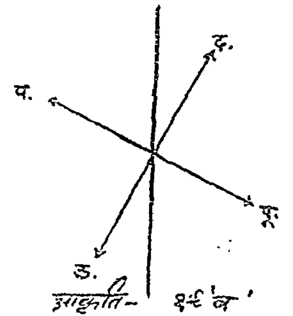
गा. २७० में वातवलयों से वेष्टित लोक १८ और १९ वीं आकृतियों से स्पष्ट हो जावेगा। ग्रंथकार ने जिन स्थानों का वर्णन किया है उन्हीं को आकृति–१९ और २० में ग्रहण किया गया है।



आकृति–१८



आकृति–१९ 'अ'



आकृति– १९ 'ब'

(गा. १, २६८)

सर्व प्रथम, (आकृति १९ 'अ' और 'ब') लोक के नीचे वातवलयों द्वारा वेष्टित क्षेत्रों का घनफल निकालते हैं[1]।

च द एक आयतज (cuboid) है लम्बाई ७ राजु, चौड़ाई ७ राजु और उत्सेध या गहराई ६०००० योजन है, ∴ उसका घनफल = ७ राजु × ७ राजु × ६०००० यो.
= ४९ वर्ग राजु × ६०००० यो. होता है।

इसे ग्रन्थकार ने मूलगाथा में प्रतीक द्वारा स्थापित किया है, यथा :
= ६००००.............(१)

अब पूर्व पश्चिम में स्थित क्षेत्रों को लेते हैं। वे हैं, फ ब पूर्व की ओर और फ ब सदृश क्षेत्र पश्चिम की ओर। फ ब एक समान्तरानीक (parallelepiped) है, जिसका घनफल लम्बाई × चौड़ाई × उत्सेध होता है।

इस क्षेत्र में उत्सेध १ राजु है, आयाम ७ राजु और बाहल्य या मुटाई ६०००० योजन है ∴ दोनों पार्श्व भागों में स्थित वातक्षेत्रों का घनफल
= २ × [७ राजु × १ राजु × ६०००० योजन] = ७ वर्ग राजु × १२०००० योजन
= ४९ वर्ग राजु × $\frac{१२००००}{७}$ योजन होता है।
इसे मूल में, = $\frac{१२००००}{७}$ लिखा गया है। ....(२)

(१) और (२) परिणामों को जोड़ने पर ४९ वर्ग राजु × (६०००० योजन + $\frac{१२००००}{७}$ योजन) अर्थात् (४९ वर्ग राजु) × ($\frac{५४००००}{७}$ योजन) घनफल प्राप्त होता है जिसे ग्रंथकार ने = $\frac{५४००००}{७}$ लिखा है। I

अब उत्तर दक्षिण की अपेक्षा (अर्थात् सामनेवाला वातवलय वेष्टित लोकांत भाग) पफ तथा पफ के सदृश पीछे स्थित लम्ब संक्षेत्र समच्छिन्नक (frustrum of a right prism) हैं। यहां उत्सेध १ राजु (vertical height 1 raju), तल भाग में आयाम ७ राजु, मुख ६$\frac{६}{७}$ राजु और बाहल्य ६०००० योजन है।

∴ इसका घनफल = २ × $\frac{१}{२}$ × १ राजु × ($\frac{४९}{७}$ + $\frac{४३}{७}$ राजु) × ६०००० योजन
= $\frac{९२}{७}$ वर्ग राजु × ६०००० योजन

---

१ वातवलयों से वेष्टित वरिमाओं के घनफल निकालने की रीति क्या ग्रीस से प्राप्त हुई, यह नहीं कहा जा सकता। पर, ग्रंथकार द्वारा उपयोग में लाये गये नियमों की तुलना श्री सेन्फोर्ड द्वारा प्रतिपादित विषय "The Study of Indivisibles" से करने योग्य है। "Cavalieri (1598—1647) made extensive use of the idea of indivisibles, that is, of considering a surface the smallest element of a solid, a line the smallest element of a surface, and a point that of a line. This concept was the foundation of Cavalieri's famous theorem which reads as follows : If between the same parallels, any two plane figures are constructed, and if in them, any straight lines being drawn equidistant from the parallels, the enclosed portions of any one of these lines are equal, the plane figures are also equal to one another, and if between the same parallel planes any solid figures are constructed, and if in them, any planes being drawn equidistant from the parallel planes, the included plane figures out of any one of the planes so drawn are equal, the solid figures are likewise equal to one another."—"A Short History of Mathematics", By Sanford, p. 315.

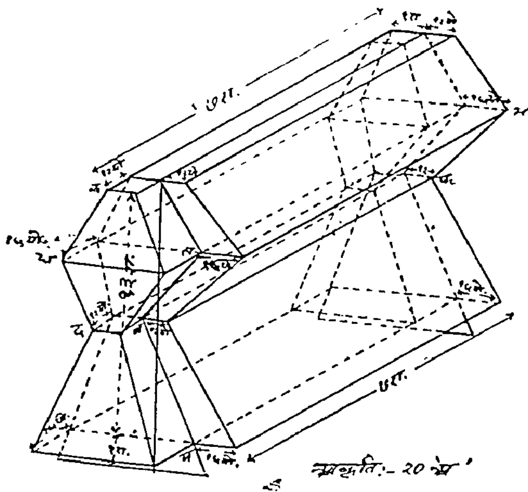
$= ४९$ वर्ग राजु $\times \frac{५५२००००}{३४३}$ योजन होता है।

इसे ग्रंथकार ने $= \frac{५५२००००}{३४३}$ लिखा है।.........(३)

I में (३) जोड़नेपर ४९ वर्ग राजु $\times \left(\frac{४९ \times ५४००००}{३४३} + \frac{५५२००००}{३४३} \text{ योजन} \right)$

अर्थात् ४९ वर्ग राजु $\times \frac{३१९८००००}{३४३}$ योजन प्राप्त होता है।

इसे ग्रंथकार ने $= \frac{३१९८००००}{३४३}$ लिखा है।.........II



लोक के अन्त से १ राजु ऊपर तक ६०००० योजन बाहल्यवाले वातवलय क्षेत्रों की गणना के पश्चात् उनसे ऊपर स्थित क्षेत्रों की गणना करते हैं। यहां (आकृति २० 'अ') वातवलयों का बाहल्य पूर्व पश्चिम तथा उत्तर दक्षिण में क्रमशः १६ योजन, १२ योजन, १६ योजन और लोकशिखर पर १२ योजन चित्र में बतलाये अनुसार हैं।

पूर्व में आकृतियां प फ, ब भ और त थ हैं; तथा ऐसी ही पश्चिम में आकृतियां हैं जो संक्षेत्रों के समच्छिन्नक (frustrum of triangular prisms) हैं। इनका कुल उत्सेध १३ योजन है, हानि वृद्धि क्रमशः १६, १२, १६, १२ योजन हैं, तथा आयाम ७ योजन है। इसलिये इन आकृतियों

की कुल घनफल $= २ \times ७$ राजु $\times १३$ राजु $\times \left(\frac{१६ + १२}{२} \text{ योजन} \right)$

$= २ \times ७$ राजु $\times १३$ राजु $\left(१४ \times \frac{३४३}{३४३} \text{ योजन} \right) = ४९$ वर्गराजु $\times \frac{१७८३६}{३४३}$ योजन होता है।

इस प्रकार की गणना, राजु और योजन में सम्बन्ध अव्यक्त होने से बिलकुल ठीक तथा प्रशंसनीय है।

इसे ग्रन्थकार ने $= \frac{१७८३६}{३४३}$ लिखा है।.........(४)

अब, उत्तर दक्षिण अर्थात् सामने के भागों में स्थित प द, ब ध, और त क तथा ऐसे ही पीछे के क्षेत्रों का घनफल निकालते हैं। ये भी त्रिभुजीय संक्षेत्रों के समच्छिन्नक हैं।

प द के घनफल के लिये उत्सेध ६ राजु, मुख १ राजु, भूमि ६$\frac{१}{७}$ राजु तथा बाहल्य क्रमशः १६, १२ योजन है, इसलिये इसका तथा ऐसी ही पीछे की आकृति का कुल घनफल

$$= २ \times (६ \text{ राजु}) \times \left(\frac{६\frac{१}{७} + १}{२} \text{ राजु}\right) \times \left(\frac{१६ + १२}{२} \text{ योजन}\right)$$

$$= \frac{३००}{७} \text{ वर्ग राजु} \times १४ \text{ योजन} = ४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{४२००}{३४३} \text{ योजन होता है।}$$

इसे ग्रन्थकार ने $= \frac{४२००}{३४३}$ लिखा है।.........(५)

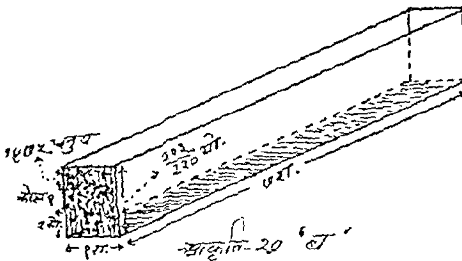
इसी प्रकार, व घ तथा त क और उनके समान दक्षिण में स्थित क्षेत्रों के घनफल के लिये कुल उत्सेध ७ राजु है; हानि-वृद्धि १, ५, १ राजु है तथा बाहल्य में भी हानि-वृद्धि १२, १६, १२ है। ऐसे संक्षेत्र समछिन्नकों का कुल घनफल $= २ \times ७ \text{ राजु} \times \left(\frac{५ + १}{२} \text{राजु}\right) \times \left(\frac{१६ + १२}{२} \text{ योजन}\right)$

$$= ४२ \text{ वर्ग राजु} \times १४ \text{ योजन}$$

$$= ४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{५८८}{४९} \text{ योजन होता है।}$$

इसे ग्रंथाकार ने $= \frac{५८८}{४९}$ लिखा है। ......(६)

अब लोक के ऊपर के घनफल को निकालते हैं (आकृति २० 'ब')।



आकृति-20 'ब'

यहां उत्सेध २ कोस + १ कोस + १५७५ धनुष $= \frac{७५७५}{८०००}$ योजन $= \frac{३०३}{३२०}$ योजन है।

आयाम १ राजु, चौड़ाई ७ राजु है

∴ इस आयतज (Cuboid) का घनफल

$$= १ \text{ राजु} \times ७ \text{ राजु} \times \frac{३०३}{३२०} \text{ योजन}$$

$$= ४९ \text{ वर्ग राजु} \times \frac{३०३}{२२४०} \text{ योजन होता है।}$$

इसे ग्रन्थकार ने $= \frac{३०३}{२२४०}$ लिखा है।............(७)

शेष भागों के विषय में ग्रन्थकार ने नहीं लिखा है। शायद वह घनफल इनकी तुलना में उपेक्षणीय गिना गया हो अथवा उनकी गणना ही न की गई हो। यह बात स्पष्ट नहीं है। जहां तक उस उपेक्षित घनफल का सम्बन्ध है, वह भी सरलता से निकाला जा सकता है।

उपर्युक्त ७ क्षेत्रों का कुल घनफल

$$= ४९ \text{ वर्गराजु} \times \frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७७६०} \text{ योजन प्राप्त होता है।} \;......\text{III}$$

इसे ग्रन्थकार ने = $\frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०}$ लिखा है।......(८)

इसके पश्चात् आठों पृथ्वियों के अधस्तन भाग में वायु से अवरुद्ध क्षेत्रों के घनफल निकाले गये हैं जिनकी गणना मूल में स्पष्ट है। समस्त पृथ्वियों के अधस्तन भाग में अवरुद्ध क्षेत्रों का कुल घनफल ४९ वर्ग राजु × $\left(\frac{१०९२००००}{४९}\right.$ *योजन*$\left.\right)$ *होता है जिसे ग्रंथकार ने* = $\frac{१०९२००००}{४९}$ *स्थापित किया है*।...IV

आठ पृथ्वियों का भी कुल घनफल मूल में बिलकुल स्पष्ट है जो

४९ वर्ग राजु × $\left(\frac{४३६६४०५६}{४९}\right.$ योजन$\left.\right)$ है, जिसे......V

ग्रन्थकार ने = $\frac{४३६६४०५६}{४९}$ लिखा है।

जब III, IV, और V के योग को सम्पूर्ण लोक (≡) में से घटाते हैं तो अवशिष्ट शुद्ध आकाश का प्रमाण होता है। उसकी स्थापना जो मूल में की गई वह स्पष्ट नहीं है। आकृति–२१ देखिये।


आकृति – २१

यहां एक उल्लेखनीय बात यह है कि सिकन्दरिया के हेरन ने (प्रायः ईसा की तीसरी सदी में) वेत्रासन सदृश सांद्र (wedge shaped solid, βωμισχοσ, 'little altar') के घनफल को लगभग उपर्युक्त विधियों द्वारा प्राप्त किया है। यदि नीचे का आधार 'a' और 'b' भुजाओंवाला आयत है तथा ऊपर का मुख 'c' और 'd' भुजाओंवाला आयत है तो उत्सेध 'h' लेने पर घनफल निकालने का सूत्र यह है—

$$\{\tfrac{1}{4}(a+c)(b+d)+\tfrac{1}{12}(a-c)(b-d)\}h$$

यह घनफल, वेत्रासन को समान्तरानीक (parallelepiped) और त्रिभुज संक्षेत्र (triangular prism) में विदीर्ण कर, प्राप्त किया गया है[१]।

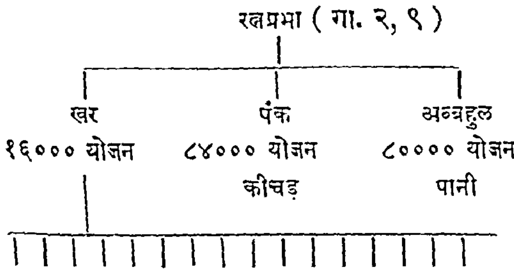
पुनः बेबीलोनिया में, प्रायः ३००० वर्ष पूर्व, पृथ्वी माप के (Γεωμετρια) विषय में उपर्युक्त विवरण से सम्बन्ध रखनेवाला चतुर्भुज क्षेत्र सम्बन्धी अभिमत कूलिज के शब्दों में यह है।

"When four measures are given the area stated is in every case greater than possible no matter what the shape. de la Fuye explains this by the ingenious hypothesis that the Babylonians used for area in terms of sides the incorrect formula $F=\frac{1}{4}(a+a')(b+b')$. This gives the correct result only in the case of the rectangle. It is curious that we find the same incorrect formula in an Egyptian inscription that scarcely antedated the christian era.[२]

---

१ Heath, Greek Mathematics, vol (ii) p. 333, Edn, 1921.

२ Coolidge, A History of Geometrical Methods, p. 5, Edn. 1940.



चित्रादि १६ भेद प्रत्येक १००० योजन मोटी एवं वेत्रासन आकार की।

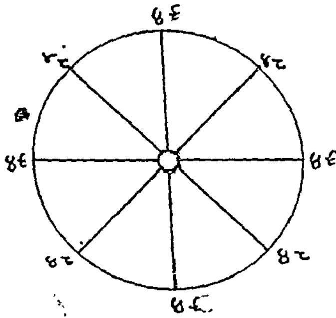
गा. २, २६-२७— कुल बिल ८४ लाख हैं। वे इस प्रकार हैं—

र. प्र.	श. प्र.	वा. प्र.	पं. प्र.	धू. प्र.	त. प्र.	म. प्र.
३००००००	२५०००००	१५०००००	१००००००	३०००००	९९९९५	५

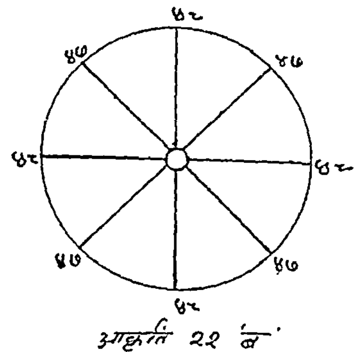
गा. २, २८— सातवीं पृथ्वी के ठीक मध्य में नारकी बिल हैं। अब्बहुल पर्यंत शेष छः पृथ्वियों में नीचे व ऊपर एक एक हजार योजन छोड़कर पटलों (discs) में क्रम से नारकियों के बिल हैं।

गा. २, ३६— पटल के सब बिलों के बीचवाला इन्द्रक बिल और चार दिशाओं तथा विदिशाओं के पंक्तिबद्ध बिल श्रेणिबद्ध कहलाते हैं। शेष श्रेणिबद्ध बिलों के इधर उधर रहनेवाले बिल प्रकीर्णक कहलाते हैं।

गा. २, ३७— इन्द्रक बिल, सात पृथ्वियों में क्रमशः १३, ११, ९, ७, ५, ३, १ हैं। प्रथम इंद्रक बिल और द्वितीय इंद्रक बिल के लिये आकृति-२२ 'अ', और 'ब' देखिये।



आकृति २२ 'अ'



आकृति २२ 'ब'

गा. २, ३९— कुल इंद्रक बिल ४९ हैं।

गा. २, ५५— दिशा और विदिशा के कुल प्रकीर्णक बिल (४८×४)+(४९×४)=३८८ हैं। इनमें सीमन्त इन्द्रक बिल को मिलाने पर प्रथम पाथड़े के कुल बिल ३८९ होते हैं।

गा. २, ५८— रूपरैखिक वर्णन देने के पश्चात्, ग्रंथकार श्रेणीव्यवहार गणित का उपयोग कर समान्तर श्रेढि (Arithmetical Progression) के विषय में, इस प्रकरण से सम्बन्धित अज्ञात की गणना के लिये सूत्र आदि का वर्णन करते हैं।

यदि प्रथम पाथड़े में बिलों की कुल संख्या a हो और फिर प्रत्येक पाथड़े में क्रमशः d द्वारा उत्तरोत्तर हानि हो तो n वें पाथड़े में कुल बिलों की संख्या प्राप्त करने के लिये $\{a-(n-1)d\}$ सूत्र का उपयोग किया है। यहाँ a = ३८९ है, d = ८ है और n = ४ है ∴ चौथे पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्धबिलों की संख्या {३८९ – (४ – १)८} = ३६५ है।

गा. २, ५९— n वें पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिये ग्रंथकार साधारण सूत्र देते हैं : $\left(\frac{a-५}{d}+१-n\right)d+५$

यहां a = ३८९ है; इष्ट प्रतर अर्थात् इष्ट पाथड़ा n वां है।

गा. २, ६०— यदि प्रथम पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या a और n वें पाथड़े में a_n मान ली जाय तो n का मान निकालने के लिये इस साधारण सूत्र (general formula) का उपयोग किया है : $\left[\frac{a-५}{d}-\frac{a_n-५}{d}\right]=n$

गा. २, ६१— यहां 'd' प्रचय (common difference) है।

किसी श्रेढि में प्रथम स्थान में जो प्रमाण रहता है उसे आदि, मुख (वदन) अथवा प्रभव (first term) कहते हैं। अनेक स्थानों में समान रूप से होनेवाली वृद्धि अथवा हानि के प्रमाण को चय या उत्तर (common difference) कहते हैं और ऐसी वृद्धि हानिवाले स्थानों को गच्छ या पद (term) कहते हैं।

गा. २, ६२— यदि श्रेढियों को वृद्धिमय मानें तो रत्नप्रभा में प्रथम पद २९३ आदि (first term) है, गच्छ (number of terms) १३ है और चय (common difference) ८ है। इसी प्रकार अन्य पृथ्वियों का उल्लेख अलग अलग है, चय सबमें एकसा है।

ऐसी श्रेढियों का कुल संकलित धन अर्थात् इंद्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की कुल संख्या निकालने के लिये सूत्र दिया गया है।

गा. २, ६४— यहां कुल धन को हम S, प्रथम पदको a, चय को d और गच्छ को n द्वारा निरूपित करते हैं तो सूत्र निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है[1]।

$$S=[(n-\dot{१})d+(\dot{१}-१)d+(a.२)]\frac{n}{२}$$

यहां इच्छा १ है अर्थात् पहिली श्रेढि के बिलों की कुल संख्या प्राप्त की है। इसे हल करने पर हमें साधारण सूत्र (general formula) प्राप्त होता है : $S=\frac{n}{२}[२a+(n-१)d]$

इसी प्रकार दूसरी श्रेढि के लिये जहाँ इच्छा २ है

$$S=[(n-\dot{२})d+(\dot{२}-१)d+(a.२)]\frac{n}{२}$$

अर्थात् वही साधारण सूत्र फिर से प्राप्त होता है :

$$S=\frac{n}{२}[२a+(n-१)d]$$

---

१ मूल गाथाको देखने से ज्ञात होता है कि (१३ – १) लिखने के लिये ग्रंथकार ने १̇३̇ लिखा है। इसी प्रकार (१ – १) लिखने के लिये १̇ लिखा है।

संकलित धन निकालने के लिये ग्रंथकार दूसरे सूत्र का कथन करते हैं। उसे उपर्युक्त प्रतीकों से निरूपित करने पर, इस प्रकार लिखा जा सकता है :—

$$S = \left[\left\{\left(\frac{n-१}{२}\right)^२ + \left(\frac{n-१}{२}\right)\right\}d + ५\right]n$$

यह समीकार ऊपर दी गई सब श्रेढियों के लिये साधारण है। उपर्युक्त संख्या "५" महातमःप्रभा के बिलों से सम्बन्धित होना चाहिये।

इन्द्रक बिलों की कुल संख्या ४९ है, इसलिये यदि अंतिम पद ५ को l माना जाय, a को ३८९; और d (प्रचय) ८ हो तो $l = a - (४९ - १)d$

अर्थात् $५ = ३८९ - ३८४$
$= ५$

इस प्रकार जो यहां ५ लिया गया है, वह सब श्रेढियों के अंत में जो श्रेढि है, उसका अंतिम पद है।

गा. २, ६९— सम्पूर्ण पृथ्वियों के इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों के प्रमाण को निकालने के लिये आदि पांच (first term A) चय आठ (common defference D) और गच्छ का प्रमाण उनंचास (number of terms N) है।

गा. २, ७०— यहां सात पृथ्वियां हैं जिनमें श्रेढियों की संख्या ७ है। अंतिम श्रेढि में एक ही पद ५ है। इन सब का संकलित धन प्राप्त करने के लिये ग्रंथकार ने यह सूत्र दिया है।

$$S' = \frac{N}{२}[(N+७)D - (७+१)D + २A]$$

$$= \frac{N}{२}[२A + (N-१)D], \quad \text{यहां ७ इष्ट है।}$$

गा. २, ७१— ग्रंथकार ने दूसरा सूत्र इस प्रकार दिया है।

$$S' = \left[\frac{N-१}{२} \times D + A\right]N.$$

$$= \frac{N}{२}[२A + (N-१)D]$$

यहां $N = ४९$, $A = ५$, $D = ८$ है।

गा. २, ७४— इन्द्रक रहित बिलों (श्रेणीबद्ध बिलों) की संख्या निकालने के लिये इन्द्रकों को अलग कर देने पर पृथ्वियों में श्रेणीबद्ध बिलों की श्रेढियों के आदि (first term in the respective prathvi beginning from the Ratnaprabha) क्रमशः २९२, २०४ इत्यादि हैं। गच्छ (number of terms) प्रत्येक के लिये क्रमशः १३, ११,··· इत्यादि हैं और चय ८ है।

यहां भी साधारण सूत्र दिया गया है, जो सब पृथ्वियों के अलग अलग धन को (श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या) निकालने के लिये निम्न लिखित रूप में प्रतीकों द्वारा दर्शाया जा सकता है।

यदि प्रथम पाथड़े में बिलों की कुल संख्या a हो और फिर प्रत्येक पाथड़े में क्रमशः d द्वारा उत्तरोत्तर हानि हो तो n वें पाथड़े में कुल बिलों की संख्या प्राप्त करने के लिये $\{a-(n-1)d\}$ सूत्र का उपयोग किया है। यहाँ $a=३८९$ है, $d=८$ है और $n=४$ है $\therefore$ चौथे पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्धबिलों की संख्या $\{३८९-(४-१)८\}=३६५$ है।

गा. २, ५९— n वें पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिये ग्रंथकार साधारण सूत्र देते हैं: $\left(\frac{a-५}{d}+१-n\right)d+५$

यहां $a=३८९$ है; इष्ट प्रतर अर्थात् इष्ट पाथड़ा n वां है।

गा. २, ६०— यदि प्रथम पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या a और n वें पाथड़े में a_n मान ली जाय तो n का मान निकालने के लिये इस साधारण सूत्र (general formula) का उपयोग किया है: $\left[\frac{a-५}{d}-\frac{a_n-५}{d}\right]=n$

गा. २, ६१— यहां 'd' प्रचय (common difference) है।

किसी श्रेढि में प्रथम स्थान में जो प्रमाण रहता है उसे आदि, मुख (वदन) अथवा प्रभव (first term) कहते हैं। अनेक स्थानों में समान रूप से होनेवाली वृद्धि अथवा हानि के प्रमाण को चय या उत्तर (common difference) कहते हैं और ऐसी वृद्धि हानिवाले स्थानों को गच्छ या पद (term) कहते हैं।

गा. २, ६२— यदि श्रेढियों को वृद्धिमय मानें तो रत्नप्रभा में प्रथम पद २९३ आदि (first term) है, गच्छ (number of terms) १३ है और चय (common difference) ८ है। इसी प्रकार अन्य पृथ्वियों का उल्लेख अलग अलग है, चय सबमें एकसा है।

ऐसी श्रेढियों का कुल संकलित धन अर्थात् इंद्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की कुल संख्या निकालने के लिये सूत्र दिया गया है।

गा. २, ६४— यहां कुल धन को हम S, प्रथम पदको a, चय को d और गच्छ को n द्वारा निरूपित करते हैं तो सूत्र निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है[1]।

$$S=[(n-\dot{१})d+(\dot{१}-१)d+(a.२)]\frac{n}{२}$$

यहां इच्छा $\dot{१}$ है अर्थात् पहिली श्रेढि के बिलों की कुल संख्या प्राप्त की है। इसे हल करने पर हमें साधारण सूत्र (general formula) प्राप्त होता है: $S=\frac{n}{२}[२a+(n-१)d]$

इसी प्रकार दूसरी श्रेढि के लिये जहाँ इच्छा $\dot{२}$ है

$$S=[(n-\dot{२})d+(\dot{२}-१)d+(a.२)]\frac{n}{२}$$

अर्थात् वही साधारण सूत्र फिर से प्राप्त होता है:

$$S=\frac{n}{२}[२a+(n-१)d]$$

---

१ मूल गाथाको देखने से ज्ञात होता है कि (१३ − १) लिखने के लिये ग्रंथकार ने $\dot{१३}$ लिखा है। इसी प्रकार (१ − १) लिखने के लिये $\dot{१}$ लिखा है।

संकलित धन निकालने के लिये ग्रंथकार दूसरे सूत्र का कथन करते हैं। उसे उपर्युक्त प्रतीकों से निरूपित करने पर, इस प्रकार लिखा जा सकता है :—

$$S = \left[\left\{\left(\frac{n-१}{२}\right)^२ + \left(\frac{n-१}{२}\right)\right\}d + ५\right]n$$

यह समीकार ऊपर दी गई सब श्रेढियों के लिये साधारण है। उपर्युक्त संख्या "५" महातमःप्रभा के बिलों से सम्बन्धित होना चाहिये।

इन्द्रक बिलों की कुल संख्या ४९ है, इसलिये यदि अंतिम पद ५ को l माना जाय, a को ३८९; और d (प्रचय) ८ हो तो $l = a - (४९ - १)d$

अर्थात् $५ = ३८९ - ३८४$

$= ५$

इस प्रकार जो यहां ५ लिया गया है, वह सब श्रेढियों के अंत में जो श्रेढि है, उसका अंतिम पद है।

गा. २, ६९— सम्पूर्ण पृथ्वियों के इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों के प्रमाण को निकालने के लिये आदि पांच (first term A) चय आठ (common defference D) और गच्छ का प्रमाण उनंचास (number of terms N) है।

गा. २, ७०— यहां सात पृथ्वियां हैं जिनमें श्रेढियों की संख्या ७ है। अंतिम श्रेढि में एक ही पद ५ है। इन सब का संकलित धन प्राप्त करने के लिये ग्रंथकार ने यह सूत्र दिया है।

$$S' = \frac{N}{२}[(N+७)D - (७+१)D + २A]$$

$$= \frac{N}{२}[२A + (N-१)D], \quad \text{यहां ७ इष्ट है।}$$

गा. २, ७१— ग्रंथकार ने दूसरा सूत्र इस प्रकार दिया है।

$$S' = \left[\frac{N-१}{२} \times D + A\right]N$$

$$= \frac{N}{२}[२A + (N-१)D]$$

यहां $N = ४९$, $A = ५$, $D = ८$ है।

गा. २, ७४— इन्द्रक रहित बिलों (श्रेणीबद्ध बिलों) की संख्या निकालने के लिये इन्द्रकों को अलग कर देने पर पृथ्वियों में श्रेणीबद्ध बिलों की श्रेढियों के आदि (first term in the respective prathvi beginning from the Ratnaprabha) क्रमशः २९२, २०४ इत्यादि हैं। गच्छ (number of terms) प्रत्येक के लिये क्रमशः १३, ११,···इत्यादि हैं और चय ८ है।

यहां भी साधारण सूत्र दिया गया है, जो सब पृथ्वियों के अलग अलग धन को (श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या) निकालने के लिये निम्न लिखित रूप में प्रतीकों द्वारा दर्शाया जा सकता है।

$$S'' = \frac{[n^२\cdot d]+[२n\cdot a]-nd}{२} = \frac{n^२d+२na-nd}{२} = \frac{n}{२}[(n-१)d+२a]$$

जहां n गच्छ, d प्रचय और a आदि हैं।

गा. २, ८१— इंद्रकों रहित बिलों (श्रेणिबद्ध बिलों) की समस्त पृथ्वियों में कुल संख्या निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं। यहां आदि ५ नहीं होकर ४ है, क्योंकि महातमःप्रभा में केवल एक इन्द्रक और चार श्रेणिबद्ध बिल हैं। यही आदि अथवा A है; ४९, N है और प्रचय ८, D है। इसके लिये प्रतीक रूप से सूत्र यह है:—

$$S''' = \frac{(N^२-N)D+(N\cdot A)}{२} + \left(\frac{A}{२}\cdot N\right)$$

$$= \frac{N}{२}[A+(N-१)D+A]$$

$$= \frac{N}{२}[२A+(N-१)D]$$

गा. २, ८२–८३— आदि [first term A) निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं:—

$$A = \frac{\left[S''' \div \frac{N}{२}\right]+[D\cdot ७]-[७-१+N]D}{२}$$

जिसका साधन करने पर पूर्ववत् साधारण सूत्र प्राप्त होता है।

यहां इच्छित पृथ्वी ७ वीं है जिसका आदि निकालना इष्ट था।

इच्छा कोई भी राशि हो सकती है।

गा. २, ८४— चय [common difference D] निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं,

$$D = S''' \div \left([N-१]\frac{D}{२}\right) - \left(A \div \frac{N-१}{२}\right)$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् साधारण सूत्र प्राप्त होता है।

गा. २, ८५— इसके पश्चात् ग्रंथकार रत्नप्रभा प्रथम पृथ्वी के संकलित धन (श्रेणिबद्ध बिलों की कुल संख्या) को लेकर पद १३ को निकालने के लिये निम्न लिखित सूत्र का प्रयोग करते हैं; जहां $n=१३$, $S''=४४२०$, $d=८$ और $a=२९२$ आदि है।

$$n = \left\{\sqrt{\left(S''\cdot\frac{d}{२}\right)+\left(\frac{a-\frac{d}{२}}{२}\right)^२} - \left(\frac{a-\frac{d}{२}}{२}\right)\right\} \div \frac{d}{२}$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकार प्राप्त होता है।

गा. २, ८६— उपर्युक्त के लिये दूसरा सूत्र भी निम्न लिखित रूप में दिया गया है।

$$n = \left\{\sqrt{(२\cdot d\cdot S'')+\left(a-\frac{d}{२}\right)^२} - \left(a-\frac{d}{२}\right)\right\} \div d$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकार प्राप्त होता है।

गा. २, १०५— इन्द्रकों का विस्तार समान्तर श्रेढि (Arithmetical progression) में घटता है। प्रथम इन्द्रक का विस्तार ४५०,०००० योजन और अंतिम इंद्रक का १०,०००० योजन है। कुल इंद्रक बिल ४९ हैं। यह गच्छ की संख्या है जिसे प्रतीक रूप से हम n द्वारा निरूपित करेंगे। आदि ४५००००० (a) और अंतिम पद १००००० (l) तथा चय (Common difference) d है तो d निकालने के लिये सूत्र ग्रंथकार ने यह दिया है :

$d=\frac{a-l}{(n-१)}$ यहां n अंतिम पद के लिये उपयोग में आया है।

प्रथम बिल से यदि nवें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो उसे प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित सूत्र का उपयोग किया गया है :

$a_n=a-(n-१)d$.

यदि अंतिम बिल से n वें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो सूत्रको प्रतीक रूप से निम्न प्रकार निबद्ध किया जा सकता है :—

$b_n=b+(n-१)d$.

जहां a_n और b_n उन n वें बिलों के विस्तारों के प्रतीक हैं।

यहां विस्तार का अर्थ व्यास (diameter) किया जा सकता है।

गा. २, १५७— इन बिलों की गहराई (बाहल्य) समान्तर श्रेढि में है। कुल पृथ्वियां ७ हैं। यदि nवीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य निकालना हो तो नियम यह है :—

n वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य $=\frac{(n+१)\times ३}{(७-१)}$

इसी प्रकार, n वीं पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलों का बाहल्य $=\frac{(n+१)\times ४}{(७-१)}$

इसी प्रकार, n वीं पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य $=\frac{(n+१)७}{(७-१)}$

गा. २, १५८— दूसरी रीति से बिलों का बाहल्य निकालने के लिये ग्रंथकार ने उनके 'आदि' के प्रमाण क्रमशः ६, ८ और १४ लिये हैं।

पृथ्वियों की संख्या ७ है। यदि n वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य निकालना हो तो सूत्र यह है :—

nवीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य $=\frac{(६+n\cdot\frac{६}{२})}{(७-१)}$

यहां ६ को आदि लिखें तो दक्षिणपक्ष $=\left(\frac{a+n\cdot\frac{a}{२}}{७-१}\right)$ होता है।

इसी प्रकार, nवीं पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलों का बाहल्य $=\frac{(८+n\cdot\frac{८}{२})}{(७-१)}$ होता है।

यदि ८ को आदि लिखें तो दक्षिण पक्ष $=\frac{a+n\frac{a}{२}}{(७-१)}$ होता है।

प्रकीर्णक बिलों के लिये भी यही नियम है।

आगे गाथा १५९ से १९४ तक इन बिलों के अन्तराल (inter space) का विवरण दिया गया है जो सूत्रों की दृष्टि से अधिक महत्व का प्रतीत नहीं हुआ है।

$$S'' = \frac{[n^२ \cdot d] + [२n \cdot a] - nd}{२} = \frac{n^२d + २na - nd}{२} = \frac{n}{२}[(n - १)d + २a]$$

जहां n गच्छ, d प्रचय और a आदि हैं।

गा. २, ८१— इंद्रकों रहित बिलों (श्रेणिबद्ध बिलों) की समस्त पृथ्वियों में कुल संख्या निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं। यहां आदि ५ नहीं होकर ४ है, क्योंकि महातमःप्रभा में केवल एक इन्द्रक और चार श्रेणिबद्ध बिल हैं। यही आदि अथवा A है; ४९, N है और प्रचय ८, D है। इसके लिये प्रतीक रूप से सूत्र यह है:—

$$S''' = \frac{(N^२ - N)D + (N \cdot A)}{२} + \left(\frac{A}{२} \cdot N\right)$$

$$= \frac{N}{२}[A + (N - १)D + A]$$

$$= \frac{N}{२}[२A + (N - १)D]$$

गा. २, ८२–८३— आदि [first term A) निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं :—

$$A = \frac{\left[S''' \div \frac{N}{२}\right] + [D \cdot ७] - [७ - १ + N]D}{२}$$

जिसका साधन करने पर पूर्ववत् साधारण सूत्र प्राप्त होता है।

यहां इच्छित पृथ्वी ७ वीं है जिसका आदि निकालना इष्ट था।

इच्छा कोई भी राशि हो सकती है।

गा. २, ८४— चय [common difference D] निकालने के लिये ग्रंथकार सूत्र देते हैं,

$$D = S''' \div \left([N - १]\frac{D}{२}\right) - \left(A \div \frac{N-१}{२}\right)$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् साधारण सूत्र प्राप्त होता है।

गा. २, ८५— इसके पश्चात् ग्रंथकार रत्नप्रभा प्रथम पृथ्वी के संकलित धन (श्रेणिबद्ध बिलों की कुल संख्या) को लेकर पद १३ को निकालने के लिये निम्न लिखित सूत्र का प्रयोग करते हैं; जहां $n = १३$, $S'' = ४४२०$, $d = ८$ और $a = २९२$ आदि है।

$$n = \left\{\sqrt{\left(S'' \cdot \frac{d}{२}\right) + \left(\frac{a - \frac{d}{२}}{२}\right)^२} - \left(\frac{a - \frac{d}{२}}{२}\right)\right\} \div \frac{d}{२}$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकार प्राप्त होता है।

गा. २, ८६— उपर्युक्त के लिये दूसरा सूत्र भी निम्न लिखित रूप में दिया गया है।

$$n = \left\{\sqrt{(२ \cdot d \cdot S'') + \left(a - \frac{d}{२}\right)^२} - \left(a - \frac{d}{२}\right)\right\} \div d$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकार प्राप्त होता है।

गा. २, १०५— इन्द्रकों का विस्तार समान्तर श्रेढि (Arithmetical progression) में घटता है। प्रथम इन्द्रक का विस्तार ४५०,०००० योजन और अंतिम इंद्रक का १०,०००० योजन है। कुछ इंद्रक बिल ४९ हैं। यह गच्छ की संख्या है जिसे प्रतीक रूप से हम n द्वारा निरूपित करेंगे। आदि ४५००००० (a) और अंतिम पद १००००० (l) तथा चय (Common difference) d है तो d निकालने के लिये सूत्र ग्रंथकार ने यह दिया है:

$$d=\frac{a-l}{(n-१)}$$ यहां n अंतिम पद के लिये उपयोग में आया है।

प्रथम बिल से यदि nवें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो उसे प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित सूत्र का उपयोग किया गया है:

$$a_n=a-(n-१)d.$$

यदि अंतिम बिल से n वें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो सूत्रको प्रतीक रूप से निम्न प्रकार निबद्ध किया जा सकता है:—

$$b_n=b+(n-१)d.$$

जहां a_n और b_n उन n वें बिलों के विस्तारों के प्रतीक हैं।

यहां विस्तार का अर्थ व्यास (diameter) किया जा सकता है।

गा. २, १५७— इन बिलों की गहराई (बाहल्य) समान्तर श्रेढि में है। कुल पृथ्वियां ७ हैं। यदि nवीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य निकालना हो तो नियम यह है:—

$$n \text{ वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य}=\frac{(n+१)\times ३}{(७-१)}$$

$$\text{इसी प्रकार, } n \text{ वीं पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलों का बाहल्य}=\frac{(n+१)\times ४}{(७-१)}$$

$$\text{इसी प्रकार, } n \text{ वीं पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य}=\frac{(n+१)\,७}{(७-१)}$$

गा. २, १५८— दूसरी रीति से बिलों का बाहल्य निकालने के लिये ग्रंथकार ने उनके 'आदि' के प्रमाण क्रमशः ६, ८ और १४ लिये हैं।

पृथ्वियों की संख्या ७ है। यदि n वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य निकालना हो तो सूत्र यह है:—

$$n\text{वीं पृथ्वी के इंद्रक का बाहल्य}=\frac{(६+n\cdot\frac{६}{२})}{(७-१)}$$

यहां ६ को आदि लिखें तो दक्षिणपक्ष $=\left(\frac{a+n\cdot\frac{a}{२}}{७-१}\right)$ होता है।

इसी प्रकार, nवीं पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलों का बाहल्य $=\frac{(८+n\cdot\frac{८}{२})}{(७-१)}$ होता है।

यदि ८ को आदि लिखें तो दक्षिण पक्ष $=\frac{a+n\frac{a}{२}}{(७-१)}$ होता है।

प्रकीर्णक बिलों के लिये भी यही नियम है।

आगे गाथा १५९ से १९४ तक इन बिलों के अन्तराल (inter space) का विवरण दिया गया है जो सूत्रों की दृष्टि से अधिक महत्व का प्रतीत नहीं हुआ है।

असुरकुमार की सात अनीकें होती हैं। नागकुमार की प्रथम अनीक में ९ भेद होते हैं, शेष द्वितीयादि अनीकें असुरकुमार की अनीकों के समान होती हैं।

यदि चमरेन्द्र की महिषानीक (भैंसों की सेना) की गणना की जाय तो कुल धन एक गुणोत्तर श्रेढि (geometrical progression) का योग होगा।

यहां गच्छ (number of terms) का प्रमाण ७ है,

मुख (first term) का प्रमाण ४००० है,

और गुणकार (common ratio) का प्रमाण २ है।

संकलित धन को प्राप्त करने के लिये सूत्र का उपयोग किया गया है[1]। यदि S_n को n पदों का योग माना जाय जब कि प्रथमपद a और गुणकार (Common Ratio) r होवें तब,

$$\{(r \cdot r \cdot r \cdot r \cdot r \cdot r \cdot r \cdots \text{upto n terms}) - १\} \div (r - १) \times a = S_n$$

अथवा, $$S_n = \frac{(r^n - १)a}{(r - १)}$$

इस प्रकार ७ अनीकों के लिये संकलित धन ७ (S_n) आ जाता है।

वैरोचन आदि के अनीकों का संकलित धन इसी सूत्र द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

गा. ३, १११— चमरेन्द्र और वैरोचन इन दो इन्द्रों के नियम से १००० वर्षों के बीतने पर आहार होता है।

गा. ३, ११४— इनके पन्द्रह दिनों में उच्छ्वास होता है।

गा. ३, १४४— इनकी आयु का प्रमाण १ सागरोपम होता है[2]।

इसी प्रकार भूतानन्द इन्द्र का १२½ दिनों में आहार, १२½ मुहूर्त में उच्छ्वास होता है। भूतानन्द की आयु ३ पल्योपम, वेणु एवं वेणुधारी की २½ पल्योपम, पूर्ण एवं वशिष्ठ की आयु का प्रमाण २ पल्योपम है। शेष १२ इन्द्रों में से प्रत्येक की आयु १½ पल्योपम है।

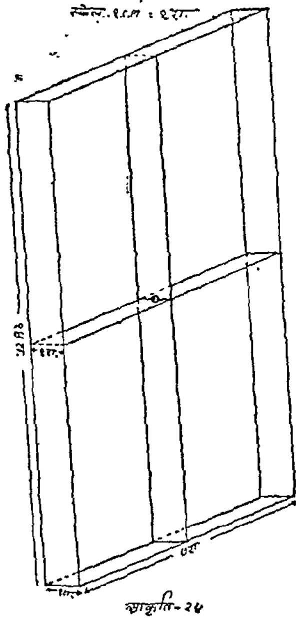
---

१ गुणोत्तर श्रेढि के संकलन के लिये जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी नियम दिये गये हैं। २।९; ४।२०४, २०५, २२२ आदि।

२ इसके सम्बन्ध में Cosmolgy Old & New में दिये गये Prologue का footnote यहाँ पर उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

"Judge, J. L. Jaini, in the "Jaina Hostel Magazine" Vol. VII, Number 3, page 10, has observed that there is a fixed proportion between the respiration, feeling of hunger and the age of the celestial beings. The food interval is 1,000 years and the respiration one fortnight for every Sagar of age. The proportion of food interval to respiration is thus, 1 to 24000. He has further observed that if a man lived like a god, we should have a legitimate feeling of hunger only once in the day. A Normal person has 18 respirations to the minute, or $18 \times 60 \times 24 = 25920$ in 24 hours, roughly 24,000".—G. R. JAIN, "Cosmology Old and New", P. XIII, Edn. 1942.

गा. ४, ६— त्रसनाली के बहुमध्य भाग में चित्रा पृथ्वी के ऊपर ४५००००० योजन विस्तार (diameter) वाला अतिगोल मनुष्यलोक है (आकृति–२४)। अतिगोल का अर्थ बेलनाकार हो सकता है, क्योंकि अगली गाथा में उसका बाहल्य १ लाख योजन दिया है। (A right circular cylinder of which base is of rad. 2250000 and height is 100000 yojans)।


आकृति-२४

गा. ४, ९— व्यास से परिधि निकालने के लिये π का मान $\sqrt{१०}$ लिया गया है और सूत्र दिया है: परिधि $= \sqrt{(\text{व्यास})^२ \times १०}$ अथवा circum. $= \sqrt{(\text{diam.})^२ . 10.}$ यहां व्यास को d, त्रिज्या को r और परिधि को c माना जाय तो

$$c = \sqrt{१०}.\ d = २\ r \sqrt{१०}$$

वृत्त का क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र दिया गया है:—

$$\text{परिधि} \times \frac{\text{व्यास}}{४} \text{ अर्थात् क्षेत्रफल} = \frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} . \frac{(\text{व्यास})^२}{४} =$$

$\sqrt{१०}.\ (\text{त्रिज्या})^२$. अथवा, area $= \pi . (\text{radius})^२$.

इसी प्रकार, लम्ब वर्तुल रम्भ का घनफल निकालने का सूत्र यह है:—

आधार का क्षेत्रफल × (उत्सेध या बाहल्य)

घनफल (volume) को मूल में 'विंदफलं' लिखा गया है।

परिधि जैसी बड़ी संख्या १४२३०२४९ को अंकों में लिखने के साथ ही साथ शब्दों में इस तरह लिखा गया है : परिधि क्रमशः नौ, चार, दो, शून्य, तीन, दो, चार और एक, इन अंकों के प्रमाण है— यह दशार्हा पद्धति का उपयोग है।

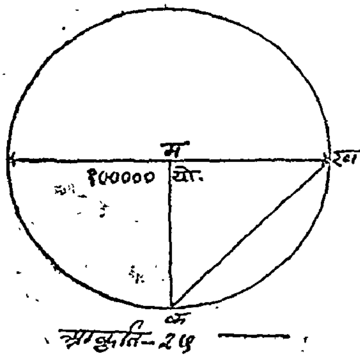
गा. ४, ५५-५६— सम्भवतः, यहां ग्रंथकार का आशय निम्न लिखित है:—

जम्बूद्वीप का विष्कम्भ १००००० योजन है। उसकी परिधि निकालने के लिये π का मान $\sqrt{१०}$ लिया गया है। १० का वर्गमूल दशमलव के ५ अंक तक निकालने के पश्चात् छठवें अंक से ३ कोश की प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि छठवां अंक ७ होने से योजन को कोश में परिवर्तित करने पर २·८ की ही प्राप्ति होगी। और भी आगे गणना करने पर प्रतीत होता है कि १० के वर्गमूल को आगे के कई अंकों तक निकालने के पश्चात्, क्रमशः धनुष, किष्कू, हाथ, आदि में परिधि की गणना की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि ३ उवसन्नासन्न प्रमाण के पश्चात् $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$ प्रमाण उवसन्नासन्न बच रहता है। उवसन्नासन्न नामक स्कंध में अनन्तानन्त परमाणुओं की कल्पना के आधार पर, ग्रंथकार ने उक्त भिन्नीय प्रमाण में परमाणु की संख्या को, दृष्टिवाद अंग से $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$. ख ख द्वारा निरूपित करना चाहा है। परन्तु, दूरी का प्रमाण निकालने के लिये उवसन्नासन्न के पश्चात् अथवा पहिले ही, प्रदेश द्वारा निरूपण होना आवश्यक है। सूच्यंगुल में प्रदेशों की संख्या के प्रमाण के आधार पर १ उवसन्नासन्न द्वारा व्याप्त आकाश में अनन्तानन्त संख्या प्रमाण परमाणु भले ही एकावगाही होकर संरचकरूप स्थित हों, पर उतने

व्यास आकाश का प्रमाण अनन्तानन्त प्रदेश कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार, इस सीमा तक किया गया यह प्ररूपण लाभप्रद न हो, पर उनके द्वारा खोजे गये पथ का प्रदर्शन करता है। इसके पूर्व अनन्तानन्त आकाश का निरूपण ग्रंथकार ने ख ख ख द्वारा किया था। यहां परमाणुओं की अनन्तानन्त संख्या बतलाने के लिये $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$ द्वारा निरूपण किया गया है और इसे "खखपदरसंसरस पुढं" का गुणकार बतलाया है ताकि परिभाषानुसार अंतिम महत्ता प्रदर्शित की जा सके। यह कहा जा सकता है कि ख[1] अनंत का प्रतीक था और उसमें गुणनभाग की कल्पना उसी तरह सम्भव थी जैसी कि परिमित संख्याओं (finite quantities) में मानी जाती है।

गा. ४, ५९-६४— इसी प्रकार, क्षेत्रफल की अंत्य महत्ता को प्रदर्शित करने के लिये, $\frac{४८४५५}{१०५४०९}$ उवसन्नासन्न में परमाणुओं की संख्या ग्रंथकार ने $\frac{४८४५५}{१०५४०९}$ ख ख द्वारा निरूपित की है[2]। ऐसा प्रतीत होता है मानों पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊर्ध्व अधः, इन तीन दिशाओं में अंत न होनेवाली श्रेणियों द्वारा संरचित अनन्त आकाश की कल्पना से ख ख ख की स्थापना की गई हो।

गा. ४, ७०— यहां आकृति-२५ देखिये।



यदि विष्कम्भ (व्यास) को d मानें, परिधि को c मानें और त्रिज्या को r मानें तो (द्वीप की चतुर्थांश परिधि रूप धनुष की जीवा $)^२ = \left(\frac{d}{२}\right)^२ \times २$

अथवा, (chord of a quadrant arc)^२ $= \left(\frac{d}{२}\right)^२ \times २ = २r^२$

पायथेगोरस के साध्यानुसार भी इसे प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि $(म\ क)^२ + (म\ क)^२ = (क\ ख)^२$ होता है।

ग्रंथकार ने फिर इस चतुर्थांश परिधि तथा उसकी जीवा में सम्बन्ध बतलाया है। यथा:—

---

१ सम्भवतः 'ख ख ख' अनंतानंत आकाश के प्रतीक के लिये ख शब्द से लिया गया है जहां ख का अर्थ आकाश होता है। ∝ या आधुनिक अनंत का प्रतीक मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि के अनुसार ख से लिया गया प्रतीत होता है।

२ वास्तव में आयाम सम्बन्धी एक दिश निरूपण के लिये 'ख' पद लेना आवश्यक है, तथा क्षेत्र सम्बन्धी द्विदिश निरूपण के लिये 'ख ख' पद लेना आवश्यक है। इसी प्रकार का प्ररूपण कोस, वर्ग कोस आदि में होना आवश्यक था, जिसे ग्रंथकार ने संक्षिप्त निरूपण के कारण न किया हो। उवसन्नासन्न के अंतिम परिणाम को लेकर, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि उन्होंने १० का वर्गमूल दशमलव के किस अंक तक निकाला था, पर अति क्लिष्ट होने से, तथा π का सूक्ष्म निरूपण न होने से इस दिशा में अब प्रयत्न करना लाभप्रद नहीं है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १।२३, में आनुपूर्वी के अनुसार (११८; ११९८), π का प्रमाण केवल हाथ प्रमाण तक दिया गया है, जो कुछ भिन्न है।

$(\text{चतुर्थांश परिधि की जीवा})^२ \times \frac{५}{४} = (\text{चतुर्थांश परिधि})^२$

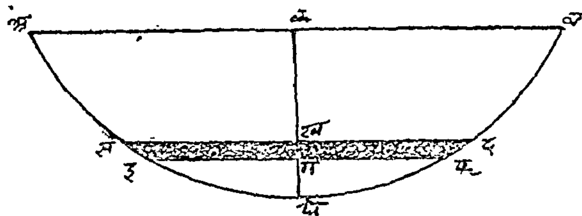
अथवा, यदि जीवा का ऊपर दिया गया मान लेकर साधन करें तो (चतुर्थांश परिधि)^२

$$= \left[२ \times \frac{d^२}{४}\right] \times \frac{५}{४} = \frac{५d^२}{८} = \frac{१० r^२}{४}$$

अथवा, चतुर्थांश परिधि $= \sqrt{१०} \cdot \frac{r}{२}$.

आजकल, इस (Quadrant arc of a circle) को $\frac{\pi r}{२}$ लिखा जाता है जहां π का मान ३·१४१५९··· है।

(गा. ४, ९४–२६९)



आकृति-२७ अ

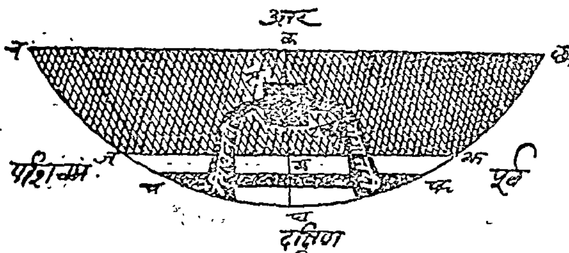
भरत क्षेत्र : (आकृति–२७ अ देखिये।) यहां विस्तार क घ = ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है।
चित्र में स द इ फ विजयार्द्ध पर्वत है।
ग घ = २३८$\frac{३}{१९}$ योजन है।
दक्षिण विजयार्द्ध की जीवा इ फ = ९७४८$\frac{१२}{१९}$ योजन है, तथा विजयार्द्ध की जीवा स द = १०७२०$\frac{११}{१९}$ योजन तथा धनुष स इ घ फ द = १०७४३$\frac{१५}{१९}$ योजन है। चूलिका = $\left(\frac{\text{स द} - \text{इ फ}}{२}\right)$ = ४८५$\frac{३७}{३८}$ योजन है।

क्षेत्र और पर्वत की पार्श्वभुजा = स इ = द फ = ४८८$\frac{३३}{३८}$ योजन है।

भरत क्षेत्र के उत्तर भाग की जीवा का प्रमाण = अ ब = १४४७१$\frac{५}{१९}$ योजन है तथा धनुपृष्ठ अ घ ब = १४५२८$\frac{११}{१९}$ योजन है।

चूलिका = $\frac{\text{अ ब} - \text{स द}}{२}$ = १८७५$\frac{१३}{३८}$ योजन है। इत्यादि।

साथ ही पार्श्वभुजा अ स = ब द = १८९२$\frac{३५}{३८}$ योजन है।



आकृति २७ ब

यहां चित्र मान प्रमाण पर नहीं बनाये जा सकते हैं क्योंकि १००००० योजन विस्तार की तुलना में ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन के प्ररूपण से चित्र स्पष्ट न हो सकेगा। यहां (अकृति–२७ ब) अब घा ज घ झ भरत क्षेत्र है और उससे दुगुने विस्तार 'क ख' वाला च छ झ ज हिमवान् पर्वत है।

स सरोवर ५०० योजन पूर्व पश्चिम में तथा १००० योजन उत्तर दक्षिण में विस्तृत है। गंगा, प्रथम, पूर्व की ओर ५०० योजन बहती है और तब दक्षिण की ओर मुड़कर सीधी ५२३$\frac{२१}{१९}$ योजन हिमवान्

पर्वत के अंत तक जाकर, विजयार्द्ध भूमि प्रदेश में मुड़ती है। वहां वह पूर्व पश्चिम से आई हुई उन्मग्ना और निमग्ना से मिलती है। पुनः वह विजयार्द्ध को पार कर दक्षिण भरत क्षेत्र में ११९$\frac{3}{19}$ योजन तक जाकर, पूर्व की ओर मुड़कर, मागध तीर्थ के पास समुद्र में प्रवेश करती है। इसी प्रकार सम्मितीय गमन सिंधु नदी का है।

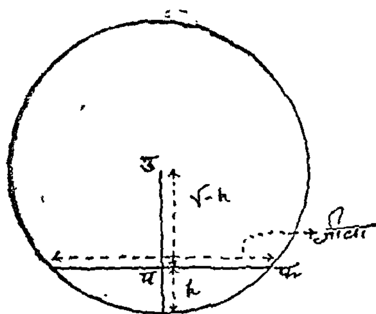
गा. ४, १८०— इस गाथा में ग्रंथकार ने उस दशा में जीवा निकालने के लिये नियम दिया है जब कि बाण और विष्कम्भ दिया गया हो।

बाण (height of the segment) को यहां h द्वारा, विस्तार (diameter) को d द्वारा प्ररूपित कर जीवा (chord) का मान निम्न लिखित सूत्र रूप में दिया जा सकता है।

$$\text{जीवा}^{1} = \sqrt{४\left[\left(\frac{d}{२}\right)^{२} - \left(\frac{d}{२} - h\right)^{२}\right]}$$

$$= \sqrt{४\left[(r)^{२} - (r - h)^{२}\right]}$$

यहां भी पायथेगोरस के नाम से प्रसिद्ध साध्यका उपयोग है।



आकृति २६

यहां आकृति–२६ से स्पष्ट है कि—

$$(\text{उफ})^{२} = (\text{उप})^{२} + (\text{पफ})^{२}$$

$$\therefore (\text{पफ})^{२} = (\text{उफ})^{२} - (\text{उप})^{२}$$

$$\therefore २\,\text{पफ} = \sqrt{४\left[(\text{उफ})^{२} - (\text{उप})^{२}\right]}$$

गा. ४, १८१— इस गाथा में ग्रंथकार ने उस दशा में धनुष का प्रमाण निकालने के लिये सूत्र दिया है जब कि बाण और विष्कम्भ का प्रमाण दिया गया हो।

धनुष (Length of the arc bounding the segment) का प्रमाण निम्न लिखित रूप में दिया जा सकता है :—

---

१ वृत्त की जीवा प्राप्त करने के लिये, बेबीलोनिया निवासी भी प्रायः इसी रूप के सूत्र का उपयोग करते थे जिसके विषय में कूलिज का अभिमत यह है,

"The Pythagorean theorem appears even more clearly in Neugebauer and Struve's translation of another of the cuneiform texts, which we may date somewhere around 2600 B. C."—Coolidge, A History of Geometrical Methods, p. 7, Edn. 1940.

सूत्र प्रतीकरूपेण यह है :—

$$\text{जीवा} = \sqrt{\{d^{२} - (d - २h)^{२}\}}$$

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में, जीवा $= \sqrt{४.\ \text{बाण}\ (\text{विष्कम्भ}-\text{बाण})}$ रूप में दिया गया है। २।२३; ६।९ आदि। इसी प्रकार धनुष $= \sqrt{६\ (\text{बाण})^{२} + (\text{जीवा})^{२}}$ प्ररूपित है। २।२४, २९; ६।१०.

$$\text{धनुष} = \sqrt{२\left[(d+h)^२ - (d)^२\right]}$$

यह देखने के लिये कि यह कहां तक शुद्ध है, हम अर्द्ध वृत्त का धनुष प्रमाण निकालने के लिये $h = r$ रखते हैं।

$$\text{इस दशा में धनुष} = \sqrt{२\{[d+r]^२ - (d)^२\}}$$

$$= \sqrt{२[९r^२ - ४r^२]} \qquad = \sqrt{१०r^२}$$

$= \sqrt{१०}\,r$ प्राप्त होता है, जिसे आजकल के प्रतीकों में πr लिखा जावेगा। यह सूत्र अपने ढंग का एक है[१]। उन गणितज्ञों ने π का मान $\sqrt{१०}$ मानकर इस सूत्र को जन्म दिया। अनु कल कलन से यदि इसका मान ठीक निकालें तो इस सूत्र को साधित करना पड़ेगा :—

$$\text{Total Arc} = २\int_{0}^{\sqrt{r^२-(r-h)^२}} \sqrt{१+\left(\frac{x^२}{r^२-x^२}\right)}\,dx.$$

अथवा, वाण के आधार पर, केन्द्र पर आपतित कोण प्राप्त कर धनुष का प्रमाण निकाला जा सकता है।

गा. ४, १८२— जब जीवा (chord), और विस्तार (diameter) दिया गया हो तो बाण (Height of the segment) निकालने के लिये यह सूत्र दिया है[२]:—

$$h = \frac{d}{२} - \left[\frac{d^२}{४} - \frac{(\text{chord})^२}{४}\right]^{\frac{१}{२}}$$

$$= r - \left[r^२ - \left(\frac{\text{chord}}{२}\right)^२\right]^{\frac{१}{२}}$$

---

१ हालैण्ड के प्रसिद्ध गणितज्ञ और भौतिकशास्त्री हाइगिन्स (१६२९–१६९५) ने धनुष और और जीवा से सम्बन्धित निम्न लिखित सूत्र दिये हैं।

(१) $\text{Arc} = \frac{8[\text{Half the Arc}] - \text{Chord of the whole Arc}}{3}$ nearly

(२) $\text{Arc} = \frac{\text{Chord} + 256(\text{quarter the arc}) - 40(\text{Half the arc})}{45}$ nearly

इन सूत्रों में Chord का मान $\sqrt{४[r^२ - (r-h)^२]}$ रखा जा सकता है तथा ग्रन्थकार द्वारा दिये गये सूत्र से तुलना की जा सकती है।

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २।२५, ६।११.

स्पष्ट है, कि यह सूत्र, निम्न लिखित समीकरण को साधित करने पर प्राप्त किया गया होगा:—
$४h^२ + (\text{जीवा})^२ - ८r \cdot h = ०$,

जहां $h = r \pm \left[r^२ - \left(\frac{\text{जीवा}}{२}\right)^२\right]^{\frac{१}{२}}$ प्राप्त होता है।

उपर्युक्त सूत्र में ± की जगह केवल − (ऋण) ग्रहण करना उल्लेखनीय है। प्राप्त होनेवाले दो प्रमाणों में से छोटी अवधा के लिये प्रमाण प्राप्त करना उनके लिये इष्ट था।

पुनः, गाथा, १८० और १८१ में दिये गये सूत्रों में से r निरसित (eliminate) करने प धनुष, जीवा और बाण में सम्बन्ध प्राप्त होता है :—

$$(\text{धनुष})^2 = ६h^2 + (\text{जीवा})^2$$

तथा, $४\ h^2 + ४\left(\frac{\text{जीवा}}{२}\right)^2$ को ४ (अर्द्ध धनुष की जीवा)^2 लिखने पर हमें निम्न लिखित सम्बन्ध प्राप्त होता है :—

$$(\text{धनुष})^2 = २\ h^2 + ४(\text{अर्द्ध धनुष की जीवा})^2$$

इसी प्रकार अन्य सम्बन्ध भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

गा. ४, २७७-२८३— इन गाथाओं में निश्चय काल का स्वरूप बतलाया गया है।

गा. ४, २८५-८६— व्यवहार काल की इकाई 'समय' मानी गई है। इसे अविभागी काल भी माना है जो उतने काल के बराबर होता है, जितने काल में पुद्‌गल का एक परमाणु आकाश के दो उत्तरोत्तर स्थित प्रदेशों के अन्तराल को तय करता है[१]।

असंख्यात समयों की एक आवलि और संख्यात आवलियों का एक उच्छवास होता है— इसे ग्रंथकार ने निम्न लिखित रूप में अंकसंदृष्टियों द्वारा प्रदर्शित किया है $\frac{१}{२}\Big|\ \frac{१}{६}\Big|\ १$; हो सकता है कि असंख्यात का निरूपण २ तथा संख्यात का ६ के द्वारा किया हो। आगे,

७ उच्छ्‌वास = १ स्तोक; ७ स्तोक = १ लव, ३८½ लव = १ नाली, २ नाली = १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त = १ दिन, १५ दिन = १ पक्ष, २ पक्ष = १ मास, २ मास = १ ऋतु, ३ ऋतु = १ अयन, २ अयन = १ वर्ष, और ५ वर्ष = १ युग होता है। इस प्रकार, आगे बढ़ते हुए, एक बड़ा व्यवहार

---

१ यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किस गति से परमाणु गमन करता होगा, क्योंकि मंदतम गति कहना भी आपेक्षिक निरूपण है प्रकेवल नहीं। वीरसेन के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है, कि परमाणु ऐसे एक समय में १४ राजु प्रमाण दूरी भी अतिक्रमण कर सकता है। पर, पुनः समय अपरिभाषित ही रहता है, क्योंकि एक समय में विभिन्न दूरियों का अतिक्रमण गति को स्पष्ट कर देता है, पर स्वयं अस्पष्ट रहता है। यदि समय को अविभागी मानते हैं तो एक समय में १४ राजु अतिक्रमण होने से, ७ राजु अतिक्रमण कब हुआ होगा— इस तर्क का स्पष्टीकरण नहीं होता, क्योंकि ½ समय, "अविभाज्य" कल्पना के आधार पर सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह कथन एक उपधारणा (postulate) बन जाता है, जहां तर्क और विवाद को स्थान नहीं है। डाक्टर आइंसटीन ने भी प्रकाश की अचल गति के सिद्धान्त को उपधारित कर, माइकेल्सन मारले प्रयोग आदि को समझाया है, जहां यदि प्रकाश की लहर पर ही बैठकर, प्रकाश के समान गतिमान होकर कोई अवलोकन कर्त्ता गमन करे तो वह यही अनुभव करेगा कि प्रकाश उसके आगे वही गति से जा रहा है, जैसा कि उसने गतिहीन अवस्था में अनुभव किया था। ऐसे लोक सत्य (universal truth) का अनुभव छद्मस्थ नहीं कर सकते। पर, गणितीय अंतर्दृष्टि से यह सम्भव है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो एलिया के ज़ीनो ने अंतिम दो तर्कों द्वारा इसी प्रश्न का समाधान करने का प्रयास किया हो। ज़ीनो (४९५ ? ४३५ ? ईस्वी पूर्व) के चार तर्कों का सर्वमान्य समाधान गत प्रायः २३०० वर्षों से नहीं हो सका है। विशेष विवरण के लिये "Greek Mathematics by Heath, pp. 271-283, Edn. 1921". द्रष्टव्य है।

काल प्राप्त किया गया है। यह अचलात्म है जो $(८४)^{३१} \times (१०)^{९०}$ वर्षों के समान है। मूल में दो बीच के नाम नहीं दिये गये हैं जिससे $(८४)^{२९} \times (१०)^{८०}$ वर्ष ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह संख्यात काल के वर्षों की गणना द्वारा, उत्कृष्ट संख्यात प्राप्त हो जाने तक ले जाने का संकेत है। अगले पृष्ठ पर उत्कृष्ट संख्यात प्राप्त करने की रीति दी गई है।

गा. ४, ३१०-१२—यहां यह बात उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों ने प्राकृत संख्याओं एवं राशि (set) सिद्धान्त के द्वारा असंख्यात और अनन्त की अवधारणाओं का दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। असंख्यात और अनन्त की प्राप्ति प्राकृत संख्याओं पर क्रमबद्ध क्रियाओं द्वारा तथा असंख्यात एवं अनन्त गणात्मक संख्यावाली राशियों की सहायता से की है। यह बात भी सूचित कर दी गई है कि 'संख्यात' चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली का विषय है (देखिये पृ० १८०), 'असंख्यात' अवधिज्ञानी का विषय है (पृ० १८२), और 'अनन्त' केवली का विषय है (पृ० १८३), अर्थात् इन्हीं निर्दिष्ट व्यक्तियों को इनका दर्शन (perception) हो सकता है। जैसे, असंख्यात प्रदेशों युक्त सूच्यंगुल की सरल रेखा का दर्शन हमारे लिये सहज है, उसी तरह 'अनन्त रूप में अवस्थित' ज्ञान की सामग्रियां केवली के लिये अनन्त रूप में दृष्टिगोचर होती होंगी। इस पर सभी एक मत न हों, पर ज्ञान के विकास के इतने उच्च श्रेणियुक्त आदर्श की कल्पना करना भी हानिप्रद नहीं है।

अनन्त (infinite)[१] के कई प्रकार[२] जैनाचार्यों ने स्थापित किये हैं: जैसे, (१) नामानन्त (Infinite in Name), स्थापनानन्त (A ttributed Infinite), (३) द्रव्यानन्त (Infinity of substances), (४) गणनानन्त[३] (Infinite in Mathematics), (५)

१ "In history of Western philosophy the term. 'Infinite' το απειρον is met with, apparently for the first time, in the teaching of Anaximander (6th cent. B.C.). He used it to describe what he conceived to be the primal matter, 'principle', or origin of all things."—Encyclopaedia Brittannica, Vol. 12, p. 340, Edn. 1929.

२ "The chief types of infinitude which come to the attention of the mathematician and philosopher are cardinal infinitude, ordinal infinitude, the infinity of measurement, the ∞ of algebra, the infinite regions of geometry and the infinite of metaphysics".—The Encylopedia Americana, vol 15, p. 120. Edn. 1944.

३ आगे, गणितीय अनन्त धारणा को निम्न लिखित रूप से इस तरह प्रदर्शित किया है, "If the law of variation of a magnitude is such that x becomes and remains greater than any preassigned magnitude however large, then x is said to become; infinite, and this conception of infinity is denoted by ∞" इसी के सम्बन्ध में जेम्स पायरपांट (James Pierpont) लिखते हैं, "Historically the first number to be considered were the positive integers 1, 2, 3, 4, 5, 6...we shall denote this system of numbers by ω. This system is ordered, infinite......The symbols $+\infty, -\infty$ are not numbers; ie, they do not lie in ω. They are introduced to express shortly certain modes of variation which occur constantly in our reasonings." The Theory of Functions of Real Variables, Vol. 1, p. 86.

एक प्रसिद्ध गणितज्ञ का अनन्त के सम्बन्ध में विचार इस प्रकार उल्लेखित है:—"An infinite number, "says Bosanquet, "would be a numb r which is no particular number, for every particular is finite. It follows from this that infinite number is unreal." The Encyclopedia Americana, Vol. 15, p. 121. पर जैनाचार्यों द्वारा दी गई अनन्त की

(आगे के पृष्ठ पर देखिये)

अप्रदेशिकानन्त (Dimensionless Infintesimal), (६) एकानन्त (One directional Infinity), (७) उभयानन्त (Two directional Infinity), (८) विस्तारानन्त (Superficial Infinity), (९) सर्वानन्त (Spatial Infinity), (१०) भावनानन्त (Infinity of Knowledge), (११) शाश्वतानन्त (Everlasting).

आगे, गणनानन्त का विशद विवेचन दिया गया है।

सबसे पहिले स्थूल रूप से संख्या को जैनाचार्यों ने तीन भागों में विभाजित किया है; (१) संख्यात Finite or numerable, (२) असंख्यात Innumerable, और (३) अनंत Infinite.

यहां हम, सुविधा के लिये, वैज्ञानिक ढंग से प्रतीकों द्वारा इन विभाजनों का निरूपण करेंगे। संख्यात को S, असंख्यात को A, तथा अनन्त को I के द्वारा निरूपित करेंगे। संख्यात को तीन भागों में विभाजित किया गया है : जघन्य संख्यात, मध्यम संख्यात और उत्कृष्ट संख्यात जिन्हें हम क्रमशः Sj, Sm, और Su लिखेंगे। असंख्यात को पहिले परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्याताsसंख्यात में विभाजित कर, पुनः प्रत्येक को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट में विभाजित किया गया है, जिन्हें हम क्रमशः Ap, Ay, Aa और Apj, Apm, Apu; Ayj, Aym, Ayu और Aaj, Aam, Aau द्वारा निरूपित करेंगे। इसी प्रकार, अनन्त का पहिले परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त में विभाजन के पश्चात् इनमें से प्रत्येक को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रेणी में रखा है। हम इन्हें क्रमशः Ip, Iy, Ii और Ipj, Ipm, Ipu; Iyj, Iym, Iyu तथा Iij, Iim, Iiu द्वारा निरूपित करेंगे।

उत्कृष्ट संख्यात (Su) को प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित क्रिया का वर्णन है:— जम्बूद्वीप के समान लम्ब वर्तुल रम्भाकार १ लाख योजन विष्कम्भ (Diameter) वाले तथा १ हजार योजन उत्सेध (height) वाले चार कुंड स्थापित करते हैं। ये क्रमशः शलाका कुंड, प्रतिशलाका कुंड, महाशलाका कुंड और अनवस्थित कुंड कहलाते हैं।

अन्तिम अनवस्थित कुंड को यदि दो सरसों से भरा जावे तो इस राशि प्रमाण जघन्य संख्यात होता है। Sj=२। यहां यह उल्लेखनीय है कि १ की गणना, संख्यात में नहीं है। यह प्रथम विकल्प है। २ से ऊपर की वे सब संख्याएं जो उत्कृष्ट संख्यात तक प्राप्त नहीं होतीं, मध्यम संख्यात [Sm > २ पर Sm < Su] के विकल्प हैं। इस अनवस्थित कुंड को पूरा भरकर एक एक सरसों उत्तरोत्तर द्वीपों और समुद्रों में देता चला जाय। (त्रिलोकसार [गा. २८] में कुंड इस प्रकार भरने को कहा गया है कि सर्वोच्च सतह पर एक सरसों समावे जिससे रम्भ के ऊपर एक शंकु भी स्थित हो जाती है और इस तरह कुल समाये हुए सरसों के बीजों की गणना १९९७११२९३८४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६ $\frac{४}{११}$ प्राप्त होती है। यहां यह नहीं ज्ञात है कि शंकु की ऊँचाई कितनी और क्यों ली गई। केवल रम्भ में (१९७९१२०९२९९९६८)×(१०)^{३१} सरसों समाते हैं।) चूंकि सरसों

परिभाषा इन परिभाषाओं और अवधारणाओं से भिन्न है। फिर भी, वह अवधारणा गेलिलियो (१५६४–१६४२) और जार्ज कैंटर (१८४५–१९१८) के "Continuum of indivisibles" तथा "Theory of real numbres" से किस प्रकार सम्बन्धित है यह निम्न लिखित से कुछ स्पष्ट हो जावेगा। अनन्त राशियों के सम्बन्ध में गेलिलियो के लेख का अवतरण श्री बेल द्वारा रचित "Development of mathematics" के पृष्ठ २७३ से उद्धृत किया जाता है—

"Salv.—I see no other decision that it may admit, but to say, that all Numbers are infinite; Squares are infinite; and that neither is the multitude of squares less than all Numbers, nor this greater than that : and in conclusion, that the Attributes

(आगे के पृष्ठ पर देखिये)

की संख्या युग्म (Even Number) है, इसलिये अन्तिम सरसों उपर्युक्त संख्या के द्वीप, समुद्रों का अतिक्रमण कर समुद्र में गिरेगा। जिस समुद्र में गिरे उसके विष्कम्भ के बराबर फिर से बेलनाकार १००० योजन गहरा कुंड खोदकर उसे सरसों से पूर्ण भरे और इसी समय ऊपर लिखी हुई क्रिया की समाप्ति को दर्शाने के लिये शलाका कुंड में एक सरसों डाले। इस प्रकार की क्रिया फिर से की जाय ताकि यह दूसरा कुंड भी खाली हो जाय; तभी शलाका कुंड में दूसरा सरसों डाले और जिस द्वीप या समुद्र में उपर्युक्त कुंड का अन्तिम सरसों पड़े उसी के विष्कम्भ का और १००० योजन गहराई का बेलनाकार कुंड खोदकर फिर उसे सरसों से भरकर पुनः खाली कर शलाका कुंड में तीसरा सरसों डाले।

यह क्रिया करते करते जब शलाका कुंड भी भर जाये तब प्रतिशलाका कुंड भरना आरम्भ करे। जब वह भी भर जाये तब एक एक सरसों उसी प्रकार महाशलाका कुंड में भरना आरम्भ करे। उसके पूरा भरने पर संख्यात द्वीप समुद्रों का अतिक्रमण कर अन्तिम सरसों जिस द्वीप या समुद्र में पड़े उसी के विस्तार का और १००० योजन गहराई का कुंड खोदकर उसे सरसों से पूर्ण भर दे। जितने सरसों इस गड्ढे में समावेंगे वह जघन्य परीतासंख्यात Apj है और इसमें से १ घटा देने पर उत्कृष्ट संख्यात प्राप्त होता है।

$$Su = Apj - १$$

इस प्रकार $Su > Sm > Sj > १$

और $Apj > Su$ तथा परिभाषानुसार

$Apu > Apm > Apj$ है।

Apu अर्थात् उत्कृष्ट परीत असंख्यात प्राप्त करने के लिये इसी का विरलन करके, एक एक रूप के प्रति वही संख्या देकर परस्पर गुणन करने से जघन्य युक्तासंख्यात प्राप्त होता है, जो उत्कृष्ट परीत असंख्यात से केवल १ अधिक होता है :—

$$[Apj]^{Apj} = Ayj = Apu + १$$

इसके पश्चात् परिभाषा के अनुसार,

$Ayu > Aym > Ayj > Apu$ है।

उत्कृष्ट युक्त असंख्यात प्राप्त करने के लिये, जघन्य युक्त असंख्यात का वर्ग करने से जो जघन्य असंख्यात प्राप्त होता है, उसमें से १ घटाना पड़ता है:—

$$[Ayj]^{२} = Aaj = Ayu + १$$

तथा $Aau > Aam > Aaj > Ayu$ है।

Aau का मान Ipj से १ कम है। इस Ipj (जघन्य परीत अनंत) को प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित क्रिया है—

---

of Equality, Majority, and Minority have no place in Infinities, but only in terminate quantities......". यहां Numbers का आशय केवल प्राकृत संख्याओं १, २, ३... इत्यादि से है।

अब, इसी पुस्तक में पृष्ठ २७५ पर अंकित यह अवतरण देखिये—

"Resolving Simplicius' doubt about the conceit of 'assigning an Infinite bigger than an Infinite,' Cantor proceeded to describe any desired number of such bigger Infinities. First, there is said to be no difficulty in imagining an orderd infinite class; the natural numbers 1, 2, 3,......themselves suffice. Beyond all these, in ordinal numeration, lies ω; beyond ω lies $\omega+1$; then $\omega+2$, and so on, until $\omega 2$ is reached, when $\omega 2+1$, $\omega 2+2$,......are attained; beyond all these lies ω^2, and

आरम्भ में Aaj की दो प्रतिराशियां स्थापित करते हैं, इनमें से एक Aaj राशि को शलाका प्रमाण स्थापित करते हैं। दूसरी Aaj राशि को विरलित कर उतनी ही राशि पुंज को १, १, रूप में स्थापित कर, परस्पर में गुणन कर b राशि उत्पन्न करते हैं, और Aaj शलाका प्रमाण राशि में से १ घटा देते हैं। अब b राशि का विरलन कर १, १, रूप को b राशि ही देकर परस्पर गुणन करके c राशि उत्पन्न करते हैं और अब Aaj शलाका प्रमाण राशि में से १ और घटा देते हैं। यह क्रिया तब तक करते जाते हैं, जब तक कि शलाका प्रमाण राशि Aaj समाप्त नहीं हो जाती। प्रतीक रूप से;

$[Aaj]^{Aaj} = b$; $[b]^{b} = c$; $[c]^{c} = d$; $[d]^{d} = e$;

इसी प्रकार करते जाने के पश्चात् जब Aaj बार यह क्रिया हो चुके तब मान लो j राशि उत्पन्न होती है।

फिर से, j राशि की दो प्रति राशियां करके, एक को शलाका रूप स्थापित कर और दूसरी को विरलित कर, एक, एक अंक के प्रति j ही स्थापित कर परस्पर गुणन करने से जो k राशि उत्पन्न हो तो शलाका प्रमाण राशि j में से एक घटा देते हैं। फिर इस k को लेकर उसी प्रकार विरलित कर, १, १ रूप के प्रति k, k, स्थापित करने पर जो l राशि उत्पन्न हो तो शलाका प्रमाण स्थापित राशि j में से १ और घटा देते हैं। इस प्रकार यह क्रिया तब तक करते जाते हैं, जब तक कि j शलाका राशि समाप्त नहीं हो जाती। प्रतीक रूप से;

$[j]^{j} = k$; $[k]^{k} = l$; $[l]^{l} = m$,... इत्यादि जब तक करते जाते हैं, जब तक कि j बार यह क्रिया न हो जावे, और अंत में मान लो P राशि उत्पन्न होती है।

अब फिर से P राशि की दो प्रतिराशियां करके, एक को शलाकारूप स्थापित कर और दूसरी को विरलित कर, एक, एक अंक के प्रति P ही स्थापित कर परस्पर गुणन करने से जो Q राशि उत्पन्न

---

beyond this ω^2+1, and so on, it is said, indefinitely and for ever. If the first step— after which all the rest seems to follow of itself— offers any difficulty, we have to grasp the scheme 1, 3, 5,…' 2n+1,……I2, in which, after all the odd natural numbers have been counted off, 2, which is not one of them, is imagined as the next in order. One purpose of Cantor in constructing these transfinite ordinals. ω, $\omega+1$……was to provide a means for the counting of well ordered classes. a class being well-ordered if its members are ordered and each has a unique 'Successor'."

इसके पश्चात् दूसरे अवतरण में इसी पृष्ठ पर उल्लिखित है—

"For cardinal numbers also Cantor described 'an Infinite bigger than an Infinite' to confound the Simpliciuses……. He proved (1874) that the class of all algebraic numbers is denumerable, and gave (1878) a rule for constructing an infinite non-denumerable class of real numbers. Were we to make a list of specta cularly unexpected discoveries in mathmatics, there two might head our list."

परन्तु, जहां जैनाचार्यों ने वरिमा में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की संख्या समतल या सरल रेखा पर, स्थित प्रदेश बिन्दुओं की संख्या से भिन्न मानी है, वहां जार्ज कैंटर ने असङ्गासी-सा दिखनेवाला प्रतिपादन किया है जो इसी पुस्तक में पृष्ठ २७७ पर इस प्रकार अंकित है— "Cantor proved that in each instance all the points in the whole space can be put in one-one correspondence with

हो, तो शलाका प्रमाण राशि P में से एक घटा देते हैं। फिर Q को लेकर उसी प्रकार विरलित कर, १, १ रूप के प्रति Q, Q स्थापित करने पर जो R राशि उत्पन्न होती है, तो शलाका प्रमाण स्थापित राशि P में से १ और घटा देते हैं। इस प्रकार यह क्रिया तब तक करते जाते हैं, जब तक कि शलाका राशि P समाप्त नहीं हो जाती। प्रतीक रूप से;

$[P]^P = Q, \ [Q]^Q = R$ इत्यादि

और जब यह क्रिया P बार की जा चुके तब अंत में उत्पन्न हुई राशि मान लो T है। ऐसा प्रतीत होता है कि वीरसेनाचार्य ने D को Aaj की तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित राशि कहा है। हम, इस तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित प्रक्रिया के लिये $\overline{\quad}|^3$ संकेतना का उपयोग करेंगे।

---

all the points on any straight-line segment. In a plane, for example, there are precisely as many points on a segment an inch long as there are in the entire plane. (?) This, of course, is contrary to common sense; but common sense exists chiefly in order that reason may have its simpliciuses to contradict & enlighten".

और, अभिनवावधि में ही प्रसाधित वह प्रश्न जिसने कैंटर को भी स्तब्ध कर दिया था, यह था, "Another problem which baffled Cantor was to prove or disprove that there exists a class whose cardinal number exceeds that of the class of natural numbers and is exceeded by that of the class of real numbers..." इस प्रकार के अल्पबहुत्व (comparability) सम्बन्धी प्रकरण में जैनाचार्यों ने जो परिणाम सूत्रों द्वारा उल्लिखित किये हैं वे खोज की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

विशद विवेचन के लिये Fraenkel की "Abstract Set Theory" दृष्टव्य है।

आगे, जैनाचार्यों की अनन्ती की अवधारणा से हारवर्ड के प्रोफेसर रायस की निम्न लिखित कुछ अवधारणाओं से तुलना करिये, जो Encyclopedia Americana vol. 15 के पृष्ठ १२० आदि से यहां उद्धृत की गई है :

"1) The true infinite, both in magnitude and in organisation, although in one sense endless, & so incapable in that sense of being completely grasped, is in another, and precise sense, something perfectly determinate.

2) This determinateness is a character which indeed, includes and involves the endlessness of an infinite series, but the mere endlenness of an infinite series is not its primary character, but simply a negatively result of the self representative character of the whole system.

3) The endlessness of this series means that by no merely successive process of counting in God or in man, is its wholeness ever exhausted.

4) In consequence the whole endless series in so far as it is a reality must be present, as a determinate order, but also all at once, to the absolute experience. It is the process of successive counting, as such, that remains, to the end incomplete so as to imply that its own possibilities are not yet realized........"

गणित के इतिहासकारों द्वारा कहा जाता है कि सबसे पूर्व प्राकृत संख्याओं के द्वारा इस संहति से दूसरी नवीन संहति (भिन्नों) की खोज बेबीलोन और मिश्र के निवासियों ने व्युत्क्रम करने की रीति (Method of Inversion) से की थी। प्राथमिक व्युत्क्रम की अन्य रीतियां योग और वियोग;

यहां उल्लेखनीय है कि तिलोयपण्णत्ति की उपर्युक्त शलाका निष्ठापन विधि से जो राशि प्राप्त होती है वह उपर्युक्त तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित राशि से कई कदम (steps) आगे जाकर प्राप्य है। इस प्रकार *वीरसेन तथा यतिवृषभ* की इस विषयक निरूपणा (treatment) भिन्न भिन्न है जिससे परिकलित औपचारिक असंख्यात एवं औपचारिक अनन्त की अर्हाएं भिन्न प्राप्त होती हैं। यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ग्रंथकार कहते हैं कि इतने पर भी उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात प्राप्त नहीं होता। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, लोकाकाश और एक जीव; इन चारों की प्रदेश (Spatial Points) संख्या लोकाकाश में स्थित प्रदेशों की गणात्मक संख्या प्रमाण है। प्रत्येक शरीर और बादर प्रतिष्ठित राशियां (अप्रतिष्ठित प्रत्येक राशि और प्रतिष्ठित प्रत्येक राशि) दोनों क्रमशः असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इन छहों असंख्यात राशियों को T में मिलाकर प्राप्त योग से पहिले के समान तीन बार वर्गित सम्वर्गित राशि प्राप्त करते हैं। फिर भी, उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात राशि उत्पन्न नहीं होती। मान लो उपर्युक्त क्रिया करने पर U राशि उत्पन्न होती है।

इस तरह प्राप्त U राशि में स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, मन, वचन, काय योगों के अविभागप्रतिच्छेद और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के समय[1], इन राशियों को मिलाकर पूर्व के ही समान तीन बार वर्गित सम्वर्गित करने पर जो राशि V उत्पन्न होती है वह जघन्य परीतअनंत (lpj) प्रमाण संख्या होती है। इसमें से १ घटाने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात प्रमाण संख्या प्राप्त होती है। प्रतीक रूप से

$$lpj = Aau + 1 = V + 1$$

$$\text{और } lpu > lpm > lpj$$

इसके पश्चात् जघन्य युक्तानन्त प्राप्त करते हैं।

घात बढ़ाना और मूल निकालना हैं। ये सभी क्रियाएं प्राचीन काल में ज्ञात थीं। मूल निकालने की क्रिया से अपरिमेय संख्याओं का तथा ऋणात्मक संख्याओं के मूल निकालने से काल्पनिक संख्याओं का आविष्कार हुआ। जैनाचार्यों ने शलाकात्रय निष्ठापन विधि से तथा उपधारित असंख्यात राशियों के योग से ऐसी संख्याओं को निकालने का प्रयत्न किया जिन्हें उन्होंने असंख्यात संज्ञा दी, तथा उपधारित अनन्त राशियों के मिश्रण द्वारा प्राप्त राशियों से प्राप्त प्रमाण संख्याओं को अनन्त संज्ञा दी— अनन्त अर्थात् जिसे उत्तरोत्तर गिनकर अथवा व्यय कर या एक अथवा संख्यात अलग कर कभी भी समाप्त न किया जा सके।

१ "The biggest unit of time is the Maha-kalpa (महाकल्प) made up of two aeons Avsarpni and Utsarpní, each consisting of 413452630308203177749512192000000000000000000000000000000000000000000000-0000 (77 digits) solar years. (The Brahm Kalpa of the Hindus also consits of 77 digits but the digits do not agree)", Cosmology Old and New, Page 231.

धर्म द्रव्य के प्रदेश असंख्यात, अधर्म द्रव्य के प्रदेश असंख्यात तथा उस एक जीव के (जो केवलीसमुद्घात के समय सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है) प्रदेश भी असंख्यात माने गये हैं। लोक के प्रदेश असंख्यात हैं। असंख्यात लोक प्रमाण का अर्थ लोक के प्रदेशों की गणात्मक संख्या असंख्यात राशि की असंख्यातगुनी राशि। प्रत्येक शरीर और बादरप्रतिष्ठित जीवों को Souls in ordinary vegetation और Souls in vegetable parasitic groups कहा जा सकता है।

$Iyj = [Ipj]^{Ipj}$ = अभव्य सिद्ध राशि

और $Iyj = Ipu + 1$

फिर $Iyu > Iym > Iyj > Ipu$

तथा $Iij = [Iyj]^2 = Iyu + 1$

Iij से उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्राप्त करने के लिये जघन्य अनन्तानन्त को पूर्ववत् तीसरी बार वर्गित सम्वर्गित करने पर भी Iiu प्राप्त नहीं होता[1]। मान लो α प्रमाण संख्या प्राप्त होती है। इस α में सिद्ध, निगोद जीव, वनस्पति, काल, पुद्गल और समस्त अलोकाकाश की छह अनन्त गणात्मक संख्याओं को मिलाकर योग को पूर्ववत् तीन बार वर्गित संवर्गित करते हैं, तिस पर भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्राप्त न होकर मान लो β राशि उत्पन्न होती है। इस β में, तब, केवलज्ञान अथवा केवलदर्शन के अनन्त बहुभाग (उक्त प्रकार से प्राप्त राशि से हीन ?) मिलाने पर Iiu उत्पन्न होता है। वह भाजन है, द्रव्य नहीं है; क्योंकि इस प्रकार वर्ग करके उत्पन्न सब वर्ग राशियों का पुंज (β-?) केवलज्ञान केवलदर्शन के अनन्तवें भाग है। यह ध्यान देने योग्य है कि Aa तथा Ii को Aam तथा Iim अथवा अजघन्यानुत्कृष्ट Aa तथा Ii निर्देशित किया गया है।

अब हम कुछ उल्लेखनीय बातों का विवेचन करेंगे। यद्यपि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों की संख्या का प्रमाण लोकाकाश में माने गये प्रदेशों की संख्या से असंख्यातगुणा है, तथापि उपचार से उस प्रमाण को असंख्यात संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार, यद्यपि उपरोक्त प्रमाण से असंख्यात लोक प्रमाण संख्या गुणा प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव राशि के गणात्मक का प्रमाण है तथापि उपचार से उसे असंख्यात लोक प्रमाण कहा गया है। स्मरण रहे कि 'असंख्यात' शब्द से केवल एक संख्या का बोध नहीं होता, वरन् उस सीमा में रहनेवाली संख्याओं का बोध होता है जो न तो संख्यात हैं और न अनन्त। इस प्रकार असंख्यात संख्या की असंख्यातगुणी संख्या भी असंख्यात सीमा में ही रहेगी, उसका उलंघन न करेगी। जैसा, मुझे प्रतीत होता है, उसके अनुसार, मध्यम असंख्यात-असंख्यात भी संख्यात है। अर्थात् उसकी गणना हो सकती है, पर उसे उपचार रूप से असंख्यात की उपाधि दे दी गई है। वास्तविक असंख्येयता तभी प्रविष्ट करती है जब कि धर्मादि द्रव्यों के असंख्यात प्रमाण प्रदेशों से मध्यम असंख्यातासंख्यात को युक्त करते हैं। इसके पूर्व, उत्कृष्ट संख्यात तक ही श्रुतकेवली का विषय होने के कारण, तदनुगामी संख्या यद्यपि असंख्यात कहलाती है, पर परिभाषानुसार नहीं होतीं, उपचार से कहलाती हैं। असंख्यात लोक प्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान प्रमाण संख्या का आशय स्थितिबन्ध के लिये कारणभूत आत्मा के परिणामों की संख्या है। इसी प्रकार इससे भी असंख्यात लोक गुणे प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान प्रमाण संख्या का आशय अनुभागबन्ध के लिये कारणभूत आत्मा

---

१ सिद्धों की संख्या अभी तक अनन्त मानी गई है पर वह सम्पूर्ण लोक के जीवों की कुल संख्या से अनन्तगुनी हीन है। निगोद जीवों (akin to bacteria and unicellular organism of modern biology but conceived to die and to come to life eighteen times during time of one breath) की संख्या सिद्धों की संख्या से अनन्तगुनी बड़ी मानी गई है। वनस्पतिकाय जीवों की संख्या भी सिद्धों की संख्या से अनन्तगुनी बड़ी मानी गई है। उसी प्रकार लोकाकाश के पुद्गल द्रव्य के परमाणुओं की संख्या जीव राशि से अनन्तगुनी बड़ी मानी गई है। त्रिकाल में समयों की कुल संख्या पुद्गल के परमाणुओं की संख्या से अनन्तगुनी मानी गई है और अलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्तानन्त मानी गई है।

के परिणामों की संख्या है। इससे भी असंख्यात लोक प्रमाणगुणे, मन वचन काय योगों के अविभाग-प्रतिच्छेदों (कर्मों के फल देने की शक्ति के अविभागी अंशों) की संख्या का प्रमाण होता है।

इसी प्रकार यद्यपि उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात और जघन्य परीतानन्त में केवल १ का अंतर हो जाने से ही 'अनन्त' संज्ञा उपचार रूप से प्राप्त होती है। अवधिज्ञानी का विषय उत्कृष्ट असंख्यात तक का होता है, इसके पश्चात् का विषय केवलज्ञानी का होने से, अनन्त संज्ञा प्राप्त हो जाती है। वास्तव में, व्यय के अनन्त काल तक भी होते रहने पर जो राशि क्षय को प्राप्त न हो उसे 'अनन्त' कहा गया है। इस प्रकार, जब जघन्य अनन्तानन्त की तीन बार वर्गित सम्वर्गित राशि में, अनन्त राशियां मिलाई जाती हैं, तभी उसकी अनन्त संज्ञा सार्थक होती है।

वीरसेनाचार्य ने अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन काल के अनन्तत्व के व्यवहार को उपचार निबन्धनक बतलाया है[1]। भव्य जीव राशि भी अनन्त है।

शंका होती है कि जब अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन काल की समाप्ति हो जाती है तो भव्य जीव राशि भी क्यों क्षय को प्राप्त न होगी? इस पर आचार्य ने कथन किया है कि अनन्त राशि वही है जो संख्यात या असंख्यात प्रमाण राशि के व्यय होने पर भी अनन्त काल से भी क्षय को प्राप्त न हीं होती। अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन काल, यद्यपि 'अनन्त' संज्ञा को अवधिज्ञान के विषय का उलंघन करके प्राप्त है, तथापि असंख्यात सीमा में ही है। इस प्रकार, व्यय के होते रहने पर भी, सदा अक्षय रहनेवाली भव्य जीव राशि समान और भी राशियां हैं जो क्षय होनेवाली पुद्गलपरिवर्तन काल जैसी सभी राशियों के प्रतिपक्ष के समान, उपर्युक्त विवेचनानुसार पाई जाती हैं।

जार्ज कैंटर ने प्राकृत संख्याओं (१, २, ३,...... अनन्त तक) के गणात्मक प्रमाण को एक राशि अथवा कुलक मान किया है, जिसे No (Aleph Nought) प्रतीक से निर्देशित किया है। इस अनन्त प्रमाण राशि से, गण्य (Denumerable) राशियों के प्रमाण स्थापित किये गये हैं और सिद्ध किया गया है कि $२No = No$, तथा $(No)^{२} = No$ आदि।

इसी प्रकार No से बड़ी संख्या का आविष्कार, गणित क्षेत्र में अद्वितीय है। कर्ण विधि (Diagonal Method) के द्वारा सिद्ध किया गया है कि

$२No > No$. विशद विवेचन अत्यन्त रोचक है तथा जैनाचार्यों की विधियों से उनका तुलनात्मक अध्ययन, सम्भवतः गणित के लिये नवीन पथ प्रदर्शित कर सकेगा।

यहां ग्रंथकार ने यह भी कथन किया है कि जहां जहां संख्यात S को खोजना हो, वहां वहां अजघन्यानुत्कृष्ट संख्यात (Sm) जाकर ग्रहण करना चाहिये (जो एक स्थिर राशि नहीं है वरन् ३ से लेकर आगे तक की कोई भी राशि हो सकती है जो उत्कृष्ट संख्यात से छोटी है)। उसी प्रकार जहां जहां असंख्यातासंख्यात की खोज करना हो वहां वहां अजघन्यानुत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात (Aam) को ग्रहण करना चाहिये; तथा अंत में जहां जहां अनन्तानन्त का ग्रहण करना हो वहां वहां lim का ग्रहण करना चाहिये।

गा. ४, १४४३— मूल में जो संदृष्टि दी गई है उसमें चौथी पंक्ति में रुद्र की अंक संदृष्टि ४ मान कर प्रतीक रूप से उसे उन चौंतीस कोठों में स्थापित किया गया है।

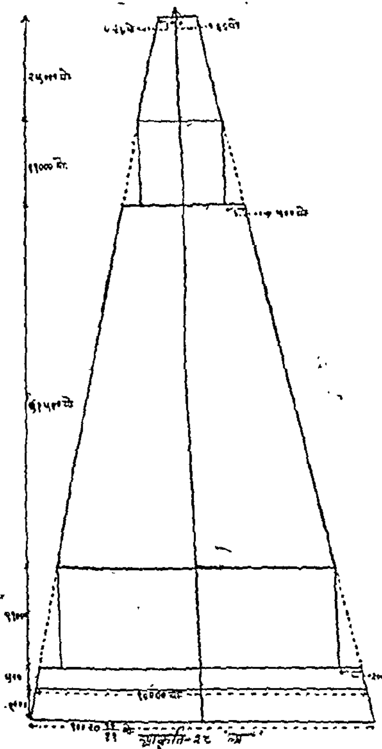
गा. ४, १६२४— हिमवान् पर्वत की उत्तर जीवा २४९३२$\frac{१}{१९}$ योजन, तथा धनुपृष्ठ २५२३०$\frac{४}{१९}$ योजन है। यह सब गणना, उपर्युक्त सूत्रों से, π का मान $\sqrt{१०}$ मान कर की गई है।

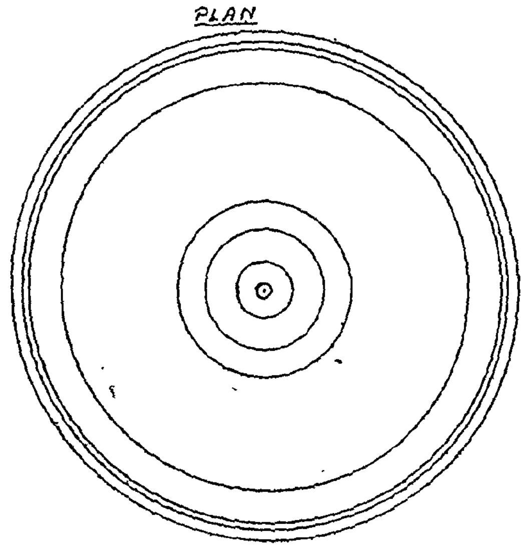
---

१ षट्खंडागम, पुस्तक ४, पृष्ठ ३३८, ३३९.

(गा. ४, १७८० आदि)

मान को प्रमाण न लेकर मेरु पर्वत का आकार आकृति–२८ 'अ', 'ब' से स्पष्ट हो जावेगा—

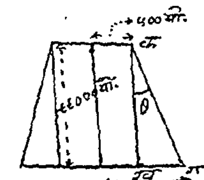


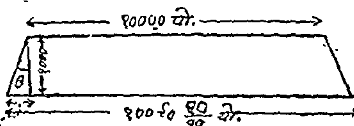


आकृति २८ 'ब'

यह आकृति स्तम्भों तथा शंकु समच्छिन्नकों से बनी हुई है। मूल गाथा में इसे समान गोल शरीर-वाला मेरु पर्वत 'समवट्टतणुस्स मेरुस्स' कहा गया है। सबसे निम्न भाग में चौड़ाई या समतल आधार का व्यास १००९०$\frac{१०}{११}$ योजन है और यह समान रूप से घटता हुआ १००००० योजन ऊँचाई पर, केवल १००० योजन चौड़ा रह गया है।

मेरु पर्वत का समान रूप से ह्रास ऊपर की ओर होता है। प्रवण रेखा लम्ब से θ कोण बनाती है जिसकी स्पर्श निष्पत्ति, स्प $\theta = \frac{\text{ख ग}}{\text{क ख}} = \frac{४५००}{९९०००} = \frac{५००}{११०००}$ है। यहां आकृति–२९ अ और ब देखिये।









आकृति–२९ 'अ' २९ 'ब' २९ 'स' २९ 'द'

मूल भाग में १००० योजन तक समरूप से यह पर्वत ह्रासित होता गया है। व्यास, तल में १००९०$\frac{१०}{११}$ योजन है तथा १००० योजन ऊँचाई पर १०००० योजन है। इसलिये, प्रवण रेखा यहां भी

उदग्र रेखा से θ कोण पर अभिनत है, जिसकी स्पर्श निष्पत्ति स्प $\theta = \frac{४५\frac{५}{११}}{१०००} = \frac{५००}{११०००}$ है।

इसके पश्चात्, ५०० योजन की ऊँचाई पर जाकर व्यास ५०० योजन चारो ओर से घट जाता है तथा इसी व्यास का स्कंभ ११००० योजन की ऊँचाई तक रहता है।

यहां (आकृति–२९ स) उदग्र रेखा अथवा स्कंभ की जनन रेखा प्रवण रेखा से θ कोण बनाती है, जिसकी स्पर्श निष्पत्ति फिर से स्प $\theta = \frac{५००}{११०००}$ है।

इसी प्रकार, ५१५०० योजन ऊपर जाकर व्यास चारों ओर ५०० योजन घटता है तथा उस पर ११००० योजन उत्सेध की स्कंभ स्थापित रहती है। अंत में २५००० योजन ऊपर और जाकर ५०० योजन त्रिज्या चारों ओर से ४९४ योजन कम होती है, इसलिये केवल १२ योजन चौड़े तलवाली तथा ४० योजन उत्सेध की, मुख में ४ योजन व्यासवाली चूलिका सबसे ऊपर, अंत में, रहती है (आकृति–२९ द)। चूलिका की पार्श्व रेखा उदग्र से θ' कोण बनाती है जिसकी स्पर्श निष्पत्ति स्प $\theta' = \frac{४}{४०} = \frac{१}{१०}$ है।

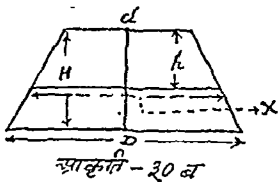
आकृति ३० अ

गा. ४, १७९३ — इस गाथा में, शंकु के समच्छिन्नक की पार्श्व रेखा का मान निकालनेके लिये जिस सूत्र का प्रयोग किया है वह प्रतीकरूप से यह है[1] (आकृति–३० अ) —

यहां भूमि D, मुख d, ऊँचाई h, पार्श्वभुजा को l माना गया है, तदनुसार;

$$L = \sqrt{\left(\frac{D-d}{२}\right)^{२} + (H)^{२}}$$

गा. ४, १७९७— जिस तरह त्रिभुज संक्षेत्र (Triangular Prism) के समच्छिन्नक (Frustrum) के अनीक समलम्ब चतुर्भुज होते हैं, उसी प्रकार शंकु के समच्छिन्नक को उदग्र समतल द्वारा केन्द्रीय अक्ष में से होता हुआ काटा जावे तो छेद से प्राप्त आकृतियां भी समलम्ब चतुर्भुज प्राप्त होती हैं। इसलिये, यहां सूत्र में, पहिले दिया गया सूत्र उपयोग में लाया जाता है।



आकृति – ३० ब

यदि, चूलिका के शिखर से h योजन नीचे विष्कम्भ x निकालना हो, तो निम्न लिखित सूत्र का उपयोग किया जा सकता है। (आकृति–३० ब)

$$x = h \div \left[\frac{D-d}{H}\right] + b$$

अथवा $x = D - \left[(H-h) \div \left(\frac{D-b}{H}\right)\right]$

उपर्युक्त सूत्रों का उपयोग, १७९८–१८०० गाथाओं में किया गया है।

गा. ४, १८९९— इस गाथा में समवृत्त रत्नस्तूप, "समवट्टो चेट्टदे रयणथूहो" का नाम शंकु के लिये आया है।

गा, ४, ७११ आदि— ग्रंथकार ने समवशरणके स्वरूप को आनुपूर्वी ग्रंथ के अनुसार वर्णन करने में कुछ क्षेत्रों का वर्णन किया है। मुख्य ये हैं—

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४।३९.

सबसे पहिले सामान्य भूमि का वर्णन है जो सूर्यमंडल के समान गोल, बारह योजन प्रमाण विस्तार-वाली (ऋषभदेव तीर्थंकर के समय की) है। इसके पश्चात्, स्तूप का वर्णन है जिसके सम्बन्ध में आकार, लम्बाई, विस्तार, आदि का कथन नहीं है।

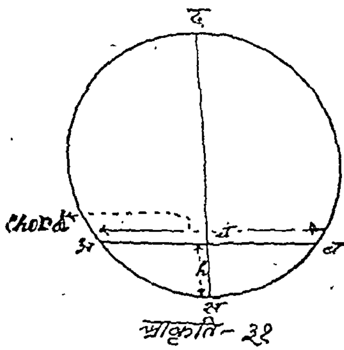
गा. ४, ९०१— सम्भवतः सदा प्रचलित महाभाषाएँ १८ तथा क्षुद्रभाषाएँ (dialects) ७०० हैं[१], ऐसा ज्ञात होता है।

गा. ४, ९०३-९०४— विशेषतया उल्लेखनीय यह वाक्य है "भगवान् जिनेन्द्र की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्य ध्वनि तीनों संध्याकालों में नव मुहूर्तों तक निकलती है"।

गा. ४, ९२९— यहां उन विविध प्रकार के जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण दी है जो जिन देव की वन्दना में प्रवृत्त होते हुए स्थित रहते हैं।

गा. ४, ९३०-३१— कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है, तथापि वे सब जीव जिन देव के माहात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। बालकप्रभृति जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं (यहां इस गति को मध्यम संख्यात ग्रहण करना चाहिये, पर मध्यम संख्यात भी कोई निश्चित संख्या नहीं है)।

गा. ४, ९८७-९७— दूरश्रवण और दूरदर्शन ऋद्धियों की इस कल्पना को विज्ञान ने क्रियात्मक कर दिखलाया है। वह ऋद्धि आत्मिक विकास का फल थी, यह Radio या television भौतिक उन्नति का फल है। दूरस्पर्श तथा दूरघ्राण भी निकट भविष्य में कार्यान्वित हो सकेगा। इसी प्रकार हो सकता है कि दूरस्वादित्व प्रयोग भी संभव हो सके। दूरास्वादित्व की सिद्धि के लिये दशा है: जिह्वेन्द्रिया-वरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्म का उदय हो। सीमा, जिह्वा के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र के बाहिर, संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित विविध रस है। दूरस्पर्शत्व ऋद्धि के लिये सीमा संख्यात योजन है। इसी प्रकार दूरघ्राणत्व ऋद्धिसिद्ध व्यक्ति संख्यात योजनों में प्राप्त हुए बहुत प्रकार की गंधों को सूंघ सकता है। दूरश्रवणत्व तथा दूरदर्शित्व भी संख्यात योजन अर्थात् ४००० मील गुणित संख्यात प्रमाण दूरी की सीमा तक सिद्ध होता है। ऋद्धिसिद्ध व्यक्ति को बाह्य उपकरणों की आवश्यकता न थी, पर आज बाह्य उपकरणों से अनेक व्यक्ति उस ऋद्धि का विशिष्ट दशाओं में लाभ प्राप्त कर सकते हैं।



आकृति-३१

गा. ४, २०२५— इस गाथा में अ स ब द अन्तर्वृत्त क्षेत्र का विष्कम्भ निकालने के लिये सूत्र दिया गया है जब कि अ ब जीवा तथा च स बाण दिया गया हो। यहां आकृति-३१ देखिये।

D = वृत्त का विष्कम्भ Diameter

c = जीवा chord

h = बाण height of the segment

$$\text{तब } D = \frac{(c)^2}{4h} + h = \frac{\left(\frac{c}{2}\right)^2 + h^2}{h}$$

$$= \frac{\left(\frac{D}{2}\right)^2 - \left(\frac{D}{2} - h\right)^2 + h^2}{h} = \frac{Dh}{h} = D$$

१ अभिनवावधि में प्राप्त "भूवलय" ग्रंथ को अंकक्रम से विभिन्न भाषाओं में पढ़ा जा सकता है। इस पर खोज हो रही है।

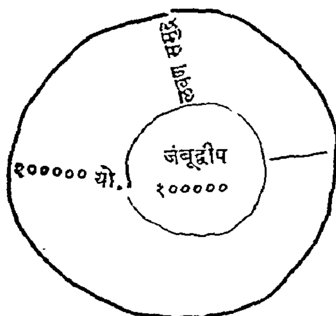
गा. ४, २३७४— इस गाथा में धनुष के आकार के (segment) क्षेत्र का सूक्ष्म क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र दिया गया है।

पिछली गाथा में लिये गये प्रतीकों में

धनुषाकार क्षेत्र (segment) अ स ब प का क्षेत्रफल =

$$\sqrt{\left(\frac{h}{४} C\right)^{२} \times १०} \qquad = \frac{hC}{४}\sqrt{१०}$$

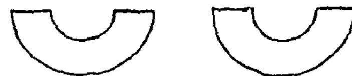
यह सूत्र अपने ढंग का एक है। महावीराचार्य ने गणितसारसंग्रह (७।७०$\frac{१}{२}$) में इसका उल्लेख किया है। इस सूत्र का प्रयोग अर्द्ध वृत्त का क्षेत्रफल निकालने के लिये किया जाय तो h का मान r और c का मान D लेना पड़ेगा। तदनुसार अर्द्ध वृत्त का क्षेत्रफल = $\frac{r.D}{४}\sqrt{१०} = \sqrt{१०}\frac{r^{२}}{२}$

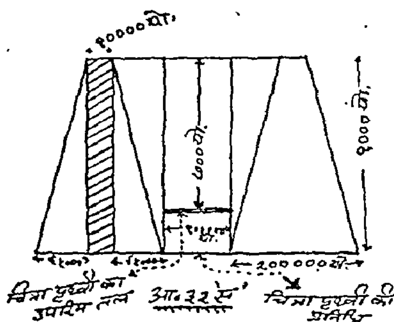


आकृति — ३२:(अ)

गा. ४, २३९८-२४००— आकृति-३२ अ में बीचका वृत्त क्षेत्र जम्बूद्वीप का निरूपण, तथा शेष क्षेत्र लवण समुद्र का निरूपण करता है।

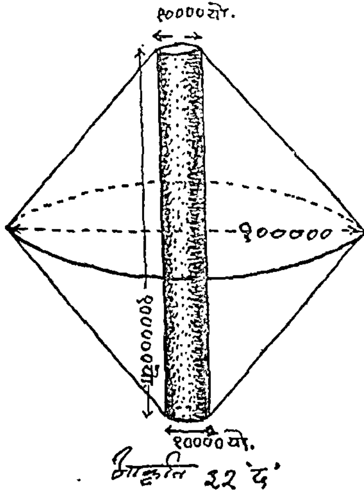
इसका आकार एक नाव के ऊपर दूसरी नाव रखने से प्राप्त हुई आकृति-३२ ब के समान है।


आकृति- ३२ 'ब'



विवरण से (आकृति-३२ स) ज्ञात होता है कि लवण समुद्र की गहराई १००० योजन है। ऊपर विस्तार १०००० योजन और तल विस्तार २००००० योजन है। चित्र में मान को प्रमाण नहीं लिया गया है। यह समुद्र, चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल से ऊपर कूट के आकार से आकाश में ७०० योजन ऊँचा स्थित है।

गा. ४,२४०३ आदि— हानि वृद्धि का प्रमाण मेरु आकृति की गणना के समान यहां भी है। १९० हानि वृद्धि प्रमाण लेकर, भूमि अथवा मुख से इच्छित ऊँचाई या गहराई पर, विष्कम्भ निकाला जा सकता है। रेखांकित भाग बहुमध्य भाग है, जहां चारों ओर (घेरे में) उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य एक हजार आठ पाताल हैं। ये सब पाताल घड़े (vessel) के आकार के हैं।

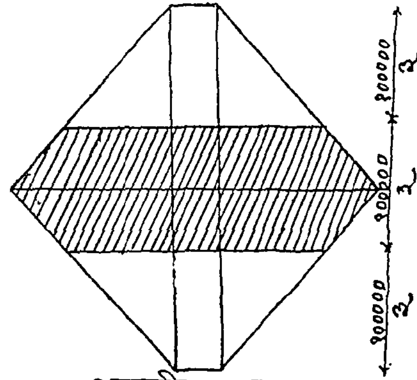


आकृति ३२ 'द'

इस आकृति (३२ द) में ज्येष्ठ पाताल का आकार आदि दिये गये हैं।

ये पाताल क्रम से हीन होते हुए (मध्य भाग से दोनों ओर) नीचे से क्रमशः वायु भाग, जल एवं वायु से चलाचल भाग, और केवल जल भाग में विभाजित हैं।

इन पातालों के पवन सर्व काल शुक्ल पक्ष में स्वभाव से (?) बढ़ते हैं और कृष्ण पक्ष में घटते हैं। शुक्ल पक्ष में कुल पंद्रह दिन होते हैं। प्रत्येक दिन पवन की २२२२$\frac{२}{९}$ योजन उत्सेध में वृद्धि होती है, इस प्रकार कुल वृद्धि शुक्ल पक्ष के अंत में २२२२$\frac{२}{९}$ × १५ = $\frac{१००००००}{३}$ योजन होती है। इससे जल केवल ऊपरी त्रिभाग में तथा वायु निम्न दो त्रिभागों में $\frac{२००००००}{३}$ उत्सेध तक रहते हैं।



आकृति- ३२ इ

आकृति-३२ इ में रेखांकित भाग, जल एवं वायु से चलाचल है अर्थात् उस भाग में वायु और जल, पक्षों के अनुसार बढ़ते घटते रहते हैं। जब वायु बढ़कर दो त्रिभागों को शुक्लपक्षांत में व्याप्त कर लेती है तो जल, सीमांत का उलंघन कर, आकाश में चार हजार धनुष अथवा दो कोस पहुँचता है। फिर कृष्ण पक्ष में यह घटता हुआ, अमावस्या के दिन, भूमि के समतल हो जाता है। इस दिन, ऊपर के दो त्रिभागों में जल और निम्न त्रिभाग में केवल वायु स्थित रहता है। कम घनत्ववाली वायु का, जल के नीचे स्थित रहना, अस्वाभाविक प्रतीत होता है, किन्तु वह कुछ विशेष दशाओं में सम्भव भी है।

गा. ४, २५२५— ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रंथकार को ज्ञात था कि दो वृत्तों के क्षेत्रफलों के अनुपात उनके विष्कम्भों के वर्ग के अनुपात के तुल्य होते हैं[1]। यदि छोटे प्रथम वृत्त का विष्कम्भ D_1 तथा क्षेत्रफल A_1 हो, और बड़े द्वितीय वृत्त का विष्कम्भ D_2 तथा क्षेत्रफल A_2 हो तो

$$\frac{D_2^2 - D_1^2}{D_1^2} = \left(\frac{A_2 - A_1}{A_1}\right) \text{ अथवा } \frac{D_2^2}{D_1^2} = \frac{A_2}{A_1}$$

गा. ४, २५३२ आदि— इन सूत्रों में एक और आकृति का वर्णन है। वह है, 'इष्वाकार आकृति'। इष्वाकर पर्वत निषध पर्वत के समान ऊंचे, लवण और कालोदधि समुद्र से संलग्न तथा अभ्यंतर भाग में अंकमुख व बाह्य भाग में क्षुरप्र के आकार के बतलाये गये हैं। प्रत्येक का विस्तार १००० योजन और अवगाह १०० योजन है।

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०।८७, वृत्त के सम्बन्ध में समानुपात नियम २।११–२० में भी है।

गा. ४, २५७८— १७८१वीं गाथा में वर्णित मुख्य (जम्बूद्वीपस्थ) मेरु के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस गाथा में धातकीखण्डद्वीपस्थ मन्दर नामक पर्वत का वर्णन है। इस मेरु का विस्तार तल भाग में १०००० योजन तथा पृथ्वीपृष्ठ पर ९४०० योजन है। यहां हानि वृद्धि प्रमाण $\frac{१०००० - ९४००}{१०००} = \frac{६}{१०}$ है। यह, अवगाह के लिये है। भूमि से ऊपर, हानि वृद्धि प्रमाण, $\frac{९४०० - १०००}{८४०००} = \frac{१}{१०}$ है।

गा. ४, २५९७— इस गाथा में दिये गये सूत्र का स्पष्टीकरण १८० वीं गाथा में दिया गया है।

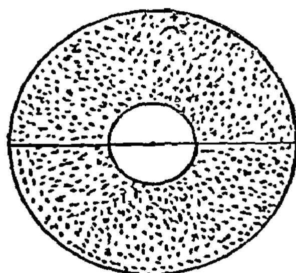
गा. ४, २५९८— इस गाथा में दिये गये सूत्र का स्पष्टीकरण २०२५ वीं गाथा में दिया गया है।

गा. ४, २७६१— इस गाथा में दिया गया सूत्र वृत्त का क्षेत्रफल निकालने के लिये है[1]।

$$\text{वृत्त या समानगोल का क्षेत्रफल} = \frac{\sqrt{[D^२]^२ \times १०}}{४} = \frac{D^२ \times \sqrt{१०}}{४}$$

$$= \left(\frac{D}{२}\right)^२ \sqrt{१०} \text{ जिसे हम } \pi r^२ \text{ लिखते हैं।}$$

गा. ४, २७६३— इस गाथा में वलयाकृति वृत्त अथवा वलय के आकार की आकृति का क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र दिया है[2] (आकृति–३३ देखिये)।



आकृति – ३३

यदि प्रथम वृत्त का विस्तार $D_१$ तथा द्वितीय का $D_२$ माना जाये तो वलयाकार (रेखांकित) क्षेत्र का क्षेत्रफल

$$= \sqrt{\left[२ D_२ - (D_२ - D_१)\right]^२ \times \left(\frac{D_२ - D_१}{४}\right)^२ \times १०}$$

$$= \sqrt{१०}\sqrt{\frac{(D_२ + D_१)^२(D_२ - D_१)^२}{(४)^२}}$$

$$= \sqrt{१०}\left[\frac{D_२^२}{४} - \frac{D_१^२}{४}\right]$$

जिसे हम $\pi [r_२^२ - r_१^२]$ लिखते हैं।

गा. ४, २८१८— इस गाथा में दिये गये सूत्र का स्पष्टीकरण २०२५वीं गाथा में देखिये।

गा. ४, २९२६—

$$\frac{\text{जगश्रेणी}}{[\text{सूच्यंगुल}]^{५।८}} - १ = \text{सामान्य मनुष्य राशि प्रमाण।}$$

इस प्रमाण को इस तरह लिखा गया है :—

जगश्रेणी में सूच्यंगुल के प्रथम और तृतीय वर्गमूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसमें से एक कम कर देने पर उक्त प्रमाण प्राप्त होता है। यहां [सूच्यंगुल]५।८ को लिखने की शैली, पुष्पदंत और भूतबलि द्वारा संरचित षट्खंडागम के सूत्रों से मिलती जुलती है। जैसे, द्रव्यप्रमाणानुगम में सत्रहवीं गाथा में नारक मिथ्यादृष्टि जीव राशि के प्रमाण का कथन यह है। "........तासिं सेढीणं विक्खंभसूचीअंगुल-वग्गमूलं विदियवग्गमूलगुणिदेण[3]।"

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १०।९२.

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०।९१.

३ षट्खंडागम—द्रव्यप्रमाणानुगम, पृष्ठ १३१.

गा. ५, ३३— इस गाथामें अंतिम आठ द्वीप-समुद्रों के विस्तार भी गुणोत्तर श्रेढि में दिये गये हैं। अन्तिम स्वयंभूवर समुद्र का विस्तार—

(जगश्रेणी ÷ २८) + ७५००० योजन दिया गया है।

इस समुद्र के पश्चात् १ राजु चौड़े तथा १००००० योजन बाहल्यवाले मध्यलोक तल पर पूर्व पश्चिम में

"{१ राजु – [(१/४ राजु + ७५००० यो०) + (१/८ राजु + ३७५०० यो०)

+ (१/१६ राजु + १८७५० यो०) + ········· ५०००० योजन] }"

जगह बचती है। यद्यपि १ राजु में से एक अनन्त श्रेढि भी घटाई जावे तब भी यह लम्बाई १/२ राजु से कुछ कम योजन बच रहती है। यह स्थापना सिद्ध करती है कि उन गणितज्ञों को इस गुणोत्तर, असंख्यात पदोंवाली श्रेढियों के योग की सीमा का ज्ञान भी था।

गा. ५, ३४— यदि २nवें समुद्र का विस्तार D_{2n} मान लिया जाय और २n + १वें द्वीप का विस्तार D_{2n+1} मान लिया जाय तब निम्न लिखित सूत्रों द्वारा परिभाषा प्रदर्शित की जा सकेगी।

$D_a = D_{2n+1} \times 2 - D_1 \times 3$ = उक्त द्वीप की आदि सूची

$D_m = D_{2n+1} \times 3 - D_1 \times 3$ = ,, मध्यम सूची

$D_b = D_{2n+1} \times 4 - D_1 \times 3$ = ,, बाह्य सूची

यहाँ D_1 जम्बूद्वीप का विष्कम्भ है।

इस सूत्र का परिवर्तित रूप द्वीपों के लिये भी उपयोग में लाया जा सकता है।

गा. ५, ३५— nवें द्वीप या समुद्र की परिधि $= \frac{D_1 \sqrt{10}}{D_1} \times$ [nवें द्वीप या समुद्र की सूची]

इस सूत्र में कोई विशेषता नहीं है।

गा. ५, ३६— यहाँ इस सिद्धान्त की पुनरावृत्ति है, कि वृत्तों के व्यासों के वर्गों की निष्पत्ति का मान उतना ही होता है जितना कि वृत्तों के क्षेत्रफलों की निष्पत्ति का।

यदि nवें द्वीप या समुद्र की बाह्य सूची Dnb तथा अभ्यंतर सूची (अथवा आदि सूची) Dna प्ररूपित की जावें तो

$\frac{(Dnb)^2 - (Dna)^2}{(D_1)^2}$ = उक्त द्वीप या समुद्र के क्षेत्र में समा जानेवाले जम्बूद्वीप क्षेत्रों की संख्या होती है।

यहाँ D_1 जम्बूद्वीप का विष्कम्भ है तथा $Dna = D_{(n-1)} b$ है, चूँकि किसी भी द्वीप या समुद्र की बाह्य सूची, अनुगामी समुद्र या द्वीप की आदि या आभ्यंतर सूची होती है।

गा. ५, २४२— स्थूल क्षेत्रफल निकालने के लिये, ग्रंथकार ने π का मान स्थूल रूप से ३ ले लिया है और निम्न लिखित नवीन सूत्र दिया है—

n वें द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल $= \text{९}[\text{२}^{n-\text{१}} D_{\text{१}} - D_{\text{१}}]\text{२}^{n-\text{१}} D_{\text{१}}$

$= (\text{३}D_{\text{१}})^{\text{२}} [\text{२}^{n-\text{१}} - \text{१}]\text{२}^{n-\text{१}}$ होता है।

nवें वलयाकार क्षेत्र का क्षेत्रफल निकालने के लिये सूत्र यह है :—

बादर क्षेत्रफल $= Dn[Dna + Dnm + Dnb]$.

यहाँ Dnb का मान $= [\text{२}\{\text{२}^{n-\text{१}} + \text{२}^{n-\text{२}} + \text{२}^{n-\text{३}} + \ldots\ldots + \text{२}^{\text{२}} + \text{२}\} + \text{१}]D_{\text{१}}$ है।

Dna का मान $= [\text{२}\{\text{२}^{n-\text{२}} + \text{२}^{n-\text{३}} + \ldots\ldots + \text{२}\} + \text{१}]D_{\text{१}}$ है।

$Dnm = \frac{Dnb + Dna}{\text{२}}$ है।

इनका मान रखने पर,

बादर क्षेत्रफल $= \text{२}^{n-\text{१}} D\text{१}[Dna + \frac{\text{१}}{\text{२}}(Dna + Dnb) + Dnb]$

$$= \text{२}^{n-\text{१}}(D_{\text{१}})^{\text{२}}\left[\frac{\text{३}}{\text{२}}\left\{\text{२} + \text{२}\left(\frac{\text{२}(-\text{१} + \text{२}^{n-\text{२}})}{\text{१}-\text{२}}\right) + \text{२}\left(\frac{\text{२}(-\text{१} + \text{२}^{n-\text{१}})}{\text{१}-\text{२}}\right)\right\}\right]$$

$$= \text{३}(\text{२}^{n-\text{१}})\cdot(D_{\text{१}})^{\text{२}}[\text{१} + \text{२}^{n-\text{१}} - \text{२} + \text{२}(-\text{१} + \text{२}^{n-\text{१}})],$$

$$= \text{३}^{\text{२}}[\text{२}^{n-\text{१}}](D_{\text{१}})^{\text{२}}[\text{२}^{n-\text{१}} - \text{१}]$$

यह सूत्र, २४२वीं गाथा में दिये गये सूत्रानुसार फल देता है।

गा. ५, २४४— यह सूत्र पिछली गाथा के समान है।

$\{Log_{\text{२}}(Apj) + \text{१}\}$ वें द्वीप या समुद्र[1] का क्षेत्रफल, (Apj) (Apj − १){९००० करोड़ योजन} वर्ग योजन होगा।

पिछली (२४३) वीं गाथा में nवें वलयाकार क्षेत्र का क्षेत्रफल $\text{३}^{\text{२}}(D_{\text{१}})^{\text{२}}[\text{२}^{n-\text{१}}][\text{२}^{n-\text{१}} - \text{१}]$ बतलाया गया है जो $\text{९}(\text{१००००००})^{\text{२}}[\text{२}^{n-\text{१}}][\text{२}^{n-\text{१}} - \text{१}]$ के बराबर है।

यदि हम $n = Log_{\text{२}} Apj + \text{१}$ लिखें तो,

$n - \text{१} = Log_{\text{२}} Apj$ होगा और इसलिये, $\text{२}^{n-\text{१}} = Apj$ हो जावेगा। इस प्रकार, ग्रंथकार ने यहाँ छेदागणित के उपयोग का निदर्शन किया है। उन्होंने जघन्य परीतासंख्यात को १६ के द्वारा प्ररूपित किया है और १ कम जघन्य परीतासंख्यात को (१६ − १) नहीं लिखा है वरन् १५ लिखा है जो उस समय के प्रतीकत्व ज्ञान के संपूर्ण रूप से विकसित न होने का द्योतक है।

इसी प्रकार, $\{Log_{\text{२}}$ (पल्योपम) + १} वें द्वीप का क्षेत्रफल

= (पल्योपम) (पल्योपम − १) × ९०००००००००० वर्ग योजन होता है।

आगे, स्वयंभूरमण समुद्र का क्षेत्रफल निकालने के लिये २४३ या २४४वीं गाथा में दिये गये सूत्र '{बादर क्षेत्रफल $= Dn(\text{३}^{\text{२}})(Dn - D_{\text{१}})$}' का उपयोग किया गया है।

इस समुद्र का विष्कम्भ $Dn = \frac{\text{जगश्रेणी}}{\text{२८}} + \text{७५०००}$ योजन है, इसलिये, बादर क्षेत्रफल =

$$\left[\frac{\text{९}}{\text{२८}}\text{ जगश्रेणी} + \text{६७५००० यो.}\right]\left(\frac{\text{जगश्रेणी}}{\text{२८}} + \text{७५००० यो.} - \text{१००००० यो.}\right)$$

$$= \frac{\text{९.(जगश्रेणी)}^{\text{२}}}{\text{७८४}} + \text{जगश्रेणी}\left(\frac{\text{९}}{\text{२८}} \times (-\text{२५००० यो.}) + \frac{\text{६७५००० यो.}}{\text{२८}}\right)$$

$$-(\text{२५००० यो.} \times \text{६७५००० यो.})$$

$$= \frac{\text{९}}{\text{७८४}}(\text{जगश्रेणी})^{\text{२}} + [\text{११२५०० वर्ग यो.} \times \text{१ राजु}]$$

$$- \text{१६८७५००००००० वर्ग योजन होता है।}$$

---

१ ग्रंथकार ने लिखा है, कि यह द्वीप क्रमांक होगा अर्थात् यह संख्या ऊनी— अयुग्म होगी।

गा. ५, २४५— प्रतीक रूपेण, इस गाथा का निरूपण यह होगा :—

मान लो, इच्छित द्वीप या समुद्र nवाँ है; उसका विस्तार Dn है तथा आदि सूची का प्रमाण Dna है।

तब, शेष वृद्धि का प्रमाण $= २Dn - \left(\frac{४Dn + Dna}{३}\right)$ होता है।

इसका साधन करने पर $\frac{२Dn - Dna}{३}$ प्राप्त होता है।

यहाँ $Dn = २^{n-१}D_१$ है तथा $Dna = १ + २[२ + २^२ + \ldots\ldots + २^{n-२}]$ है।

अर्थात्, $Dna = [१ + २(२^{n-१} - २)]D_१$ यो. है।

$\therefore \frac{२\, Dn - Dna}{३} = \frac{२^n D_१ + [-१ - २^n + ४]D_१}{३} = D_१$

= १००००० योजन होता है।

गा. ५, २४६-४७— [1]प्रतीक रूप से:—

$५०००० \text{ योजन} + \frac{Dna}{२} = \frac{Dnb + [Dn - २०००००]}{४}$

इस सूत्र में भी Dna, Dnb और Dn का आदेशन (substitution) करने पर दोनों पक्ष समान आ जाते हैं।

गा. ५, २४८— प्रतीक रूप से:—

उक्त वृद्धि का प्रमाण $= \{\frac{३}{२}(Dnb) - Dna\}$

$= १\frac{१}{२}$ लाख योजन है।

गा. ५, २५०— प्रतीक रूप से :—

वर्णित वृद्धि का प्रमाण $= \frac{(३Dn - ३०००००) - \left\{\frac{३Dn}{२} - ३०००००\right\}}{२}$ है।

गा. ५, २५१— प्रतीक रूपेण, वर्णित वृद्धि का प्रमाण $= \frac{३}{४}Dn - \left\{\frac{Dn - ८०००००}{१२}\right\}$ है।

गा. ५, २५२— चतुर्थ पक्ष की वर्णित वृद्धि को यदि Kn मान लिया जाय तो इच्छित वृद्धिवाले (n वें) समुद्र से, पहिले के समस्त समुद्रों सम्बन्धी विस्तार का प्रमाण $= \frac{Kn - २०००००}{२}$ होता है।

गा. ५, २५३— वर्णित वृद्धि $= \frac{(३Dn - ३०००००) - \left(\frac{३Dn}{२} - ३०००००\right)}{२}$ है। यह सूत्र २५१ वीं गाथा में कथित सूत्र के सदृश है। अंतर केवल द्वीप और समुद्र शब्दों में है।

१ यहां वर्णित वृद्धियों का व्यावहारिक उपयोग प्रतीत नहीं होता। द्वीप और समुद्रों के विस्तार १, २, ४, ८,......अर्थात् गुणोत्तर श्रेढि में दिये गये हैं। तथा द्वीपों के विस्तार १, ४, १६, ६४...... भी गुणोत्तर श्रेढि में है जिसमें साधारण निष्पत्ति ४ है। उसी प्रकार समुद्रों के विस्तार क्रमशः २, ८, ३२,......आदि दिये गये हैं जहाँ साधारण निष्पत्ति ४ है। इन्हीं के विषय में गुणोत्तर श्रेढि के योग निकालने के सूत्रों की सहायता से, भिन्न २ प्रकार की वृद्धियों का वर्णन ग्रंथकार ने किया है।

गा. ५, २५४— वर्णित वृद्धि का प्रमाण $= \frac{Dn - १००००००}{३} \times २ + \frac{३०००००}{२}$ है।

गा. ५, २५५-५६— अर्द्ध जम्बूद्वीप से लेकर nवें द्वीप तक के द्वीपों के सम्मिलित विस्तार का प्रमाण $= \frac{Dn}{४} + \frac{Dn - २ - १०००००}{३} - \frac{१०००००}{२}$ है।

यहां Dn = ४Dn − २ है; क्योंकि यहां केवल द्वीपों के अल्पबहुत्व को निश्चित करने का प्रसंग चल रहा है।

गा. ५, २५७— वर्णित वृद्धि $= \frac{Dn - १०००००}{३} + २०००००$

अथवा, $= \frac{Dn + ५०००००}{३}$ है।

गा. ५, २५८— अधस्तन द्वीपों के, दोनों दिशाओं सम्बन्धी विस्तार का योगफल

$\frac{२Dn - ५०००००}{३}$ है।

गा. ५, २५९— इष्ट (n वें) समुद्र के, एक दिशा सम्बन्धी विस्तार में वृद्धि का प्रमाण $= \frac{Dn + ४०००००}{३}$ है। यह प्रमाण अतीत समुद्रों के दोनों दिशाओं सम्बन्धी, विस्तार की अपेक्षा से है।

गा. ५, २६०— अतीत समुद्रों के दोनों दिशाओं सम्बन्धी विस्तार का योग

$= \frac{२Dn - ४०००००}{३}$ है।

गा. ५, २६१— [1]वर्णित क्षेत्रफल वृद्धि का प्रमाण $= \frac{३(Dn - १०००००) \times ४Dn}{(१०००००)^२}$ है, जो जम्बूद्वीप के समान, खंडों की संख्या होती है।

गा. ५, २६२— द्वीप समुद्रों के क्षेत्रफल क्रमशः ये हैं :

प्रथम द्वीप : $\sqrt{१०}\left(\frac{१०००००}{२}\right)^२ = \sqrt{१०}\,(२५००००००००००)$ वर्ग योजन

द्वितीय समुद्र : $\sqrt{१०}\left[\left(\frac{५०००००}{२}\right)^२ - \left(\frac{१०००००}{२}\right)^२\right] =$

$\sqrt{१०}\,[६२५००००००००० - २५००००००००००]$

तृतीय द्वीप : $\sqrt{१०}\left[\left(\frac{१३०००००}{२}\right)^२ - \left(\frac{५०००००}{२}\right)^२\right] =$

$\sqrt{१०}\,[४२२५०००००००००० - ६२५०००००००००]$

चतुर्थ समुद्र : $\sqrt{१०}\,(१०)^८\left[\left(\frac{२९०}{२}\right)^२ - \left(\frac{१३०}{२}\right)^२\right] =$

$\sqrt{१०}\,(१०)^८[२१०२५ - ४२२५]$ वर्ग योजन इत्यादि।

---

१ यह पहिले बतलाया जा चुका है कि n वें द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल

$= \sqrt{१०}\,\{(Dnb)^२ - (Dna)^२\}$ है।

इसी सूत्र के आधार पर विविध क्षेत्रों के क्षेत्रफलों का अल्पबहुत्व प्रदर्शित किया गया है।

यहां लवण समुद्र का क्षेत्रफल $(१०)^{\frac{1}{2}}$ [६००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप के क्षेत्रफल $(१०)^{\frac{1}{2}}$ [२५] वर्ग योजन से २४ गुणा है। धातकीखंड द्वीप का क्षेत्रफल $(१०)^{\frac{1}{2}}$ [३६००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप से १४४ गुणा है। इसी प्रकार, कालोदधि समुद्र का क्षेत्रफल $[१०]^{\frac{1}{2}}$ [१६८००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप से ६७२ गुणा है तथा इस कालोदधि समुद्र का क्षेत्रफल धातकीखंड द्वीप की खंडशलाकाओं से ४ गुना होकर ९६ अधिक है, अर्थात् ६७२ = (१४४ × ४) + ९६। पुनः, पुष्करवर द्वीप का क्षेत्रफल $= (१०)^{\frac{1}{2}}\left[\left(\frac{६१०}{२}\right)^२ - \left(\frac{२९०}{२}\right)^२\right]$ वर्ग योजन अथवा $(१०)^{\frac{1}{2}}$ [७२०००] वर्ग योजन है जो जम्बूद्वीप से २८८० गुणा है तथा कालोदधि समुद्र की खंडशलाकाओं से चौगुना होकर ९६ × २ अधिक है; अर्थात् २८८० = (४ × ६७२) + २(९६) है; इत्यादि। साधारणतः यदि किसी अधस्तन द्वीप या समुद्र की खंडशलाकायें Ksn′ मान ली जांय जहां n′ की गणना धातकीखंड द्वीप से आरम्भ हो तो, उपरिम समुद्र या द्वीप की खंडशलाकाओं की संख्या $(४ \times Ksn') + २^{(n'-१)}(९६)$ होगी।

इसी गणना के आधार पर, ग्रंथकार ने, चौगुणे से अतिरिक्त प्रमाण लाने के लिये गाथासूत्र कहा है, जो प्रतीक रूप से इस प्रक्षेप ९६ का मान निकालने के लिये निम्न लिखित रूप से प्ररूपित किया जा सकता है।

$$\text{प्रक्षेप } ९६ = \frac{Kns'}{\frac{Dn'}{१००००००} - १००००००}$$

इस सूत्र में Ksn′ उस द्वीप या समुद्र की खंडशलाकाएं हैं तथा Dn′ विस्तार है।

गा. ५, २६३— लवण समुद्र की खंड शलाकाओं से धातकीखंड द्वीप की शलाकाएं (१४४ − २४) या १२० अधिक हैं। कालोदधि की खंड शलाकाएं धातकीखंड तथा लवण समुद्र की शलाकाओं से ६७२ − (१४४ + २४) या ५०४ अधिक हैं। यह वृद्धि का प्रमाण (१२०) × ४ + २४ लिखा जा सकता है। इसी प्रकार अगले द्वीप की इस वृद्धि का प्रमाण {(५०४) × ४} + (२ × २४) है। इसलिये, यदि धातकीखंड से n′ की गणना प्रारम्भ की जावे तो इष्ट n′ वें द्वीप या समुद्र की खड शलाकाओं की वर्णित वृद्धि का प्रमाण प्रतीक रूप से $\left\{\left(\frac{Dn'}{१०००००}\right)^२ - १\right\} \times ८$ होता है। यहां Dn′, n′ वें द्वीप या समुद्र का विष्कम्भ है। यह प्रमाण उस समान्तरी गुणोत्तर (Arithmetico Geometric series) श्रेढि का n′ वां पद है, जिसके उत्तरोत्तर पद पिछले पदों के चौगुने से क्रमशः $२४ \times २^{n'-१}$ अधिक होते हैं। यद्यपि इसे Arithmetico Geometric series कहा है तथापि यह आधुनिक वर्णित श्रेढियों से भिन्न है। Dn′ स्वतः एक गुणोत्तर संकलन का निरूपण करता है जो ८ से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर १६, ३२, ६४, १२८ आदि हैं। वृद्धि के प्रमाण को n′ वां पद, मानकर बननेवाली श्रेढि अध्ययन योग्य है।

इस पद का साधन करने पर $\left\{\frac{(Dn'+१०००००)\,(Dn'-१०००००)}{(१०००००)^२}\right\} \times ८$ प्रमाण प्राप्त होता है।

गा. ५, २६४ n′ वें द्वीप या समुद्र से अधस्तन द्वीप समुद्रों की सम्मिलित खंड शलाकाओं के लिये ग्रंथकार ने निम्न लिखित सूत्र दिया है:—

उक्त प्रमाण $= \left[\frac{D_{n}'}{२} - १००००० \right] \times [D_{n}' - १०००००] \div १२५०००००००००$

यहां n' की गणना धातकीखंड द्वीप से आरम्भ करना चाहिये। यह प्रमाण दूसरी तरह से भी प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि यह, Dn'a परिधि के अन्तर्गत क्षेत्रफल में, जम्बूद्वीप के क्षेत्रफल की राशि जैसी इतनी राशियां सम्मिलित होना दर्शाता है, इसलिये यह प्रमाण $\frac{\sqrt{१०}\left[\frac{Dn'a}{२}\right]^{२}}{\sqrt{१०}\left[\frac{१०००००}{२}\right]^{२}}$ भी होना चाहिये। इसी के आधार पर ग्रंथकार ने उपर्युक्त सूत्र निकाला होगा।

गा. ५, २६५— अतिरिक्त प्रमाण ७४४ $= \frac{Ksn'}{Dn' \div २०००००}$

गा. ५, २६६— इस गाथा में ग्रंथकार ने बादर क्षेत्रफल निकालने के लिये π का मान ३ मान लिया है। इस आधार पर, द्वीप-समुद्रों के क्षेत्रफल निकालने के लिये ग्रंथकार ने सूत्र दिया है।

nवें द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल निकालने के लिये Dn विस्तार है तथा आयाम (Dn – १०००००)९ है। इन दोनों का गुणनफल उक्त द्वीप या समुद्र का क्षेत्रफल होगा। यह दूसरी रीति से

$$३\left[\left(\frac{Dnb}{२}\right)^{२} - \left(\frac{Dna}{२}\right)^{२}\right]$$ होगा और इस प्रकार,

$$९\ D_{n}(Dn - १०००००) = ३\ \left[\left(\frac{Dnb}{२}\right)^{२} - \left(\frac{Dna}{२}\right)\right]^{२}$$

मान रखने पर, दोनों पक्ष समान सिद्ध किये जा सकते हैं। यहां π को ३ मानकर बादर क्षेत्रफल का कथन किया है।

गा. ५, २६७— उपर्युक्त आधार पर अधस्तन द्वीप या समुद्र के क्षेत्रफल से उपरिम द्वीप अथवा समुद्र के क्षेत्रफल की सातिरेकता का प्रमाण

Dn × ९००००० है। यहां n को गणना कालोदक समुद्र के उपरिम द्वीप से आरम्भ की गई है। यह, वास्तव में उत्तरोत्तर आयाम की वृद्धि का प्रमाण है।

गा. ५, २६८— nवें द्वीप या समुद्र से अधस्तन द्वीप-समुद्रों के पिंडफल को लाने के लिये गाथा *को प्रतीक रूपेण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—*

अधस्तन द्वीप-समुद्रों का सम्मिलित पिंडफल =

$[Dn - १०००००]\ [९(D_{n} - १०००००) - ९०००००] \div ३$

यह दूसरी रीति से $३\left(\frac{Dna}{२}\right)^{२}$ आवेगा।

यदि उपर्युक्त मान रखे जावें तो ये दोनों समान प्राप्त होंगे।

गा. ५, २६९— यहां अतिरेक प्रमाण

$३ \left\{ [२D_{n} - २०००००](३०००००) - ३\left(\frac{१०००००}{२}\right)^{२} \right\}$ है।

गा. ५, २७१— अधस्तन सब समुद्रों का क्षेत्रफल निकालने के लिये गाथा दी गई है। चूंकि द्वीप ऊनी संख्या पर पड़ते हैं इसलिये हम इष्ट उपरिम द्वीप को (२n – १) वां मानते हैं। इस प्रकार, अधस्तन समस्त समुद्रों का क्षेत्रफल :

$$[D_{२n-१} - ३०००००][९(D_{२n-१} - १०००००) - ९०००००] \div १५$$

प्राप्त होता है। इस सूत्र की खोज वास्तव में प्रशंसनीय है।

गा. ५, २७२— वर्णित सातिरेक प्रमाण को प्रतीकरूप से निम्न लिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

$$\{ [D_{na} + D_{nm} + D_{nb}] ४००००० \} - १८००००००००००$$

यहाँ n की गणना वारुणीवर समुद्र से आरम्भ होती है। इस प्रकार, वारुणीवर समुद्र से लेकर अधस्तन समुद्रों के क्षेत्रफल से उपरिम (आगे के) समुद्र का क्षेत्रफल पन्द्रहगुणे होने के सिवाय प्रक्षेपभूत ४५५४००००००००० योजनों से चौगुणा होकर १६२००००००००० योजन अधिक होता है।

गा. ५, २७३— अतिरेक प्रमाण प्रतीक रूपेण

$(D_{nm}) \times ९००००० + २७००००००००००$ होता है।

गा. ५, २७४— जब द्वीप का विष्कम्भ दिया गया हो, तब इच्छित द्वीप से (जम्बूद्वीप को छोड़कर) अधस्तन द्वीपों का संकलित क्षेत्रफल निकालने का सूत्र यह है :—

$$(D_{२n-१} - १०००००) [(D_{२n-१} - १०००००) ९ - २७०००००] \div १५$$

यहाँ $D_{२n-१}$, २n − १वीं संख्या क्रम में आने वाले द्वीप का विस्तार है।

गा. ५, २७५— जब क्षीरवर द्वीप को आदि लिया जाय अथवा n'' की गणना इस द्वीप से प्रारम्भ की जाय तब वर्णित वृद्धि का प्रमाण सूत्र द्वारा यह होगा :—

$$(D_{n''+२} - १०००००) ९ \times ४०००००$$

गा. ५, २७६— धातकीखंड द्वीप के पश्चात् वर्णित वृद्धियाँ त्रिस्थानों में होती हैं। जब n' की गणना धातकीखंड द्वीप से प्रारम्भ होती है; तब वर्णित वृद्धियाँ सूत्रानुसार ये हैं :—

$$\frac{D_{n'}}{२} \times २ ; \quad \frac{D_{n'}}{२} \times ३ ; \quad \frac{D_{n'}}{२} \times ४$$

गा. ५, २७७— अधस्तन द्वीप या समुद्र से उपरिम द्वीप या समुद्र के आयाम में वृद्धि का प्रमाण प्राप्त करने के लिये सूत्र दिया गया है। यहाँ n' की गणना धातकी खंड द्वीप से प्रारम्भ होती है। प्रतीक रूप से आयाम वृद्धि $\frac{D_{n'}}{२} \times ९००$ है।

गा. ५, २८०-८१— यहाँ से कायमार्गणा स्थान में जीवों की संख्या प्ररूपणा, यतिवृषभकालीन अथवा उनसे पूर्व प्रचलित प्रतीकत्व में दी गई है।

तेजस्कायिक राशि उत्पन्न करने के लिये निम्न लिखित विधि ग्रंथकार ने प्रस्तुत की है। इस रीति को स्पष्ट करने के लिये आंग्ल वर्ण अक्षरों से प्रतीक बनाये गये हैं।

सर्वप्रथम[१] एक घनलोक (अथवा ३४३ घन राजु वरिमा) में जितने प्रदेश बिन्दु हैं, उस संख्या को Gl द्वारा निरूपित करते हैं। जब इस राशि को प्रथम बार वर्गित सम्वर्गित करते हैं तब $[Gl]^{Gl}$ राशि प्राप्त होती है।

१ गोम्मटसार जीवकांड गाथा २०३ की टीका में घनलोक से प्रारम्भ न कर केवल लोक से प्रारम्भ किया है। प्रतीत होता है कि घनलोक और लोक का अर्थ एक ही होगा। स्मरण रहे कि लोक का अर्थ असंख्यात प्रमाण प्रदेशों की गणात्मक संख्या है। मुख्य रूप से एक परमाणु द्वारा व्याप्त आकाश के प्रमाण के आधार पर प्रदेश की कल्पना से असंख्यात संलग्न प्रदेश कथंचित् अखंड लोकाकाश की संरचना करते हैं अथवा एक लोक में असंख्यात प्रदेश समाये हुए हैं। इस प्रमाण को लेकर कायमार्गणा स्थान में तेजस्कायिक जीवों की संख्या की प्राप्ति के लिये विधि का निरूपण किया गया है।

(शेष आगे पृ. ७६ पर देखिये)

यह क्रिया एक बार करने से अन्योन्य गुणकार शलाका का प्रमाण एक होता है। जितने बार यह वर्गन सम्वर्गन की क्रिया की जावेगी उतनी ही अन्योन्य. गुणकार शलाकाओं का प्रमाण होगा। ग्रंथकार बतलाते हैं कि—

$\log_2 \log_2 \left[[Gl]^{Gl} \right] = \frac{\text{पल्योपम}}{\text{असंख्यात}}$ होता है। यहाँ सम्भवतः असंख्यात का प्रमाण Aam होना चाहिए।

यदि $[Gl]^{Gl} = २^k$ हो अथवा $\log_2 \left[(Gl)^{Gl} \right] = K$ हो तो K का प्रमाण असंख्यात लोक प्रमाण होता है। यहाँ न तो घन लोक का स्पष्टीकरण है और न लोक का ही।

इस तरह उत्पन्न राशि को भी असंख्यात लोक प्रमाण कहा गया है। इस महाराशि का वर्गन सम्वर्गन करने पर

$\left\{ (Gl)^{Gl} \right\}^{(Gl)^{Gl}}$ प्राप्त होता है। इस समय अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण २ हो जाता है तथा राशि Gl का वर्गन सम्वर्गन दो बार हो जाता है, इस प्रकार वर्णित रीति से Gl का वर्गन सम्वर्गन Gl बार करने पर मानलो L राशि उत्पन्न होती है। इस समय[१] अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण घन लोक बिन्दुओं की संख्या अथवा Gl के बराबर होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह L राशि इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती है।

इसके सिवाय $\log_2 \log_2 [L]$ भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती है। यदि $L = २^{K'}$ हो तो K' भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती है।

अब वर्ग सम्वर्गन की क्रिया L राशि को लेकर प्रारम्भ करेंगे। इस राशि का प्रथम बार वर्गन सम्वर्गन किया तब $(L)^L$ राशि प्राप्त होती है तथा अन्योन्य गुणकार शलाकाओं की संख्या Gl + १ हो जाती है और ग्रंथकार कहते हैं कि $(L)^L$ उसकी वर्गशलाकायें तथा अर्द्धच्छेदशलाकाएँ तीनों ही राशियाँ इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। अब इस L राशि का दूसरी बार वर्गन सम्वर्गन किया तो

आगे चलकर, ग्रंथकार ने तेजस्कायिक राशि का प्रमाण ≡a किया है, जहां a का अर्थ असंख्यात हो सकता है। a का प्रयोग ≡ अथवा लोक के पश्चात् होना इस बात का सूचक है कि ≡ अथवा घनलोक से, तेजस्कायिक जीव राशि को उत्पन्न किया गया है जो द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण बतलाई गई है। साथ ही असंख्यात लोक प्रमाण के लिये जो प्रतीक ९ दिया गया है वह ≡ a से भिन्न है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि असंख्यात शब्द से केवल किसी विशिष्ट संख्या का निरूपण नहीं होता, परन्तु अवधिज्ञानी के ज्ञान में आनेवाली उत्कृष्ट संख्यात के ऊपर की संख्याओं का प्ररूपण होता है। ९, प्रतीक ९ अंक से लिया गया प्रतीत है, जहाँ ३ का घन ९ होता है। ३ विमाओं (उत्तर दक्षिण, पूर्व पश्चिम, तथा ऊर्ध्व अधो भाग) में स्थित लोकाकाश जो जगश्रेणी के घन के तुल्य घनफलवाला है, ऐसे लोकाकाश को ९ लेना उपयुक्त प्रतीत होता है; पर, इस ९ प्रतीक को असंख्यात लोक प्रमाण गणात्मक संख्या का प्ररूपण करने के लिये उपयोग में लाया गया है।

१ ग्रंथकार ने यहाँ अन्योन्य गुणकार शलाकाओं का प्रमाण Gl (घनलोक) न लेकर केवल लोक ही किया है जिससे प्रतीत होता है कि यहाँ लोक और घनलोक में कोई अंतर नहीं है।

$\left[{(L)^L}\right]^{(L)^L}$ राशि प्राप्त होगी और तब अन्योन्य शलाकाओं की संख्या Gl + २ हो जावेगी तथा उत्पन्न महाराशि, उसकी वर्गशलाकाएँ तथा उसकी अर्द्धच्छेद-शलाकाएँ इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि दो कम उत्कृष्ट संख्यात लोक प्रमाण अन्योन्य गुणकार शलाकाओं के दो अधिक लोक प्रमाण अन्योन्य गुणकार शलाकाओं में प्रविष्ट होने पर चारों ही राशियां असंख्यात लोक प्रमाण हो जाती हैं। यह कथन असंख्यात की परिभाषा के अनुसार ठीक है।

क्योंकि दो कम उत्कृष्ट संख्यात लोक प्रमाण बार और वर्गन सम्वर्गन होने पर अन्योन्य गुणकार-शलाकाओं की संख्या = Gl + २ + [Su]Gl − २

= [Su + १]Gl

तथा Su + १ = Apj अथवा जघन्य परीतासंख्यात हो जावेगी। इस प्रकार चारों राशियां, इतने बार के वर्गन सम्वर्गन से असंख्यात लोक प्रमाण हो जावेंगी। यहां असंख्यात शब्द का उपयुक्त अर्थ लेना वांछनीय है।

इस प्रकार, जब L राशि का वर्गन सम्वर्ग L बार किया जावेगा तो अंत में मान लो M राशि उत्पन्न होगी। यहां स्पष्ट है कि M, M की वर्गशलाकाएं तथा अर्द्धच्छेदशलाकाएं और साथ ही अन्योन्य गुणकार शलाकाएं ये चारों ही राशियां इस समय असंख्यात लोक प्रमाण होंगीं।

इसी प्रकार M राशिको M बार वर्गित सम्वर्गित करने पर भी ये चारो राशियां अर्थात् उत्पन्न हुई (मान लो) राशि N, उसकी वर्गशलाकाएं और अर्द्धच्छेदशलाकाएं तथा अन्योन्य गुणकारशलाकाएं ये सब ही इस समय भी असंख्यात लोक प्रमाण रहती हैं।

अब चौथी बार N राशि को स्थापित कर उसे [N − M − L − Gl] बार वर्गित सम्वर्गित करने पर तेजस्कायिक राशि उत्पन्न होती है जो असंख्यात घन लोक[1] प्रमाण होती है। ग्रंथकार ने इस तरह उत्पन्न हुई महाराशि को ≡a प्रतीक द्वारा निरूपित किया है। इस प्रकार तेजस्कायिक राशि की अन्योन्य गुणकार शलाकाएं N हैं[2], क्योंकि, N − (M + L + Gl) + (M + L + Gl) = N होता है।

ग्रंथकार ने "अतिक्रांत अन्योन्य गुणकार शलाकाओं" शब्द M + L + Gl के लिये व्यक्त किये हैं। यहां ग्रंथकार ने असंख्यात लोक प्रमाण के लिये ९ प्रतीक दिया है।

इस प्रकार, पृथ्वीकायिक राशि का प्रमाण $\left(\text{तेजस्कायिक राशि} + \frac{\text{ते. का. रा.}}{\text{असं० लोक}}\right)$ होता है।

अथवा, दक्षिण पक्ष का प्रमाण $\left(\equiv a + \frac{\equiv a}{९}\right)$ होता है।

---

१ घनलोक तथा लोक का अंतर संशयात्मक है, तथापि घनलोक लिखने का आशय हम पहिले बतला चुके हैं।

२ इसके विषय में वीरसेनाचार्य ने कहा है कि कितने ही आचार्य चौथी बार स्थापित (N) शलाका राशि के आधे प्रमाण के 'व्यतीत' होने पर तेजस्कायिक जीवराशि का उत्पन्न होना मानते हैं तथा कितने ही आचार्य इस कथन को नहीं मानते हैं, क्योंकि, साढ़े तीन बार राशि का समुदाय वर्गधारा में उत्पन्न नहीं है। यहां वीरसेनाचार्य ने वर्गशालाकाओं तथा अर्द्धच्छेदशलाकाओं के प्रमाण के आधार पर अनेकान्त से दोनों मतों का एक ही आशय सिद्ध किया है और विरोध विहीन स्पष्टीकरण किया है जो षट्खंडागम में देखने योग्य है। षट्खंडागम, पुस्तक ३, पृष्ठ ३३७.

[1]यह प्रमाण $\equiv a \, \frac{१०}{९}$ अथवा '$\left(\frac{१०}{९} \text{ असंख्यात घन लोक}\right)$' के तुल्य निरूपित किया गया है ।

इसी प्रकार, जलकायिक राशि का प्रमाण प्रतीक रूपेण,[2]

$$\left(\equiv a \, \frac{१०}{९}\right) + \left(\frac{\equiv a}{९} \cdot \frac{१०}{९}\right) \text{ होता है ।}$$

अथवा, यह $\equiv a \cdot \frac{१०}{९} \left[१ + \frac{१}{९}\right]$ या $\equiv a \, \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}$ है ।

इसी प्रकार वायुकायिक राशि का प्रमाण;

$$\left(\equiv a \, \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}\right) + \left(\frac{\equiv a}{९} \cdot \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}\right) \text{ होता है ।}$$

अथवा, यह $\equiv a \, \frac{१०}{९} \, \frac{१०}{९} \left[१ + \frac{१}{९}\right]$ या $\equiv a \, \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}$ है । यहां,

---

१ यहां $१ + \frac{१}{\text{असंख्यात लोक}} = \frac{\text{असंख्यात लोक} + १}{\text{असंख्यात लोक}}$ होना चाहिये पर ग्रंथकार ने (असंख्यात लोक + १) को (९ + १) न लिखकर १० लिख दिया है जो प्रतीक प्रतीत नहीं होता । आगे १० का वारंवार उपयोग हुआ है, इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि वह (असंख्यात लोक + १) का प्ररूपण करने के लिये प्रतीकरूप में ले लिया गया है ।

२ इस अध्याय में ग्रंथकार ने प्रतीकत्व के आधार पर परम्परागत ज्ञान का निर्देशन सरल विधि से स्पष्ट करने का अद्वितीय प्रयास किया है । गणितज्ञ इतिहासकार श्री बेल के ये शब्द यहां चरितार्थ होते प्रतीत होते हैं—"Extensive tracts of mathematics contain almost no symbolism, while equally extensive tracts of symbolism contain almost no mathematics." यदि इस प्रतीकत्व को सुधार करने का प्रयास सतत रहता तो जैन गणित की उपेक्षा इस तरह न होती और विश्व की गणित के आधुनिक इतिहास में इसका भी नाम होता । वह केवल इतिहास की ही वस्तु न होकर अध्ययन का विषय होकर उत्तरोत्तर नवीन खोजों से भरी होती । गणित में प्रतीकत्व के विकास के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने कठिनता से अवधारणा में आनेवाली संख्याओं के निरूपण के लिये प्रतीकों का स्वतंत्र रूप से विकास किया । अन्य भारतीय गणितज्ञ भी उनके इस विकास से या तो अनभिज्ञ रहे या उन्होंने इसकी कोई कारणों वश उपेक्षा की । धन, ऋण, बराबर, भिन्न, भाग, गुणा आदि के चिह्नों का उपयोग इस ग्रंथ में नहीं मिलता है । परन्तु मस्तिष्क के परे की संख्याओं या वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रतीक देकर और उन्हीं पर आधारित नई संख्याओं को निरूपित करने का प्रयास स्पष्ट है । इस समय तक धन के लिये धन, ऋण के लिये ऋण लिखा जाता था । बराबर और गुणा के लिये कोई चिह्न नहीं मिलता है । भिन्न $\frac{१}{२}$ को $\frac{१}{२}$ लिखा करते थे । भाग निरूपण के लिये भी कोई विशिष्ट चिह्न नहीं मिलता । वर्गमूल के लिये भी केवल 'वग्गमूल' लिखा जाता था । अर्द्धच्छेद के $\log_2$ सरीखा सरल कोई भी प्रतीक नहीं मिलता । वर्ग या कृति, इत्यादि घातांकों को शब्दों से निर्देशित किया जाता था । यद्यपि, अभी तक अलौकिक गणित सम्बन्धी गणित ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सका है जो क्रियात्मक प्रतीकत्व (Operational symbolism) के उपयोग का समर्थन कर सके, तथापि वीरसेनाचार्यकाल में अर्द्धच्छेद तथा वर्गशलाकाओं के आधार पर विभिन्न द्रव्य प्रमाणों के अल्पबहुत्व का निदर्शन, बिना क्रियात्मक प्रतीकत्व के प्रायः असम्भव है ।

१० पुन: (असंख्यात लोक + १) की निरूपणा करता है[1]।

इसके पश्चात्, तेजस्कायिक बादर राशि का प्रमाण $\equiv\frac{a}{९}$ माना गया है तथा सूक्ष्म राशि का प्रमाण

$$(\equiv a) \text{ रिण } \left(\frac{\equiv a}{९}\right)$$

अर्थात् $(\equiv a)\left[१ \text{ रिण } \frac{१}{९}\right]$ अथवा

$\equiv a\left[\frac{\text{असंख्यात लोक रिण १}}{\text{असंख्यात लोक}}\right]$ माना गया है, जिसे ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण, $\equiv a\frac{८}{९}$ लिखा है। यहां (असंख्यात लोक रिण १) के लिये प्रतीक ८ दिया गया है।

इसी प्रकार, वायुकायिक बादरराशि का प्रमाण $\frac{\equiv a}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot$ है; तथा सूक्ष्म राशि का प्रमाण $\equiv a\,\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{८}{१}$ अथवा $\equiv a\,\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{८}{९}$ है। यहां १०, (असंख्यात लोक + १) तथा ८, (असंख्यात लोक – १) का निरूपण करते हैं।

अब, जलकायिक बादर पर्याप्तक राशि का प्रमाण ग्रंथकार ने प्रतीक द्वारा $\frac{=प}{४a}$ बतलाया है। यहां = जगप्रतर है, प पल्योपम है, ४ प्रतरांगुल है और a असंख्यात का प्रतीक है। जब इस राशि में आवलि के असंख्यातवें भाग का भाग दिया जाता है, तो पृथ्वीकायिक बादर पर्याप्त जीवों की संख्या का प्रमाण मिलता है। जहां आवलि का असंख्यातवाँ भाग प्रतीक रूप से ग्रंथकार ने $\frac{१}{९}$ लिया है जिसका अर्थ $\frac{१}{\text{असंख्यात लोक}}$ होता है (यह प्रमाण $\frac{१}{९}$ के स्थान में $\frac{\text{आवलि}}{\text{असंख्यात}}$ अथवा $\frac{\text{आवलि}}{a}$ लिखना चाहिये था, पर वास्तव में यहाँ असंख्यात प्रमाण का अर्थ असंख्यात लोक ही है) जिसके लिये प्रतीक ९ है। इस प्रकार, पृथ्वीकायिक पर्याप्त बादर जीवराशि का प्रमाण ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण $\frac{=प\cdot९\cdot}{४\,a}$ दिया है। स्पष्ट है कि प्रतीक रूपेण निरूपण, अत्यन्त सरल, संक्षिप्त, युक्त एवं सुग्राह्य है।

इसके पश्चात्, तेजस्कायिक बादर पर्याप्त राशि का प्रमाण प्रतीक रूप से $\frac{८}{a}$ दिया गया है जहाँ ८ को आवलि का प्रतीक माना है।

यह बतलाना आवश्यक है कि जब आवलि का प्रतीक ८ माना गया है तो आवलि के असंख्यातवें भाग को $\frac{८}{९}$ न लेकर $\frac{१}{९}$ क्यों लिया गया है? इसके दो कारण हो सकते हैं। एक यह, कि असंख्यात लोक प्रमाण राशि (९) की तुलना में आवलि (जघन्य युक्त असंख्यात समयों की गणात्मक संख्या की

---

१ यदि संख्या a है और इस संख्या को ९ द्वारा भाजित करने से जो लब्ध आवे वह इस a संख्या में जोड़ना हो तो क्रिया इस प्रकार है :— $a+\frac{a}{९}=\frac{१०\,a}{९}=\frac{a\,१०}{९}$। इसका ९वां भाग और जोड़ने पर $a\,\frac{१०}{९}\times\frac{१०}{९}$ प्राप्त होता है।

[1]यह प्रमाण $\equiv a \frac{१०}{९}$ अथवा '$\left(\frac{१०}{९}\right.$ असंख्यात घन लोक$\left.\right)$' के तुल्य निरूपित किया गया है।

इसी प्रकार, जलकायिक राशि का प्रमाण प्रतीक रूपेण,[2]

$\left(\equiv a \frac{१०}{९}\right) + \left(\frac{\equiv a}{९} \cdot \frac{१०}{९}\right)$ होता है।

अथवा, यह $\equiv a \cdot \frac{१०}{९}\left[१ + \frac{१}{९}\right]$ या $\equiv a \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}$ है।

इसी प्रकार वायुकायिक राशि का प्रमाण;

$\left(\equiv a \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}\right) + \left(\frac{\equiv a}{९} \cdot \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}\right)$ होता है।

अथवा, यह $\equiv a \frac{१०}{९} \frac{१०}{९}\left[१ + \frac{१}{९}\right]$ या $\equiv a \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९} \cdot \frac{१०}{९}$ है। यहां,

---

१ यहां $१ + \frac{१}{\text{असंख्यात लोक}} = \frac{\text{असंख्यात लोक} + १}{\text{असंख्यात लोक}}$ होना चाहिये पर ग्रंथकार ने (असंख्यात लोक + १) को (९ + १) न लिखकर १० लिख दिया है जो प्रतीक प्रतीत नहीं होता। आगे १० का बारंबार उपयोग हुआ है, इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि वह (असंख्यात लोक + १) का प्ररूपण करने के लिये प्रतीकरूप में ले लिया गया है।

२ इस अध्याय में ग्रंथकार ने प्रतीकत्व के आधार पर परम्परागत ज्ञान का निर्देशन सरल विधि से स्पष्ट करने का अद्वितीय प्रयास किया है। गणितज्ञ इतिहासकार श्री बेल के ये शब्द यहां चरितार्थ होते प्रतीत होते हैं—"Extensive tracts of mathematics contain almost no symbolism, while equally extensive tracts of symbolism contain almost no mathematics." यदि इस प्रतीकत्व को सुधार करने का प्रयास सतत रहता तो जैन गणित की उपेक्षा इस तरह न होती और विश्व की गणित के आधुनिक इतिहास में इसका भी नाम होता। वह केवल इतिहास की ही वस्तु न होकर अध्ययन का विषय होकर उत्तरोत्तर नवीन खोजों से भरी होती। गणित में प्रतीकत्व के विकास के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने कठिनता से अवधारणा में आनेवाली संख्याओं के निरूपण के लिये प्रतीकों का स्वतंत्र रूप से विकास किया। अन्य भारतीय गणितज्ञ भी उनके इस विकास से या तो अनभिज्ञ रहे या उन्होंने इसकी कोई कारणों वश उपेक्षा की। धन, ऋण, बराबर, भिन्न, भाग, गुणा आदि के चिह्नों का उपयोग इस ग्रंथ में नहीं मिलता है। परन्तु मस्तिष्क के परे की संख्याओं या वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रतीक देकर और उन्हीं पर आधारित नई संख्याओं को निरूपित करने का प्रयास स्पष्ट है। इस समय तक धन के लिये धन, ऋण के लिये ऋण लिखा जाता था। बराबर और गुणा के लिये कोई चिह्न नहीं मिलता है। भिन्न $\frac{१}{२}$ को $\frac{१}{२}$ लिखा करते थे। भाग निरूपण के लिये भी कोई विशिष्ट चिह्न नहीं मिलता। वर्गमूल के लिये भी केवल 'वग्गमूल' लिखा जाता था। अर्द्धच्छेद के $\log_2$ सरीखा सरल कोई भी प्रतीक नहीं मिलता। वर्ग या कृति, इत्यादि घातांकों को शब्दों से निर्देशित किया जाता था। यद्यपि, अभी तक अलौकिक गणित सम्बन्धी गणित ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सका है जो क्रियात्मक प्रतीकत्व (Operational symbolism) के उपयोग का समर्थन कर सके, तथापि वीरसेनाचार्यकाल में अर्द्धच्छेद तथा वर्गशलाकाओं के आधार पर विभिन्न द्रव्य प्रमाणों के अल्पबहुत्व का निदर्शन, बिना क्रियात्मक प्रतीकत्व के प्रायः असम्भव है।

१० पुन : (असंख्यात लोक + १) की निरूपणा करता है[1] ।

इसके पश्चात्, तेजस्कायिक बादर राशि का प्रमाण $\frac{\equiv a}{९}$ माना गया है तथा सूक्ष्म राशि का प्रमाण

$$\left(\equiv a\right) \text{ रिण } \left(\frac{\equiv a}{९}\right)$$

अर्थात् $\left(\equiv a\right)\left[१ \text{ रिण } \frac{१}{९}\right]$ अथवा

$\equiv a\left[\frac{\text{असंख्यात लोक रिण १}}{\text{असंख्यात लोक}}\right]$ माना गया है, जिसे ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण, $\equiv a \frac{८}{९}$ लिखा है। यहां (असंख्यात लोक रिण १) के लिये प्रतीक ८ दिया गया है।

इसी प्रकार, वायुकायिक बादरराशि का प्रमाण $\frac{\equiv a}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot$ है; तथा सूक्ष्म राशि का प्रमाण $\equiv a \frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{८}{१}$ अथवा $\equiv a \frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{१०}{९}\cdot\frac{८}{९}$ है। यहां १०, (असंख्यात लोक + १) तथा ८, (असंख्यात लोक − १) का निरूपण करते हैं।

अब, जलकायिक बादर पर्याप्तक राशि का प्रमाण ग्रंथकार ने प्रतीक द्वारा $\frac{= प}{४ a}$ बतलाया है। यहां = जगप्रतर है, प पल्योपम है, ४ प्रतरांगुल है और a असंख्यात का प्रतीक है। जब इस राशि में आवलि के असंख्यातवें भाग का भाग दिया जाता है, तो पृथ्वीकायिक बादर पर्याप्त जीवों की संख्या का प्रमाण मिलता है। जहां आवलि का असंख्यातवाँ भाग प्रतीक रूप से ग्रंथकार ने $\frac{१}{९}$ लिया है जिसका अर्थ $\frac{१}{\text{असंख्यात लोक}}$ होता है (यह प्रमाण $\frac{१}{९}$ के स्थान में $\frac{\text{आवलि}}{\text{असंख्यात}}$ अथवा $\frac{\text{आवलि}}{a}$ लिखना चाहिये था, पर वास्तव में यहाँ असंख्यात प्रमाण का अर्थ असंख्यात लोक ही है) जिसके लिये प्रतीक ९ है। इस प्रकार, पृथ्वीकायिक पर्याप्त बादर जीवराशि का प्रमाण ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण $\frac{= प \cdot ९ \cdot}{४ a}$ दिया है। स्पष्ट है कि प्रतीक रूपेण निरूपण, अत्यन्त सरल, संक्षिप्त, युक्त एवं सुग्राह्य है।

इसके पश्चात्, तेजस्कायिक बादर पर्याप्त राशि का प्रमाण प्रतीक रूप से $\frac{८}{a}$ दिया गया है जहाँ ८ को आवलि का प्रतीक माना है।

यह बतलाना आवश्यक है कि जब आवलि का प्रतीक ८ माना गया है तो आवलि के असंख्यातवें भाग को $\frac{८}{९}$ न लेकर $\frac{१}{९}$ क्यों लिया गया है ? इसके दो कारण हो सकते हैं। एक यह, कि असंख्यात लोक प्रमाण राशि (९) की तुलना में आवलि (जघन्य युक्त असंख्यात समयों की गणात्मक संख्या की

---

१ यदि संख्या a है और इस संख्या को ९ द्वारा भाजित करने से जो लब्ध आवे वह इस a संख्या में जोड़ना हो तो क्रिया इस प्रकार है :— $a + \frac{a}{९} = \frac{१० a}{९} = \frac{a\ १०}{९}$ । इसका ९वां भाग और जोड़ने पर $a \frac{१०}{९} \times \frac{१०}{९}$ प्राप्त होता है।

प्रतीक रूप राशि) और एक का अन्तर नगण्य है। दूसरा यह, कि ९ के साथ ८ का उपयोग करने पर कहीं उसका अर्थ (असंख्यात लोक − १) प्रमाण राशि न मान लिया जाय। इस प्रकार $\frac{=प\cdot९}{४\cdot a \text{ (आवलि)}}$ लिखे जानेवाले प्रमाण में आवलि के स्थान पर ८ का उपयोग नहीं हुआ प्रतीत होता है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा २०९ में आवलि न लेकर घनावलि लिया गया है। घनावलि शब्द ठीक मालूम पड़ता है। आवलि यदि २ मानी जावे तब घनावलि की संदृष्टि ८ हो सकती है। परन्तु, यह इसलिये सम्भव नहीं है कि २ को सूच्यंगुल का प्रतीक माना गया है।

स्मरण रहे कि उपर्युक्त प्रतीक रूप राशियों (Sets) का उल्लेख, उन राशियों में मुख्य रूप से आकाश में प्रदेशों की उदधारणा के आधार पर समाये जानेवाले प्रदेशों की गणात्मक संख्या बतलाने के लिये किया गया है।

आगे वायुकायिक बादर पर्याप्त राशि को ग्रंथकार ने प्रतीक रूप से $\frac{\equiv}{\text{संख्यात}}$ लिखा गया है। यहाँ ≡ घन लोक की संदृष्टि प्रतीत होती है पर ग्रंथकार द्वारा वहाँ केवल लोक शब्द उपयोग में लाया गया है। संख्यात राशि के प्रतीक के लिये तिलोयपण्णत्ति भाग २, पृ. ६०२ देखिये। सुविधा के लिये हम आगे चलकर इसे Q द्वारा प्ररूपित करेंगे।

तदुपरान्त, पृथ्वीकायिक जीवों की *'सूक्ष्म पर्याप्त जीव राशि'* तथा *'सूक्ष्म अपर्याप्त जीवराशि'* के प्रमाण, क्रमशः, प्रतीक रूपेण $\equiv a.\frac{१०}{९}.\frac{८}{९}.\frac{४}{५}$ तथा $\frac{\equiv a}{९}.\frac{१०}{९}.\frac{८}{५}$ निरूपित किये गये हैं। प्रथम राशि को प्राप्त करने के लिये $\left(\frac{\equiv a}{९}.\frac{१०}{९}.\frac{८}{१}\right)$ प्रमाण को अपने योग्यसंख्यात रूपों से खंडित करके उसका बहुभाग ग्रहण करना पड़ता है। दूसरी राशि उक्त प्रमाण का एक भाग रूप ग्रहण करने पर प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि अपर्याप्तक के काल से पर्याप्तक का काल संख्यातगुणा होता है। स्पष्ट है, कि पृथ्वीकायिक सूक्ष्मराशि का $\frac{४}{५}$ वां भाग पर्याप्त जीव राशि ली गई है तथा $\frac{१}{५}$ भाग अपर्याप्त जीव राशि ली गई है।

त्रसकायिक जीव राशि का प्रमाण प्रतीक रूपेण $\frac{=}{४}.\frac{a}{२}$ लिया गया है। गोम्मटसार जीवकांड गाथा २११ के अनुसार ४ प्रतरांगुल है, = जगप्रतर है, २ आवलि है, तथा a असंख्यात है। इस प्रकार, आवलि के असंख्यातवें भाग $\left(\frac{२}{a}\right)$ से विभक्त प्रतरांगुल (४) का भाग जगप्रतर (=) में देने से $\frac{=}{४\div\frac{२}{a}}$ प्रमाण राशि त्रस जीव राशि प्राप्त होती है।

इसके पश्चात् ग्रंथकार ने प्रतीक रूप से, सामान्य वनस्पतिकायिक जीव राशि का प्रमाण यह दिया है :—

$$\text{सर्व जीवराशि रिण}\left[\frac{=}{४}.\frac{a}{२}\right]\text{ रिण }\left[\equiv a\left(\frac{\sim}{४}-\right)\right]$$

अंतिम पद $\equiv a\left(\frac{\sim}{४}-\right)$ समस्त तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक, वायुकायिक तथा जलकायिक राशियों के योग का प्रतीक है। ४ का अर्थ हम छः में से इन चारों कायों के जीव ले सकते हैं। शेष ∼ तथा − का निश्चित अर्थ कहने में अभी समर्थ नहीं हैं।

उपर्युक्त जीव राशि में से *असंख्यात लोक प्रमाण राशि घटाने पर साधारण वनस्पतिकायिक जीव राशि* उत्पन्न होती है। यथा :

$\left(\text{सर्व जीवराशि रिण} = \text{रिण} \equiv a \,\overset{\sim\;-}{|४}\right)$ ऋण (असंख्यात लोक प्रमाण)

४
२
a

असंख्यात लोक के लिये ९ संदृष्टि हो सकती है, पर यहां असंख्यात लोक प्रमाण से प्रत्येक वनस्पति जीव राशिका आशय है। जिसका प्रमाण ग्रंथकार ने, आगे, $\equiv a \overset{\sim\;-}{\equiv a}$ प्ररूपित किया है। शेष बचनेवाली संख्या के लिए ग्रंथकार ने १३≡ प्रतीक दिया है। यह संदृष्टि किस आधार पर ली गई है, स्पष्ट नहीं है, तथापि ९ और ४ अंकों के पास होने के कारण ली गई प्रतीत होती है। सम्भवतः १३ का स्पष्टीकरण षट्खंडागम पुस्तक ३ में पृष्ठ ३७२ आदि में वर्णित विवरण से हो सके।

इसके पश्चात्, साधारण बादर वनस्पतिकायिक जीवराशि

$\frac{१३\equiv}{९}$ द्वारा प्ररूपित की गई है जहाँ ९ असंख्यात लोक का प्रतीक है। इस राशि को १३≡ में घटाने पर १३≡ $\frac{८}{९}$ प्रमाण राशि साधारण सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवराशि बतलाई गई है। यहाँ ८ का अर्थ, 'असंख्यात लोक रिण एक' है।

पुनः, साधारण बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवराशि का प्रमाण प्रतीक रूपेण $\frac{१३\equiv}{९}\cdot\frac{१}{७}$ लिया है जहाँ ७ अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण राशि को मान लिया गया है। इसे $\frac{१३\equiv}{९}$ में से घटाने पर प्रतीक रूपेण साधारण बादर अपर्याप्त जीव राशि $\frac{१३\equiv}{९}\cdot\frac{६}{७}$ प्ररूपित की गई है। इस प्रकार अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण राशि में से एक घटाने पर जो राशि प्राप्त होती है, उसे ६ द्वारा निरूपित किया गया है।

पुनः, १३≡ $\frac{८}{९}$ का $\frac{४}{५}$ वां भाग साधारण सूक्ष्म वनस्पतिकायिक पर्याप्त जीवराशि तथा $\frac{१}{५}$ वां भाग अपर्याप्त जीवराशि का प्रमाण बतलाया गया है।

असंख्यात लोक प्रमाण राशि जो $\equiv a \overset{\sim\;-}{\equiv a}$ ली गई थी, वह प्रत्येकशरीर वनस्पति जीवों का प्रमाण भी है।

आगे, ग्रंथकार ने अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक जीवराशि को असंख्यात लोक परिमाण बतलाकर ≡a प्रतीक रूपेण प्ररूपित किया है। इसमें जब असंख्यात लोकों का गुणा करते हैं तब प्रतिष्ठित जीवराशि का प्रमाण ≡a ≡a प्राप्त होता है।

बादर निगोदप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक पर्याप्त जीवराशि का प्रमाण : पृ. का. बा. प. जीवराशि $\div\frac{\text{आवलि}}{\text{असंख्यात}}$ है। यहाँ ग्रंथकार ने फिर से $\frac{\text{आवलि}}{\text{असंख्यात}}$ को $\frac{२}{a}$ नहीं लिया वरन् $\frac{१}{९}$ अथवा $\frac{१}{\text{असंख्यात लोक}}$ प्रमाण लिया है। इसलिये प्रमाण $\frac{=प\,९}{४\,a}\cdot\frac{९}{१}$ आता है। आगे, बादर निगोदप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त जीवराशि तक का वर्णन तथा प्रतीक स्पष्ट हैं।

इसके बाद, ग्रंथकार ने प्रतीकरूपेण दोइंद्रिय, तीनइंद्रिय, चतुरिंद्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों के प्रमाण मूल गाथा में प्रदर्शित किये हैं जो क्रमशः

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८४२४}{६५६१},\ \frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{६१२०}{६५६१};$$

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{५८६४}{६५६१}\text{ तथा }\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{६१२०}{६५६१}\text{ हैं।}$$

जहां = जगप्रतर है, ४ प्रतरांगुल है, २ आवलि है, तथा a असंख्यात का प्रतीक है। इन राशियों की प्राप्ति क्रमशः निम्न रीति से स्पष्ट हो जावेगी।

$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{९}$ अलग स्थापित करते हैं तथा,

$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{९}\cdot\frac{१}{४}$, चार जगह अलग २ स्थापित करते हैं।

दो इंद्रिय जीवों का प्रमाण निकालने के लिये $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{९}$ में $\frac{१}{९}$ का गुणा करने से प्राप्त राशि को $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{९}$ में से घटा देने पर अवशिष्ट $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{८१}$ राशि बचती है जिसे अलग स्थापित किये प्रथम पुंज में मिलाने पर

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{८१}+\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{९}\cdot\frac{१}{४}$$

$$\text{अथवा }\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{८१}\cdot\frac{८१}{८१}+\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{९}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८१}{८१}\cdot\frac{९}{९}$$

$$\text{अथवा }\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\ \frac{(८\times४\times८१)+(८\times८१\times९)}{८१\times८१}$$

$$\text{अथवा }\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८४२४}{६५६१}\text{ प्रमाण राशि प्राप्त होती है।}$$

तीन इंद्रिय जीवों का प्रमाण प्राप्त करने की निम्न लिखित रीति है।

$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{९}\times\frac{१}{९}$ को $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{९}$ में से घटाते हैं जिससे

$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{९}$ रिण $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{९}\cdot\frac{१}{९}$ प्रमाण राशि

अथवा $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{८१}$ प्रमाण राशि प्राप्त होती है। इस अवशिष्ट राशि के समान खंड करने पर $\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{८१}\times\frac{१}{९}$ प्रमाण प्राप्त होता है।

इसे द्वितीय पुंज में मिलाने पर

$$\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{८}{८१}\times\frac{९}{८१}+\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{८}{९}\times\frac{(९)^{३}}{(९)^{३}}$$

$$\text{अथवा }\frac{=}{४}\cdot\frac{२}{a}\cdot\frac{१}{४}\cdot\frac{६१२०}{६५६१}\text{ प्रमाण प्राप्त होता है।}$$

उपर्युक्त क्रियाएं प्रतीक ९ को अंक मानकर की गई हैं। ये कहां तक ठीक हैं कहा नहीं जा सकता। ९ को अंक सम्भवतः इसलिये मान लिया गया हो कि $\frac{=}{९}$ का विरलन किया गया है।

इसी प्रकार, चार इंद्रिय जीवों का प्रमाण—

$$\frac{=}{\text{४}}\cdot\frac{\text{२}}{a}\cdot\frac{\text{८}}{\text{८१}}\cdot\frac{\text{८१}}{\text{८१}}+\frac{=}{\text{४}}\cdot\frac{\text{२}}{a}\cdot\frac{\text{१}}{\text{४}}\cdot\frac{\text{८}}{\text{९}}\cdot\frac{(\text{९})^3}{(\text{९})^3}$$

अथवा $\frac{=}{\text{४}}\cdot\frac{\text{२}}{a}\cdot\frac{\text{१}}{\text{४}}\cdot\frac{\text{५८६४}}{\text{६५६१}}$ बतलाया गया है।

इसी तरह पांचइन्द्रिय जीवों का प्रमाण—

$$\frac{=}{\text{४}}\cdot\frac{\text{२}}{a}\cdot\frac{\text{१}}{\text{८१}}\cdot\frac{\text{१}}{\text{८१}}+\frac{=}{\text{४}}\cdot\frac{\text{२}}{a}\cdot\frac{\text{१}}{\text{४}}\cdot\frac{\text{८}}{\text{९}}\cdot\frac{(\text{९})^3}{(\text{९})^3}$$

अथवा $\frac{=}{\text{४}}\cdot\frac{\text{२}}{a}\cdot\frac{\text{१}}{\text{४}}\cdot\frac{\text{५८३६}}{\text{६५६१}}$ बतलाया गया है।

पर्याप्त जीवों की संख्या निकालने के लिये उपर्युक्त रीति में $\frac{\text{२}}{a}$ के बदले केवल संख्यात ५ लेते हैं, जिससे उल्लेखित प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

दोइंद्रिय अपर्याप्त जीवों की राशि को ग्रंथकार ने वास्तव में निम्न प्रकार निरूपित किया है :—

$$\frac{=}{\text{४}}\cdot\frac{\text{२}}{a}\cdot\frac{\text{१}}{\text{४}}\cdot\frac{\text{८४२४}}{\text{६५६१}}\ \text{रिण}\ \frac{=}{\text{४}}\cdot(\text{५})\cdot\frac{\text{१}}{\text{४}}\cdot\frac{\text{६१२०}}{\text{६५६१}}$$

अंतिम दो स्थापनाओं में कुछ ऐसे प्रतीक हैं जिनका अर्थ इस समय प्राप्त सामग्री से ग्राह्य नहीं है। ये क्रमशः मू., ˜, Ω, हैं। ˜ तो ग्रीक अक्षर सिगमा तथा Ω ग्रीक अक्षर ओमेगा तथा ९ रो के समान और a एल्फा के समान प्रतीत होता है। यद्यपि ९, ९ अंक से लिया गया प्रतीत होता है और a असंख्यात का प्ररूपण करता है, तथापि ˜ और Ω के विषय में खोज आवश्यक है, क्योंकि ये वर्णाक्षर विभिन्न युगों में यूनान में पूर्वीय देशों से प्रविष्ट हुए[१]।

गा. ५, ३१४–१५— अल्प बहुत्व (Comparability) :—

यहां $\frac{\text{पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी अपर्याप्त राशि}}{\text{बादर तेजस्कायिक पर्याप्त जीवराशि}}$ निष्पत्ति का प्ररूपण $\frac{(=)/(\text{४}\times\text{६५५३६}\times\text{५}\times\text{५})}{\frac{\text{८}}{a}}$ है।

४ प्रतरांगुल है, ८ घनावलि है, तथा a असंख्यात है।

यह प्रमाण $\frac{(=)\,a}{\text{८}\times\text{४}\times\text{६५५३६}\times\text{५}\times\text{५}}$ होता है। इस राशि को ग्रंथकार ने असंख्यात विभाग में रखा है। यह स्पष्ट भी है, क्योंकि, जगप्रतर का प्रमाण असंख्यात और a का प्रमाण भी असंख्यात है।

संज्ञी पर्याप्त, असंज्ञी पर्याप्त से संख्यात अथवा ४ गुने हैं।

तीन इंद्रिय असंज्ञी अपर्याप्त राशि, तीन इंद्रिय पर्याप्त राशि से असंख्यातगुणी है। यह प्रमाण आवलि के प्रमाण पर निर्भर है।

इसी प्रकार, दोइंद्रिय अपर्याप्त जीवराशि से असंख्यातगुणी अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवराशि है जो पल्य के प्रमाण पर निर्भर है।

जलकायिक बादर पर्याप्त जीव $\frac{=}{\text{४}}\frac{\text{प}}{a}$ हैं तथा बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव $\frac{\equiv}{Q}$ हैं।

---

१ Heath, A History of Greek Mathematics, vol. 1, pp 31-33 Edn. 1921.

इसलिये, $\dfrac{\dfrac{\equiv / Q}{= \text{प}}}{\text{४ } a}$ अथवा $\dfrac{\equiv \text{४} \cdot a}{= Q \cdot \text{प} \cdot}$

निष्पत्ति (ratio) को ग्रंथकार ने असंख्यात प्रमाण कहा है। यहां प्रतीक टाइप के अभाव में हम संख्यात के लिये Q द्वारा प्ररूपित कर रहे हैं। संदृष्टि के लिये ति. प. भाग २ पृ. ६१६-६१७ देखिये।

इसके पश्चात्, ग्रंथकार ने तेजस्कायिक सूक्ष्म अपर्याप्त जीवराशि और वायुकायिक बादर अपर्याप्त जीवराशि को असंख्यात कहा है।

निरूपण यह है :—

$$\left\{ \frac{\equiv a \cdot \text{८} \cdot}{\text{९} \cdot \text{५}} \right\} \Big/ \left\{ \frac{\equiv a \ \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{१०}}{\text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}} \ \text{रिण} \ \frac{\equiv \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}}{Q \ \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}} \right\}$$

अथवा

$$\frac{\equiv a \cdot \text{८} \cdot \ \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot Q}{\text{९} \cdot \text{५} \cdot [\equiv a \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \ \text{रिण} \equiv \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९}]}$$

स्पष्ट है, कि यह राशि असंख्यात है। यहां बिंदु का उपयोग गुणन के लिये हुआ है।

इसके पश्चात्, ग्रंथकार ने साधारण बादर पर्याप्त और वायुकायिक सूक्ष्म पर्याप्त की निष्पत्ति को भी असंख्यात विभाग में रखा है। यथा :— $\text{१३} \frac{\equiv}{\text{९}} . \frac{\text{१}}{\text{७}} \Big/ \equiv a \ \frac{\text{१०. १०. १०. ८. ४}}{\text{९. ९. ९. ९. ५}}$

अथवा $\dfrac{(\text{१३}) \ \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{९} \cdot \text{५}}{\text{९} \cdot \text{७} \ a \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{१०} \cdot \text{८} \cdot \text{४}}$

इससे ज्ञात होता है कि $\dfrac{\text{१३}}{a}$ की निष्पत्ति अवश्य ही असंख्यात होना चाहिये। अर्थात् १३ प्रतीक द्वारा प्ररूपित राशि $(a)^{\text{२}}$ के समान अथवा उससे बड़ी होना चाहिये।

साधारण बादर अपर्याप्त और साधारण बादर पर्याप्त की निष्पत्ति असंख्यात प्रमाण कही गई है। यथा :—

$\dfrac{\text{१३} \equiv . \text{६}}{\text{६} \qquad \text{७}} \Big/ \dfrac{\text{१३} \equiv \text{१}}{\text{९} \qquad \text{७}}$, जो वास्तव में केवल संख्यातगुणी प्रतीत होती है। पर यह निष्पत्ति ६ के प्रमाण पर निर्भर है। यदि ६ को घनांगुल मान लिया जाय, तो उसमें प्रदेशों की संख्या असंख्यात मानकर यह निष्पत्ति असंख्यात मानी जा सकती है।

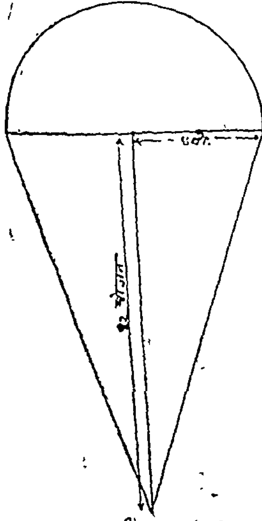
आगे ग्रंथकार ने सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण बादर अपर्याप्त की निष्पत्ति अनन्त मानी है। यथा:—

$\dfrac{\text{१३} \equiv \text{८}}{\text{९} \times \text{५}} \Big/ \dfrac{\text{१३} \cdot \equiv \cdot \text{६}}{\text{९} \cdot \text{७} \cdot}$ अथवा $\dfrac{\text{८} \times \text{७}}{\text{५} \times \text{६}}$

ऐसा प्रतीत होता है कि इस निष्पत्ति को उपचार से अनन्त कहा गया है। इस समय कहा नहीं जा सकता कि ८, ६, ७ और ५ को यहां किन अर्थों में ग्रहण किया गया है।

गा. ४, ३१८— अवगाहनाओं के विकल्प का कथन, धवला टीका के गणित का अनुसंधान करते समय, सुगमता से सम्भव हो सकेगा।

गा. ५, ३१९-२०— यहां, सम्भवतः ग्रंथकार ने निम्न लिखित सांद्र के घनफल का प्ररूपण किया है। यह एक ऐसा उदग्र स्तम्भ है, जिसका आधार, समद्विबाहु त्रिभुज सहित अर्धवृत्त है। आधार शंख आकृति कहा जा सकता है।


आकृति :- ३४ अ

इस शंखाकार आकृति (३४ अ) का क्षेत्रफल $\frac{\pi\,(\text{त्र})^{२}}{२}$ + ४८ = ७३·२८ वर्ग योजन प्राप्त होता है। यदि रम्म का उत्सेध ५ योजन हो, तो घनफल, आधार का क्षेत्रफल तथा उत्सेध का गुणनफल, होता है।

इसलिये, यहां घनफल

७३·२८ × ५

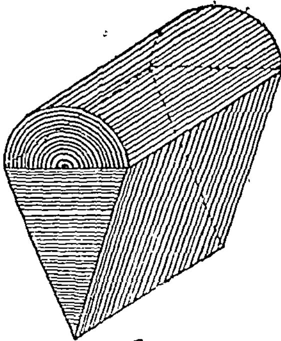
अथवा बादररूपेण ३६५ घनयोजन प्राप्त होगा। हो सकता है कि ग्रंथकार द्वारा निर्देशित आकृति की नियोजना दूसरी रही हो। ऐसे क्षेत्र के क्षेत्रफल का सूत्र ग्रंथकार ने दिया है:—

$$\left[(\text{विस्तार})^{२} - \left(\frac{\text{मुख}}{२}\right) + \left(\frac{\text{मुख}}{२}\right)^{२}\right] \times \frac{३}{४}$$

इसे शंखक्षेत्र का गणित कहा गया है।

यहां, विस्तार १२ योजन एवं मुख ४ योजन है।

स्केल :- ४c.m. = १रा.


आकृति ३४ ब

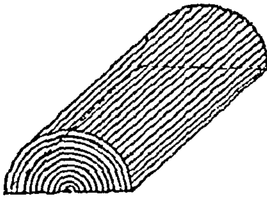
यह आकृति सम्भवतः चित्र ३४ ब में बतलाये हुए सांद्र के सदृश हो सकती है।


आकृति :- ३४ स

आगे, पद्म के आकार के सांद्र का घनफल निकालने के लिये सूत्र दिया गया है। यह सांद्र बेलनाकार होता है। इसका घनफल निकालने के लिये आधुनिक सूत्र $\pi.\ r^2.\ h.$ का उपयोग किया गया है, जहां π का मान ३ लिया गया है, २r अथवा व्यास १ योजन है तथा उत्सेध १०००$\frac{१}{६}$ योजन है। आकृति—३४ स देखिये।

महामत्स्य की अवगाहना, आयतज (cuboid) के आकार का क्षेत्र है, जहां घनफल (लम्बाई × चौड़ाई × ऊँचाई) होता है।

स्केल :- ४cm = १रा.



आकृति ३४ द

भ्रमरक्षेत्र का घनफल निकालने के लिये बीच से विदीर्ण किये गये अर्द्ध बेलन के घनफल को निकालने के लिये उपयोग में लाया गया सूत्र दिया गया है।

सूत्र में π का मान ३ लिया गया है। आकृति—३४ द देखिये।

गा. ७, ५-६— ज्योतिषी देवों का निवास जम्बूद्वीप के बहुमध्य भाग में प्रायः १३ अरब योजन के भीतर नहीं है [1]। उनकी बाहरी चरम सीमा = X ११०/४९ योजन दी गई है। यह बाह्य सीमा एक राजु से अधिक ज्ञात होती है। जहाँ बाह्य सीमा १ राजु से अधिक है उस प्रदेश को अगम्य कहा गया है। ज्योतिषियों का निवास शेष गम्य क्षेत्र में माना गया है।

गा. ७, ७— चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे, ये सब ग्रंथकर्ता के अभिप्रायानुसार अंत में घनोदधि वातवलय (वायु और पानी की वाष्प से मिश्रित वायुमंडल) को स्पर्श करते हैं। तदनुसार, इन समस्त देवों के आसपास किसी न किसी तरह के वायुमंडल का उपस्थित होना माना गया है।

गा. ७, ८— पूर्व पश्चिम की अपेक्षा से उत्तर दक्षिण में स्थित ज्योतिषी देव घनोदधि वातवलय को स्पर्श नहीं करते। (?)

गा. ७, १३-१४— इन गाथाओं में फिर से प्रतरांगुल के लिये प्रतीक ४ तथा संख्यात के लिये Q (यथार्थ प्रतीक मूल ग्रन्थ में देखिये) लिया गया है।

---

१ इस महाधिकार में ग्रंथकार ने ज्योतिष का बृहत् प्ररूपण नहीं किया है किन्तु रूपरेखा देकर कुछ ही महत्त्वपूर्ण फलों का निर्देशन किया है। ज्योतिर्लोक विज्ञान का अस्तित्व भारत, बेबीलोन, मिश्र और मध्य अमेरिका में ईसा से ५००० से ४००० वर्ष पूर्व तक पाया जाता है। आकाश के पिंडों की स्थिति और अन्य घटनाओं के समय की गणनाएँ तत्कालीन साधारण यंत्रों पर आधारित थीं।

प्राचीन काल में, ग्रहणों का समय, एकत्रित किये गये पिछले अभिलेखों के आधार पर बतलाया जाता था। पर ग्रहण, बहुधा, बतलाये हुए समय पर घटित न होकर कुछ समय पहिले या उपरांत हुआ करते थे। इस प्रकार बादर रूप से प्राप्त उनके सूत्र प्रशंसनीय तो थे, पर उनमें सुधार न हो सके। जब मिलेशस के थेल्स (ग्रीस का विद्वान) ने ईसा से प्रायः ६०० वर्ष पूर्व प्रयोग द्वारा बतलाया कि चंद्रमा पृथ्वी की तरह प्रकाशहीन पिंड है और जो प्रकाश हमें दिखाई देता है वह सूर्य का परावर्तित प्रकाश है तब ग्रहण का कारण चंद्र का सूर्य और पृथ्वी के बीच आना और पृथ्वी का सूर्य और चंद्र के बीच आना माना जाने लगा। सर्वप्रथम, ग्रीस के निवासियों ने पृथ्वी को गोल बतलाया; क्योंकि जो नक्षत्र उन्हें उत्तर में दिखाई देते थे, उनके बदले में दक्षिण दिशा में दूर तक यात्रा करने में उन्हें नये नक्षत्र दिखलाई पड़े। साथ ही, चंद्रग्रहण के समय पृथ्वी की छाया सूर्य पर वृत्ताकार दिखाई दी। यहां तक कि इरेटोस्थिनीज (ईसा से २७६-१९६ वर्ष पूर्व) ने इसके आधार पर पृथ्वी की त्रिज्या भी गणना के आधार पर प्रायः ४००० मील से कुछ कम निश्चित कर दी।

गा. ७, ३६— पृथ्वीतल से चंद्रमा की ऊँचाई ८८० योजन बतलाई गई है। एक योजन का माप आधुनिक ४५४५ मील लेने पर चंद्रमा की दूरी ८८०×४५४५ अथवा ३७,९९६०० मील प्राप्त होती है। आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार वैज्ञानिकों ने चंद्रमा की दूरी प्राय: २,३८००० मील निश्चित की है।

गा. ७, ३६-३७— जहाँ आधुनिक वैज्ञानिकों ने चंद्रमा को स्वप्रकाशित नहीं माना है, वहाँ ग्रंथकार के अनुसार चंद्रमा को स्वयं प्रकाशवान मानकर उसे शीतल बारह हजार किरणों सहित बतलाया है। न केवल वहाँ की पृथ्वी ही, वरन् वहाँ के जीव भी उद्योत नामकर्म के उदय से संयुक्त होने के कारण स्वप्रकाशित कहे गये हैं।

गा. ७, ३९— ग्रंथकार के वर्णन के अनुसार जैन मान्यता में चंद्रमा अर्द्धगोलक (Hemispherical) है। उस अर्द्ध गोलक की त्रिज्या $\frac{२८}{६१}$ योजन मानी गई है अर्थात् व्यास प्राय: २($\frac{२८}{६१}$)×४५४५ = प्राय: ४१७२ मील माना गया है आधुनिक ज्योतिर्विज्ञों ने अपने सिद्धान्तानुसार इस प्रमाण को प्राय: २१६३ मील निश्चित किया है। इस प्रकार ग्रंथकार के दत्त विन्यासानुसार यदि अवलोकनकर्ता की आंख पर चंद्रमा के व्यास द्वारा आपतित कोण निकाला जाय तो वह $\frac{५६}{६१ \times ८८०}$ रेडियन अथवा ३·५९ कला (3·59 minutes) होगा। आधुनिक यंत्रों से चंद्रमा के व्यास द्वारा आपतित कोण प्राय: ३१ कला (31′7″) प्राप्त हुआ है। यह माप या तो प्रकाश के किसी विशेष अज्ञात सिद्धान्तानुसार हमें यंत्रों द्वारा गलत प्राप्त हो रहा है अथवा ग्रंथकार द्वारा दिये गये माप में कोई त्रुटि है।

यहां एक विशेष बात उल्लेखनीय यह है कि जैन मान्यतानुसार अर्द्धगोलक ऊर्ध्वमुख रूप से अवस्थित है जिससे हम चंद्रमा का केवल निम्न भाग (अर्द्ध भाग) ही देखने में समर्थ हैं। इसी बात की आधुनिक वैज्ञानिकों ने पुष्टि की है कि चंद्रमा का सर्वदा केवल एक ही और वही अर्द्ध भाग हमारी ओर होता है और इस तरह हम चंद्रमा के तल का केवल ५९% भाग (कुछ और विशेष कारणों से) देखने में समर्थ हैं। वेधयंत्रों से प्राप्त अवलोकनों के आधार पर कुछ खगोलशास्त्रियों का अभिमत है कि मंगल आदि ग्रहों के भी केवल अर्द्ध विशिष्ट भाग पृथ्वी की ओर सतत रहते हैं। इसका कारण, उनका अक्षीय परिभ्रमण उपधारित किया गया है।

गा. ७, ६५— इसके पश्चात, ग्रंथकार ने सूर्य की ऊँचाई चंद्रमा से ८० योजन कम अथवा ८०० योजन (आधुनिक ८००×४५४५ = ३६३६००० मील) बतलाई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने सूर्य की दूरी प्राय: ९२, ७००,००० मील निश्चित की है।

ईसासे प्राय: चार सौ वर्ष पूर्व ग्रीक विद्वानों ने आकाश पिंडों के दैनिक परिभ्रमण का कारण पृथ्वी का स्वत: की अक्ष पर परिभ्रमण सोचा। पर, एरिस्टाटिल (ईसासे ३८४–३२२ वर्ष पूर्व) ने पृथ्वी को केन्द्र मानकर शेष चंद्र, सूर्य तथा ग्रहों का परिभ्रमण क्लिष्ट रीति द्वारा निश्चित किया। यह ज्ञान अपना प्रभाव २००० वर्ष तक जमाये रहा। इसके विरुद्ध पोलेण्ड के कापरनिकस (१४७३–१५४३) ने सम्पूर्ण जीवन के परिश्रम के पश्चात् सूर्य को मध्य में निश्चित कर शेष ग्रहों का उसके परित: परिभ्रमणशील निश्चित किया। सूर्य से उनकी दूरियां भी निश्चित कीं। इसके पश्चात्, प्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्री जान केपलर (१५७१–१६३०) ने ग्रहों के पथों को ऊनेन्द्र निश्चित किया तथा सूर्य को उनकी नाभि पर स्थित बतलाया। उसने यह भी निश्चित किया कि ग्रह से सूर्य को जोड़नेवाली त्रिज्या समान समयमें समान क्षेत्रों (areas) को तय करती है; और यह कि किसी ग्रह के आवर्त काल के अंतराल के वर्ग (square of the periodic time) और उसकी सूर्य से माध्य दूरी (mean distance) के घन, की निष्पत्ति निश्चल रहती है। दूरबीन ने भी बृहस्पति और शनि आदि ग्रहों के उपग्रहों को खोजने में सहायता की। सन् १६८७ में न्यूटन ने विश्वको जान केपलर के फलों

गा. ७, ६६— जैन मान्यतानुसार, सूर्य को प्रकाशवान तथा १२००० उष्णतर किरणों से संयुक्त माना है। उसमें जीवों का रहना निश्चित किया है तथा उन्हें भी स्वतः प्रकाशित बतलाया है।

गा. ७, ६८— सूर्य को भी चंद्रमा की तरह अर्द्ध गोलक बतलाया गया है, जहां उसका विस्तार $\frac{४८}{६१}$ योजन अथवा $\frac{४८}{६१} \times ४५४५$ = प्रायः ३५७६ मील निश्चित किया गया है। वैज्ञानिकों ने व्यास का प्रमाण ८६४,००० मील निश्चित किया है।

अवलोकनकर्ता की आंख पर जैन मान्यानुसार दत्त विन्यास के आधार पर सूर्य का व्यास $\frac{४८}{६१ \times ८००}$ रेडियन अथवा ३·३८ कला (3·38 minuts) आपतित करेगा। पर, आधुनिक यंत्रों द्वारा इस कोण का मध्य मान प्रायः ३२ कला (32 minuts) निश्चित किया गया है।

गा. ७, ८३— बुध ग्रह की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्बरूप ८८८ योजन अथवा ४०,३५,९६० मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपने सिद्धांतों के आधार पर इस दूरी को प्रायः ४६,९२९,२१० मील निश्चित किया है। इन्हें भी ग्रंथकार ने अर्द्ध गोलक कहा है।

गा. ७, ८९— शुक्र ग्रहों की ऊंचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ८९१ योजन अथवा ४,०४९,५९५ मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दूरी २५,६९८,३०८ मील निश्चित की है। इन नगर तलों की किरणों की संख्या २५०० बतलाई गई है।

गा. ७, ९३— बृहस्पति ग्रहों की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ८९४ योजन अथवा ४,०६३,२३० मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दूरी ३९०,३७६,८९२ मील निश्चित की है।

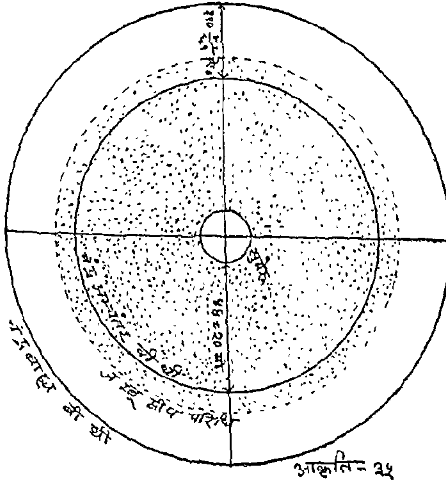
गा. ७, ९६— मंगल ग्रहों की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ८९७ योजन अथवा ४०,७६,८६५ मील बतलाई गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दूरी ४८,६४३,०३८ मील निश्चित की है।

गा. ७, ९९— शनि ग्रहों की ऊँचाई पृथ्वीतल से लम्ब रूप ९०० योजन अथवा ४०,९०,५०० मील बतलाई गई है। आधुनिक सिद्धान्तों पर यह दूरी ७९३,१२९,४१० मील निश्चित की गई है।

गा. ७, १०४-१०८— इसी प्रकार, नक्षत्रों की ऊँचाई ८८४ योजन तथा अन्य तारागणों की ऊँचाई ७९० योजन है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने ताराओं को सूर्य सदृश प्रकाश का पुंज माना है। सबसे पास के तारे Alpha Centauri की दूरी उन्होंने सूर्य की दूरी से २२४,००० गुनी मानी है। अन्य तारों की दूरी तुलना में अत्यधिक है।

के आधार पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति का एक महान् नियम दिया। इसी शक्ति के आधार पर ज्वार और भाटे की घटनाओं को समझाया गया। सन् १८४५ के पश्चात् तीन नवीन ग्रहों यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो का गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर आधारित प्रवैगिकी तथा दूरबीन की सहायता से आविष्कार हुआ। दूरबीन के सिवाय, वितन्तु दूरबीन तथा सूर्यरश्मिविश्लेषण और फोटोग्राफी आदि से अब आकाश के पिंडो की बनावट, उनके वायुमंडल, उनकी गति आदि के विषय में निश्चित रूप से आश्चर्यजनक एवं महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई जा सकती हैं। वैज्ञानिकों ने पृथ्वी का वायुमंडल केवल प्रायः २०० मील की ऊँचाई तक निश्चित किया है। सूर्य, चंद्र और ग्रहों के विषय में तो उनकी जानकारी एक चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। चंद्रकलाओं का कारण प्रकाशहीन चंद्र का सूर्य से प्रकाश प्राप्त होना तथा चंद्र का विशेष रूप से गमन करना बतलाया गया है। सूर्य में उपस्थित काले धब्बों का आवर्तीय समय में दृष्टिगोचर होना भी सूर्य का विशेष रूप से गमन तथा उसी में उपस्थित विशेष तत्त्वों को बतलाया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अब सूर्य और चंद्र ग्रहण का बिलकुल ठीक समय गणना द्वारा निकाला जाता है। सूर्य के स्वपरिभ्रमण को सूर्यरश्मिविश्लेषण या रंगावलेक्ष यंत्र द्वारा डाप्लर के सिद्धान्त का उपयोग कर परिपुष्ट किया गया है। इनके सिवाय, वर्षों से

गा. ७, ११७ आदि— जितने वलयाकार क्षेत्र में चंद्रबिम्ब का गमन होता है उसका विस्तार ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन है। इसमें से वह १८० योजन जम्बूद्वीप में तथा ३३०$\frac{४८}{६१}$ योजन लवण समुद्र में रहता है। आकृति— ३५ देखिये।


आकृति— ३५

चित्र का माप प्रमाण नहीं है:— बिन्दुओं के द्वारा दर्शाई गई परिधि जम्बूद्वीप की है जिसका विस्तार १००००० योजन है। मध्य में सुमेरु पर्वत है जिसका विस्तार १०००० योजन है। चंद्रों के चारक्षेत्र में पंद्रह गलियां हैं जिनमें प्रत्येक का विस्तार $\frac{५६}{६१}$ योजन है, क्योंकि उन्हीं में से केवल चंद्रमा का गमन होता है। चूंकि यह गमन एकसा होना चाहिये अर्थात् चंद्र का हटाव अकस्मात् (प्रायः ४८ घंटे के पश्चात्) एक बीथी से दूसरी बीथी में न होकर प्रतिसमय एकसा होना चाहिये, इसलिये चंद्र का पथ समापन (winding) और असमापन (unwinding) कुंतल (spiral) होना चाहिये।

एक-एक बीथी का अंतराल ३५$\frac{२१४}{४२७}$ योजन अथवा [प्रायः ३५$\frac{१}{२}$ × ४५४५ मील], १६१३४७$\frac{१}{२}$ मील है। वलयाकार क्षेत्र का विस्तार ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन अथवा [प्रायः ५११ × ४५४५ मील], २३२२४९५ मील है।

दृष्टिगोचर होनेवाले धूमकेतुओं तथा विविध समय पर उल्कापात करनेवाले उल्कातारों के पथों को भी निश्चित किया जा चुका है। पृथ्वी का भ्रमण न केवल अपनी अक्ष पर, वरन् सूर्य के परितः भी माना जाता है। मंडल का १२ मील प्रति घंटे की गति से, हरकुलीज नामक नक्षत्र के विगा तारे के पास solar apex (सौर्यशीर्ष) की ओर गमन निश्चित किया गया है। पर, वैज्ञानिक पृथ्वी की यथार्थ गति आज तक नहीं निकाल सके और आईंसटीन के कथनानुसार प्रयोग द्वारा कभी न निकाल सकेंगे। पृथ्वी की शुद्ध एवं निरपेक्ष गति को कुछ अवधारणाओं के आधार पर माइकेल्सन और मारले ने अपने अति सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा निकालने का प्रयत्न किया था, पर वे जिस फल पर पहुँचे उससे भौतिक शास्त्र में नवीन उपधारणाओं (postulates) का पुनर्गठन आइंसटीन ने सापेक्षवाद के आधार पर किया। यह सिद्धान्त तीन प्रसिद्ध प्रयोगों द्वारा उपयुक्त सिद्ध किया जा चुका है।

आज कल ज्योतिषशास्त्रियों ने सम्पूर्ण आकाशको ८८ खंडों में, ८८ नक्षत्रों के आधार पर विभाजित किया है। आकाश के किसी भी भाग का अच्छा से अच्छा अध्ययन तथा उस भाग में आकाशीय पिंडों का गमन फोटोग्राफी के द्वारा हो सकता है। तारों के द्वारा विकीर्णित प्रकाश और ताप ऊर्जा (energy) के आपेक्षिक मानों को सूक्ष्म रूप से ठीक निश्चित करने के लिये कई महत्ता संहतियां (magnitude systems) स्थापित की गई हैं, वे क्रमशः (Visual Magnitudes) दृष्ट या आभासी महत्ताएं, (Photographic Magnitudes) भाचित्रणीय महत्ताएँ (Photo-visual Magnitudes) भाभासी महत्ताएं और (Photo-electric Magnitudes) भाविद्युतीय महत्ताएं आदि हैं। सन् १७१८ में महान् ज्योतिषी हेली ने बतलाया कि हिपरशसके समय से तीन उज्ज्वल तारे सीरियस, आर्कचरस

जम्बूद्वीप में दो चंद्र माने गये हैं जो सम्मुख स्थित रहते हैं। चारों ओर का क्षेत्र संचरित होने के कारण चारक्षेत्र कहलाता है।

गा. ७, १६१— अभ्यंतर चंद्रवीथी की परिधि ३१५०८९ योजन तथा त्रिज्या (जम्बूद्वीप के मध्य बिन्दु से) ४९८२० योजन मानी गई हैं। यदि π का मान $\sqrt{१०}$ अथवा प्रायः ३·१६ लिया जाय तो परिधि (४९८२०) × २ × ३·१६ = ३११७०२·४ योजन प्राप्त होती है।

गा. ७, १७८— बाह्य मार्ग की परिधि का प्रमाण ३१८३१३ [illegible] योजन है।

गा. ७, १८९— इस गाथा में एक महान् सिद्धान्त निहित है। जब त्रिज्या बढ़ती है तब परिधिपथ बढ़ जाता है और नियत समय में ही वह पथ पूर्ण करने के लिये चंद्र व सूर्य दोनों की गतियां बढ़ती जाती हैं जिससे वे समान काल में असमान परिधियों का अतिक्रमण कर सकें। उनकी गति काल के असंख्यातवें भाग में समान रूप से बढ़ती होगी अर्थात् बाह्य मार्ग की ओर अग्रसर होते हुए उनकी गति समत्वरण (uniform acceleration) से बढ़ती होगी और अन्तः मार्ग की ओर आते हुए सम विमन्दन (uniform retardation) से घटती होगी।

गा. ७, १८६— चंद्रमा की रेखीय गति (linear velocity) अन्तः वीथी में स्थित होने पर १ मुहूर्त (या ४८ मिनिट) में ३१५०८९ ÷ ६२$\frac{२३}{२२१}$ = ५०७३$\frac{७७४४}{१३७२५}$ योजन होती है। अथवा, चंद्रमा की गति इस समय १ मिनिट में प्रायः

$$\frac{५०७४ \times ४५४५}{४८} = ४८०४४०$$ मील रहती है।

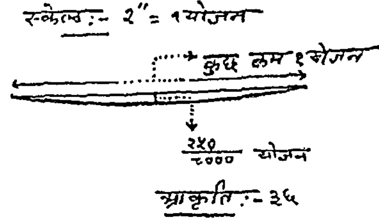
गा. ७, २००— जब चंद्र बाह्य परिधि में स्थित रहता है तब उसकी गति १ मिनिट में प्रायः

$$\frac{५१२५ \times ४५४५}{४८} = ४८५२७३\frac{२१}{४८}$$ मील रहती है।

और एलडेबरान अपने पड़ोसी तारों की अपेक्षा अपनी स्थिति से कुछ मापने योग्य मान में हट गये हैं। तब तक तारों को एक दूसरे की अपेक्षाकृत स्थिति में सर्वदा स्थिर माना जाता था और इस आविष्कार ने 'तारों के ब्रह्माण्ड' की अवधारणा में क्रांति उत्पन्न कर दी। क्या और अन्य तारे भी हजारों वर्षों में ऐसी ही गति से गमन कर अपनी अपनी स्थिति से हटते होंगे? हेली के इस आविष्कार का नाम Proper Motions of Stars रखा गया।

तारों के इन यथार्थ गमनों Proper Motions को समझाने के लिये सम्पूर्ण सौर्यमंडल का गमन हरकुलीज नक्षत्र के विगा तारे की ओर मानने का प्रयास किया गया है, पर डब्लु. एम्. स्मार्ट के शब्दों में, "At present, we are ignorant of the propermotions of all but the nearest stars; when our inquiries embrace the most distant regions of the stellar universe the solar motion can then be defined in relation to the whole body of stars regarded as a single immense group. Even then we are no nearer the conception of absolute solar motion, for extra-stellar space is unprovided with anythings in the shape of fixed land marks", यह स्थिति भी असंतोषजनक है, क्योंकि सूर्य या तारों की प्रकेवल गति (absolute velocity) निकालना एक कल्पना (abstraction) मात्र है। इससे केवल सूर्य की गति की दिशा का ज्ञान भर होता है। इन यथार्थ गमनों (Proper motions) में चक्रीय परिवर्तन भी होते हैं। सन् १९०४ के पूर्व वैज्ञानिकों ने यही धारणा बना रखी थी कि तारों का गमन (movement) किसी अचल नियम के आधार पर नहीं होता है। उसके पश्चात् सन् १९०४ में प्रोफेसर केपटिन (Kapteyn) ने तारों के दो प्रकार की धाराओं (streams of star)

गा. ७, २०१ आदि— चंद्रमा की कलाओं[1] तथा ग्रहण को समझाने के लिये चंद्रबिम्ब से ४ प्रमाणांगुल नीचे कुछ कम १ योजन विस्तारवाले काले रंग के दो प्रकार के राहुओं की कल्पना की गई है, एक तो दिन राहु और दूसरा पर्व राहु। राहु के विमान का बाहल्य $\frac{२५०}{८०००}$ योजन है। आकृति–३६ देखिये।



आकृति :- ३५

मीलों में इसका प्रमाण ४५४५ × $\frac{२५०}{८०००}$ अथवा १४२$\frac{१}{३२}$ मील है।

दिनराहु की गति चंद्रमा की गति के समान मानी गई है और उसे कलाओं का कारण माना गया है।

गा. ७, २१३— चांद्र दिवस का प्रमाण ३१$\frac{२३}{४४२}$ मुहूर्त अथवा ३१$\frac{२३}{४४२}$ × ४८ मिनिट अथवा २४ घंटे ५०$\frac{११०}{२२१}$ मिनिट माना गया है।

गा. ७, २१६— पर्वराहु को छह मासों में होनेवाले चंद्रग्रहण का कारण माना गया है।

गा. ७, २१७— इस राहु का इस स्थिति में गतिविशेषों से आ जाना नियम से होता माना गया है।

चंद्रों की तरह जम्बूद्वीप में दो सूर्य माने गये हैं जो चार क्षेत्रों में उसी समान गमन करते हैं। विशेषता यह है कि सूर्य की १८४ गलियां हैं। प्रत्येक गली का विस्तार सूर्य के व्यास के समान है तथा प्रथम पथ और मेरु के बीच का अंतराल ४४८२० योजन है जो चंद्र के लिये भी इतना ही है।

प्रत्येक बीथी का अंतराल २ योजन अथवा ९०९० मील निश्चित किया गया है।

गा. ७, २२८— जम्बूद्वीप के मध्य बिन्दु को केन्द्र मान कर सूर्य के प्रथम पथ की त्रिज्या (५०००० −१८० = ४९८२० योजन है। दोनों सूर्य सम्मुख स्थित रहते हैं।

गा. ७, २३७— अंतिम पथ में स्थित रहने पर दोनों सूर्यों के बीच का अंतर २ × (५००३३०) योजन रहता है।

सूर्यपथ भी चंद्रपथ के समान समापन winding और असमापन unwinding कुंतल spiral के समान होता है। चन्द्रमा सम्बन्धी १५ ऐसे चक्र और सूर्य के सम्बन्ध में १८४ ऐसे चक्र होते हैं।

गा. ७, २४६ आदि— भिन्न २ नगरियों को दर्शाने के लिये उनकी परिधियां (उनकी केन्द्र से दूरी अथवा अक्षांश रेखाएं) दी गई हैं। ये नगरियां इस प्रकार स्थित मानी गई हैं कि प्रत्येक की परिधि उत्तरोत्तर क्रमशः १७१५७$\frac{१}{५}$ और १४७८६ योजन बढ़ी हुई ली गई हैं।

---

१ वैज्ञानिकों ने दूरबीन के द्वारा ग्रहों में भी चंद्र के समान कलायें देखी हैं जिनका समाधान उसी सिद्धान्त पर होता है जिस सिद्धान्त पर चंद्रमा की कलाओं के होने का समाधान होता है। त्रिलोकसार में उपर्युक्त कथन के सिवाय एक और कथन यह है—अथवा कलाओं का कारण चंद्रमा की विशेष गति है।

का आविष्कार किया जिसके सम्बन्ध में श्री डब्लु. एम्. स्मार्ट के ये शब्द पर्याप्त हैं, "Star streaming remains a puzzling phenomenon : tentative explanations have indeed been offered, but it would appear that its complete elucidation is a task for future Astronomers." प्रथम महत्ता (first magnitude) का तारा सीरियस जिसकी दूरी ४७,०००,०००,०००,००० मील मानी गई है, दृष्टिरेखा की तिर्यक् (cross) दिशा में १० मील प्रति सेकण्ड की गति से चलायमान निश्चित किया गया है। रश्मिविश्लेषक यंत्रों के द्वारा तारों का भिन्न २ श्रेणियों में विभाजन कर, भिन्न-भिन्न रंगोंवाले तारों के भिन्न-भिन्न तापक्रम को निश्चित कर उनकी,

गा. ७, २६५ आदि— जिस प्रकार चंद्रमा की गति बाह्य मार्ग की ओर अग्रसर होते हुए समत्वरण से बढ़ती है उसी प्रकार सूर्य की भी गति होती है। वह भी समान काल में असमान परिधियों को सिद्ध करता है। एक मुहूर्त अथवा ४८ मिनिट में प्रथम पथ पर उसकी गति ५२५१$\frac{२९}{६०}$ योजन अथवा एक मिनिट में प्रायः

$$\frac{५२५१\frac{१}{२} \times ४५४५}{४८} = ४९७२५१\frac{३९}{९६}$$ मील होती है।

गा. ७, २७१— १८४वें मार्ग में उसकी गति १ मिनिट में प्रायः

$$\frac{५३०५\frac{१}{४} \times ४५४५}{४८} = ५०२३४०\frac{१६५}{१९२}$$ मील होती है।

गा. ७, २७२— चंद्र की तरह सूर्य के नगरतल के नीचे केतु के (काले रंग के) विमान का होना माना गया है। जहां विस्तार और बाहल्य राहु के विमान के समान माना गया है।

गा. ७, २७६— यहां ग्रंथकार ने समस्त जम्बूद्वीप तथा कुछ लवण समुद्र में होनेवाले दिन-रात्रि के प्रमाण को बतलाने के लिये मुख्यतः १९४ परिधियों या अक्षांशों में स्थित प्रदेशों का वर्णन किया है।

गा. ७, २७७— जब सूर्य प्रथम पथ में अर्थात् सबसे कम त्रिज्यावाले पथपर स्थित होता है तो सब परिधियों में १८ मुहूर्त का दिन अथवा १४ घंटे २४ मिनिट का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि अथवा ९ घंटे ३६ मिनिट की रात्रि होती है (यहां मुहूर्त को दिन-रात का ३० वां भाग लिया गया है)। ठीक इसके विपरीत जब सूर्य बाह्यतम पथ में रहता है तब दिन १२ मुहूर्त का तथा रात्रि १८ मुहूर्त की होती है।

गा. ७, २९०— ग्रंथकार ने उपर्युक्त प्रकार से दिन-रात्रि होने का कारण सूर्य की गति विशेष बतलाया है।

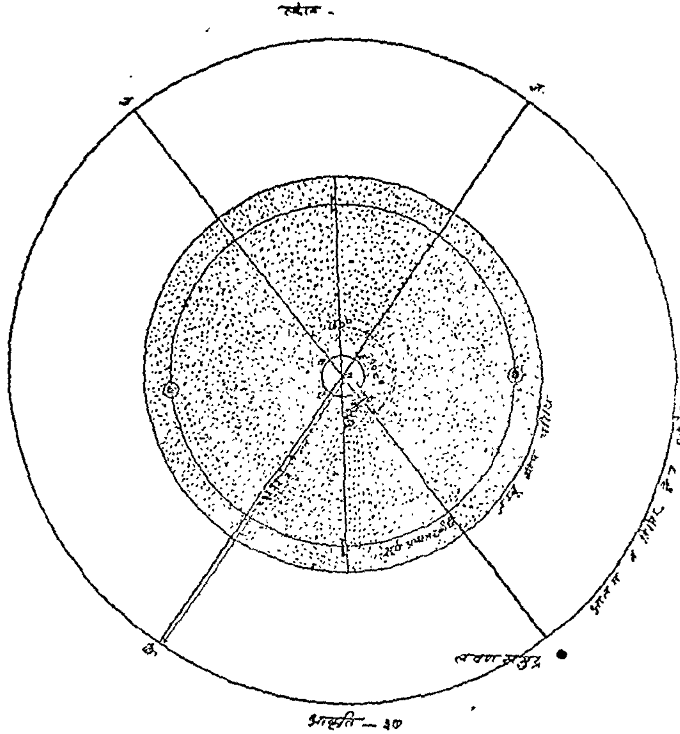
गा. ७, २९२-४२०— इन गाथाओं में दिये गये आतप व तिमिर क्षेत्रों का स्पष्टीकरण निम्न लिखित चित्र से स्पष्ट हो जावेगा। यहां आकृति–३७ देखिये (पृ. ९३)।

जब सूर्य प्रथम बीथी पर स्थित होता है उस समय आतप व तिमिर क्षेत्र गाड़ी की उद्धि (spokes) के प्रकार के होते हैं। मान लिया गया है कि किसी विशिष्ट समय पर (at a particular instant) उस बीथी पर सूर्य स्थिर हैं। उस समय बननेवाले आतप व तिमिर क्षेत्र के वर्णन के लिये गाथा २९२-९५, ३४३ और ३६२ देखिये।

जब सूर्य बाह्य पथ में स्थित रहता है तब चित्र ठीक विपरीत होता है, *अर्थात् तापक्षेत्र तिमिर-क्षेत्र* के समान और तिमिरक्षेत्र तापक्षेत्र के समान हो जाता है।

दृष्टिरेखा (line of sight) में गति को भी निश्चित किया गया है। २०० मील प्रति सेकंड से लेकर २५० मील प्रति सेकंड तक की गतिवाले तारे प्रयोगों द्वारा प्रसिद्ध किये जा सके हैं। ये गतियां उन तारों के यथार्थ गमनों (proper motions) का होना सिद्ध करती हैं। तारे और भी कई तरह के होते हैं, जैसे द्विमय या युग्म तारे (double stars), चल तारे (variable stars) राक्षस और बौने तारे (giant and dwarf stars) इत्यादि।

अन्त में नीहारिकाओं (Nebulae) के विशद विवेचन में न पड़कर केवल उनके प्रकारों तथा उनके अवलोकनीय प्रयोगों द्वारा आधुनिक ब्रह्माण्ड की अवधारणा को झलक देखना ही पर्याप्त होगा। अपने लक्षणों के आधार पर तारापुंज नीहारिकाओं को चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है: अंध नीहारिकाएं (dark nebulae) धुंधली नीहारिकाएं (diffuse luminous nebulae),



आकृति — ३७

चित्र में चन्द्रमा और सूर्य की स्थितियां किसी समय पर क्रमशः ◡ और ⊙ प्रतीकों द्वारा दर्शाई गई हैं। इस दशा में आतप और तम क्षेत्र के अनुपात ३:२ में हैं अर्थात् आतप क्षेत्र १०८°, १०८° तथा तम क्षेत्र ७२°, ७२° के अन्तर्गत निहित हैं। आतप व तिमिर क्षेत्रों का विस्तार केन्द्र से लेकर लवण समुद्र के विष्कम्भ के छठवें भाग तक है अथवा $५०००० + \frac{३०००००}{६} = ८३३३३\frac{१}{३}$ योजन तक है। मेरु पर्वत के ऊपर क ख भाग में ९४८६$\frac{३}{५}$ योजन चाप पर सूर्य का आतप क्षेत्र रहता है और क ग भाग में ६३२३$\frac{२}{५}$ योजन चाप पर तिमिर क्षेत्र रहता है चाहे चन्द्रमा वहां हो या न हो। इसी प्रकार सम्मुख स्थित अन्य सूर्य का आतप और तिमिर क्षेत्र रहता है। ये क्षेत्र सूर्य के गमन से प्रति क्षण बदलते रहते हैं अथवा सूर्य की स्थिति के अनुसार तिष्ठते हैं। सूर्य की इस स्थिति में अन्य परिधियों पर भी इसी अनुपात में आतप एवं तिमिर क्षेत्र होते हैं।

ग्रहीय नीहारिकाएं (planetary nebulae) और कुन्तल नीहारिकाएं (spiral nebulae).

रंगावलेक्ष (spectroscope) या रश्मिविश्लेषक यंत्र द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि तारों के गोल पुंज (globular clusters) दृष्टिरेखा की दिशा में मध्यमान से (average) ७५ मील प्रति सेकंड की गति से चलायमान हैं। उपर्युक्त श्रेणियों में प्रथम तीन प्रकार की नीहारिकायें तो आकाशगंगा के क्षेत्र के आसपास पाई जाती हैं और अन्तिम श्रेणी की नीहारिकाएं आकाशगंगा से दूर पाई जाती हैं। रश्मिविश्लेषक यंत्रों की सहायता से प्राप्त फलों से वैज्ञानिकों ने निश्चित किया है कि भिन्न भिन्न दूरी पर स्थित नीहारिकाएं दूरी के अनुसार अधिकाधिक प्रवेग से दृष्टिरेखा (line of sight

यहां आतप क्षेत्र का क्षेत्रफल सूत्रानुसार निम्न लिखित होगा—

क्षेत्रफल म च छ $= \frac{१}{२}$(त्रिज्या)^{२} × (कोण रेडियन माप में)

$= \frac{१}{२}(८३३३३\frac{१}{३})^{२} \cdot \frac{१०८}{१८०} \cdot \pi$

$= \frac{१}{२}(८३३३३\frac{१}{३})^{२} \cdot \frac{३}{५}\pi$

π का मान $\sqrt{१०}$ लेने पर, ग्रंथकार ने इस क्षेत्रफल को प्रायः ६५८८०७५०००० वर्ग योजन निश्चित किया है। इसी प्रकार तिमिर क्षेत्र म च ज का क्षेत्रफल

$= \frac{१}{२}(८३३३३\frac{१}{३})^{२} \cdot \frac{७२}{१८०}\pi$ होता है।

π का मान $\sqrt{१०}$ लेकर यह प्रमाण प्रायः ४३९२०५०००० वर्ग योजन होता है।

३४३वीं गाथा के बाद विशेष विवरण में ताप क्षेत्र निकालने का साधारण सूत्र दिया गया है। किसी विशिष्ट दिन, जिसमें M मुहूर्त हो, जब कि सूर्य nवीं वीथी पर स्थित हो तब P परिधि पर तापक्षेत्र निकालने के लिये निम्न लिखित सूत्र है।

---

or radial velocity) या अरीय दिशा में हमसे दूर होती जा रही हैं। जैसे २२,०००,००० प्रकाश वर्ष दूर की नीहारिकाएं प्रायः ३००० मील प्रति सेकण्ड की गति से दृष्टिरेखा में, और १०५,०००,००० प्रकाश वर्ष दूर की नीहारिकाएं प्रति सेकण्ड १२,००० मील प्रति सेकण्ड की गति से दृष्टिरेखा में हमसे दूर होती जा रही हैं।

सन् १७५० में दूरबीन की सहायता से नीहारिकाओं के प्रदेश का आवरण हटा और गठित गोल पुंज (compact globular cluster), चपटे होते जानेवाले ऊनेन्द्रज की भांति (flattening ellipsoidal) और असमापन कुन्तल (unwinding spiral) नीहारिकाएं दृष्टिगोचर हुईं, जिनमें औसत नीहारिका हमारे सूर्य से चमक में ८५०००००० गुनी तथा मात्रा में १०००००००००० गुनी निश्चित हुई, जहां दिखनेवाली धुंधलाहट, उसकी दूरी के अनुसार थी। हमारी आकाशगंगा एक पुरानी असमापन कुन्तल नीहारिका निश्चित की गई जिसकी अंतर्तारीय वरिमा (interstellar space) में विभिन्न प्रकार की वायु के बादल और धूल होने से आकाशगंगा के हृदय और धारा (edge) में स्थित नीहारिकाओं की ऊर्जाएँ (energy) बड़े परिमाण में हम तक पहुँचने से रुक गईं। यह भी देखा गया कि वरिमा (space) के किसी निश्चित क्षेत्र में नीहारिकाओं की संख्या दूरी के अनुसार समरूप से बढ़ती है।

वैज्ञानिकों ने फिर नीहारिका के विषय में आधुनिक दूरबीन से चार प्रकार के माप प्राप्त किये। ये क्रमशः आभासी महत्ता (apparent magnitude), विस्थापन महत्ता (displacement magnitude), संख्या महत्ता (number magnitude) और रंग विस्थापन न्यास (colour displacement data) हैं। इस प्रकार प्राप्त न्यासों से उन्होंने सम्भव ब्रह्माण्डों के विषय में सिद्धान्तों के परिणामों की तुलना कर उन्हें सुधारने का प्रयास किया। उनके सम्भव ब्रह्माण्डों की एक झलक निम्न लिखित संकलित अंग्रेजी अवतरणों से अधिक स्पष्ट हो जावेगी क्योंकि उसके अनुवाद से शायद कुछ भ्रांति हो जावे।

"With the relativist cosmologist's postulations that the geometry of space is determined by its contents & that all observers regardless of locations, see the same general picture of the Universe, it is proved mathematically that either the universe is unstable, expanding or contracting. Another aspect of such universe depends upon the curvature calcula'ed. When redshifts are interpreted as velocity shifts, curvature is taken positive ensuring a closd space, finite volume and a definite universe at a

तापक्षेत्र $= \frac{M(P)}{६०}$ योजन। यहां M का मान, n वीं वीथी के प्रमाण से निकाला जा सकता है।

इस प्रकार, तापक्षेत्र न केवल दिन की घटती बढ़ती पर, वरन् परिधि पर भी निर्भर रहता है।

इसका स्पष्टीकरण यह है— कोई भी परिधि का पूर्ण चक्र अथवा सूर्य द्वारा मेरु की पूर्ण प्रदक्षिणा १८ + १८ + १२ + १२ मुहूर्तों अथवा ६० मुहूर्तों में संपूर्ण होती है। ज्यों ज्यों सूर्य बाह्य मार्ग की ओर जाता है त्यों त्यों दिन का प्रमाण $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त प्रतिदिन घटता है और तापक्षेत्र में हानि $\frac{P}{६०} \times \frac{२}{६१}$ वर्ग योजन होती है। यह प्रमाण $\frac{P}{१० \times १८३}$ योजन होगा।

यहां सूर्य के कुल अंतरालों की संख्या १८३ है।

स्पष्ट है, कि सूर्य के दूर जाने पर तापक्षेत्र में हानि होने से तमक्षेत्र में वृद्धि होगी।

गा. ७, ४२१ आदि— ४२२वीं गाथा में उल्लेखित सूत्रों का विवरण पहिले दिया जा चुका है। यहां विशेष उल्लेखनीय बात चक्षुस्पर्श क्षेत्र है। जब सूर्य P_8 वीं परिधि पर स्थित रहता है तब चक्षुस्पर्श-क्षेत्र $P_8 \times \frac{९}{६०}$ योजन होता है। यहां ९ मुहूर्तों में सूर्य निषध पर्वत से अयोध्या तक की परिधि को समाप्त करता है तथा सम्पूर्ण परिधि के परिभ्रमण (revolution) को ६० मुहूर्त में सम्पूर्ण करता है। उत्कृष्ट चक्षुस्पर्शध्वान के लिये P_8 का मान ३१५०८९ योजन है।

गा. ७, ४३५ आदि— भिन्न २ परिधियों पर स्थित भिन्न २ नगरियों में एक ही समय दिये गये समय के आधार पर उन नगरियों के स्थानों को इन गाथाओं में दिये गये न्यासों के आधार पर निश्चित कर सकते हैं और उनकी बीच की दूरी योजनों में निकाल सकते हैं, क्योंकि जितना उनके समय के बीच अंतराल है उतने काल में सूर्य द्वारा जितनी परिधि तय होगी उतना उन नगरों के बीच परिधि पर अंतराल होगा। अन्य परिधियों पर स्थित नगरियों के बीच की दूरी भी निश्चित की जा सकती है।

गा. ७, ४४६— चक्रवर्ती अधिक से अधिक ५५७४३$\frac{२३}{६०}$ योजन की दूरी पर स्थित सूर्य को देख सकता है।

---

particular instant expanding with time. It dates back to about 2×10^9 years, though, the stars of our galaxy are thought to be born 10^{12} years ago.

If the curvature is taken negative the formula shows an open hyperbolic space of radius 3.5×10^8 parsecs—an infinite stationary universe of mean density 10^{-30} gm/cm^3. Limiting case of zero curvature is "flat" Euclidean space with an infinite radius.

Other theories propounded in favour of expandiug universe are the 1) kinematic theory based on Euclidean space and mathmatical structure of special relativity and 2) the creation of matter theory. The former is unscientific because of its indefinite definition of distance and avoidance of observational date. The latter is not sound as it assumes creation of matter out of nothing in the form of hydrogen atoms and there is no evidence of its; steady state of universe, assumption.

Thus we seem to face, as once before in the days of Copernicus a choice between a small finite universe and a universe infinitely large plus a new principle of nature."

देखें, यह समस्या, वितन्तु ज्योतिर्लोकविज्ञान (Radio Astronomy) और माउंट पालोमर की २००" दूरबीन तथा अन्य नवीन आविष्कार कहां तक सुलझा सकते हैं।

इसके साथ ही संसार के द्वीपों की कल्पना की एक झलक को हम स्मार्ट के शब्दों में प्रस्तुत करेंगे, "According to our present views, the universe is a vast assemblage of separate

गा. ७, ४५४–५६— सूर्य का पथ सूची चय $२+\frac{४८}{६१}=\frac{१७०}{६१}$ योजन है ।

भिन्न-भिन्न जगहों (जम्बूद्वीप, वेदिका और लवण समुद्र) के चारक्षेत्रों में उदयस्थानों को निकालने के लिये उस जगह के चारक्षेत्र के अंतराल में $\frac{१७०}{६१}$ का भाग देते हैं। एक बीथी का मार्ग समाप्त होने पर हटाव $\frac{१७०}{६१}$ योजन होता है। इसी समय दूसरी बीथी पर एक परिभ्रमण के पश्चात् उदय होता है। इस प्रकार सर्व उदयस्थानों की संख्या १८४ है।

गा. ७, ४५८ आदि— ग्रहों के विषय का विवरण काल वश नष्ट हो चुका है।

चंद्र के आठ पथों में (क्रमशः पहिले, तीसरे, छठवें, सातवें, आठवें, दशवें, ग्यारहवें तथा पंद्रहवें पथ में) भिन्न-भिन्न नक्षत्रों का नियमित गमन बतलाया गया है। अथवा, भिन्न-भिन्न गलियों में स्थित नक्षत्रों के नाम दिये गये हैं।

गा. ७, ४६५–४६७— एक चंद्र के नक्षत्रों की संख्या २८ बतलाई गई है पर कुल नक्षत्रों की संख्या (जगश्रेणी)^{२} ÷ [संख्यात प्रतरांगुल × १०९७३१८४०००००००००१९३३३१२] × ७ बतलाई गई है। यह राशि निश्चित रूप से असंख्यात है। इसी प्रकार समस्त तारों की संख्या भी असंख्यात बतलाई गई है।

जम्बूद्वीप के १ चंद्र के २८ नक्षत्रों के ताराओं से बने हुए आकार बतलाये गये हैं। वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं और जीवों के आकार के वर्णित हैं।

गा. ७, ४७५-७६— आकाश को १०९८०० गगनखंडों में विभक्त किया गया है जिसमें, १८३५ गगनखंड नक्षत्रों के द्वारा १ मुहूर्त में अतिक्रमित होते हैं। इस गति से कुल गगनखंड चलने में $\frac{१०९८००}{१८३५}=५९\frac{३०७}{३६७}$ मुहूर्त लगते हैं अथवा $\frac{१०९८००}{१८३५}\times\frac{४८}{६०}$ घंटे अथवा ४७ घंटे, ५२ मिनिट $९\frac{२८५}{१८३५}$ सेकंड लगते हैं। आधा मार्ग तय करने में २३ घंटे ५६ मिनिट $४\frac{२१२०}{३६७०}$ सेकंड लगते हैं।

गा. ७, ४७८ आदि— भिन्न २ नक्षत्रों की गतियां भिन्न २ परिधियों में होने के कारण भिन्न हैं। सभी नक्षत्र, यद्यपि भिन्न परिधियों में स्थित हैं, तथापि वे $५९\frac{३०७}{३६७}$ मुहूर्तों में समस्त गगनखंड तय कर लेते हैं।

---

systems, each of great dimensions, which however, are small in comparison with the stupendous distances by which any two neighbouring systems are separated from one another. We may liken the universe to a broad ocean studded with small islands of varying sizes; one of the largest of these islands is believed to represent the systems of which the solar system is but a humble member, the galactic system as it is called. The other systems are the spiral nebulae whose number we can but vaguely guess."—"The Sun, The Stars, And The Universe." p. 260.

इस तरह हम यह अनुभव करते हैं कि आधुनिक ज्योतिष के सिद्धांतों तथा उनके आधार पर प्राप्त फलों की तुलना हम जैनाचार्यों द्वारा प्रस्तुत ज्योतिर्लोक से तभी कर सकते हैं जब कि चन्द्र और सूर्य आदि तथा वायुमंडल सम्बन्धी बातों को हम भली भांति किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर रख सकें। जहां तक पृथ्वीतल से ज्योतिष बिम्बों की दूरी का सम्बन्ध है, किसी भी स्थान से उनकी दूरी अल्पतम और अधिकतम होती है। इसका मध्यमान पृथ्वी के विभिन्न स्थानों के लिये अति भिन्न-भिन्न होंगे जैसा कि जम्बूद्वीप के क्षेत्रों के विस्तार से स्पष्ट है। इसी कारण हमने केवल पृथ्वीतल से उनकी उदग्र ऊँचाई दी है। आधुनिक दूरियों के वर्णन में हमने केवल मध्यमान दूरियों का वर्णन किया है जो पृथ्वी को मात्र एक योजन त्रिज्या के घेरे में आ जाने से सम्बन्धित हैं। स्पष्ट है कि मेरु के परितः बिम्बों का परिभ्रमण पथ पृथ्वीतल के अवलोकनकर्ता की आंख पर तिर्यक् शंकु आपतित करता है।

गा. ७, ४९३— जिस नक्षत्र का अस्त होता है उस समय उससे १६वां नक्षत्र उदय को प्राप्त होता है। गणना स्पष्ट है, क्योंकि दिन और रात्रि में १८ : १२ आदि का अनुपात रहता है, इसलिये स्थूल रूप से १७ और ११; १६ और १२ आदि नक्षत्र क्रमशः ताप और तम क्षेत्र में रहते होंगे।

गा. ७, ४९८— सूर्य, चन्द्र और ग्रहों का गमन कुंचीयन या समापन कुन्तल (winding spiral) असमापन कुंतल (unwinding spiral) में लेता है पर नक्षत्र तथा तारों का 'अयनों का नियम' नहीं है।

गा. ७, ४९९— सूर्य के छः मास (एक अयन) में १८३ दिन-रात्रियां तथा चंद्रमा के एक अयन में १३$\frac{४४}{६७}$ दिन होते हैं।

गा. ७, ५०१— अभिजित नक्षत्र का विस्तार आंख पर $\frac{६३०}{१०९८००}$ रेडियन का कोण आपतित करता है। शतभिषक आदि $\frac{१००५}{१०९८००}$ पुनर्वसु आदि $\frac{१००५ \times ३}{१०९८००}$, शेष $\frac{१००५ \times २}{१०९८००}$, रेडियन का कोण आपतित करते है। ये एक चंद्र के नक्षत्र हैं। इसी प्रकार से दूसरे चंद्र के भी नक्षत्र हैं।

गा. ७, ५१०— सूर्य, चंद्रमा की अपेक्षा, तीस मुहूर्तों या $\frac{३० \times ४८}{६०}$ घंटों में $\frac{६२}{६१} \times \frac{४८}{६०}$ घंटे अधिक शीघ्र गमन करता है। तथा, नक्षत्र सूर्य की अपेक्षा $\frac{३० \times ४८}{६०}$ घंटों में $\frac{५}{६१} \times \frac{४८}{६०}$ घंटे अधिक शीघ्र गमन करते हैं।

गा. ७, ५१५— इसके पश्चात् भिन्न २ नक्षत्रों में सूर्य या चंद्र कितने काल तक गमन करेंगे यह आपेक्षिक प्रवेग (relative velocity) के सिद्धांत पर निकाला गया है। जैसे, अभिजित नक्षत्र के सम्बन्ध में (जिसका विस्तार ६३० गगनखंड है), सूर्य का आपेक्षिक प्रवेग अभिजित नक्षत्र को विश्रामस्थ मान लिया जाने पर १ दिन में १५० गगनखंड है। इस प्रकार, सूर्य अभिजित नक्षत्र के साथ $\frac{६३०}{१५०}$ दिन या ४ अहोरात्र और ६ मुहूर्त अधिक अथवा $\frac{६३० \times ३० \times ४८}{१५० \times ६०}$ घंटे गमन करेगा।

गा. ७, ५२१— इसी प्रकार अभिजित नक्षत्र की अपेक्षा (इसे विश्रामस्थ मानकर) चन्द्रमा का आपेक्षिक प्रवेग १ मुहूर्त में ६७ गगनखंड है, क्योंकि इतने समय में चन्द्रमा नक्षत्रों से १ मुहूर्त में ६७ गगनखंड पीछे रह जाता है। अभिजित नक्षत्र का विस्तार ६३० गगनखंड है, इसलिये इतने खंड तय करने में चन्द्रमा को $\frac{६३०}{६७} = ९\frac{२७}{६७}$ मुहूर्त लगेंगे। इतने समय तक चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र के साथ गमन करेगा। यह समय $\frac{६३०}{६७} \times \frac{४८}{६०}$ घंटे है। इसे त्रिलोकसार में आसन्न मुहूर्त कहा गया है।

गा. ७, ५२५ आदि— सूर्य के एक अयन में १८३ दिन होते हैं। दक्षिण अयन (annual southward motion) पहिले और उत्तर अयन (northward annual motion) बाद में होता है। आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन अपराण्ह समय में पूर्ण युग की समाप्ति (५ वर्ष की समाप्ति) होने पर उत्तरायण समाप्त होता है। इस समय के पश्चात् नवीन युग प्रारम्भ होता है। पांच वर्ष में १२ × ५ = ६० दिन अथवा दो माह बढ़ते हैं, क्योंकि सूर्य के वर्ष के ३६६ दिन माने गये हैं। सूर्य की अपेक्षा से चन्द्रमा का परिभ्रमण २९$\frac{१}{२}$ दिनों में पूर्ण होता है। इसलिये चन्द्र वर्ष २९$\frac{१}{२}$ × १२ = ३५४ दिन का होता है। इस प्रकार एक चन्द्रवर्ष सूर्यवर्ष से १२ दिन छोटा होता है इसलिये एक युग या पांच वर्ष में चन्द्र वर्ष के युग की अपेक्षा ६० दिन या २ मास अधिक होते हैं। उत्तरायण की समाप्ति के पश्चात् दक्षिणायन श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन जब कि अभिजित नक्षत्र और चन्द्रमा का योग रहता है, प्रारम्भ होता है, वही नवीन पांच वर्षवाले युग का प्रारम्भ है।

जब सूर्य प्रथम आभ्यंतर वीथी पर होता है तब सूर्य का दक्षिण अयन का प्रारम्भ होता है। जब वह अंतिम बाह्य वीथी पर स्थित होता है तब उत्तरायण का प्रारम्भ होता है। जब एक अयन की समाप्ति होकर नवीन अयन का प्रारम्भ होता है उसे आवृत्ति (frequency or repetition) कहा गया है। अयन के पलटने को भी आवृत्ति कहते हैं। दक्षिणायन को आदि लेकर आवृत्तियाँ पहली, तीसरी, पांचवी, सातवीं और नवमी, पांच वर्ष के भीतर होंगी क्योंकि पांच वर्ष में दस अयन होते हैं। इसी प्रकार उत्तरायण की आवृत्तियां इस युग में दूसरी, चौथी, छठवीं, आठवीं और दसवीं होती हैं। इस प्रकार दक्षिणायन की दूसरी आवृत्ति श्रावण मास के कृष्ण पक्ष त्रयोदशी को होती है जब कि चंद्रमा मृगशीर्षा नक्षत्र में तिष्ठता है। यह आवृत्ति १ चंद्र वर्ष के पश्चात् १२ दिन बीत जाने पर हुई। इसी प्रकार दक्षिणायन की तीसरी आवृत्ति श्रावण शुक्ल दशमी के दिन चंद्रमा जब विशाखा नक्षत्र में स्थित रहता है तब होती है। इस प्रकार श्रावण मास में दक्षिणायन की पांच आवृत्तियां ५ वर्ष के भीतर होती हैं। उत्तरायण की प्रथम आवृत्ति १८३ दिन बीत जाने पर अर्थात् माघ मास में कृष्णपक्ष की सप्तमी (चंद्र अर्द्ध वर्ष बीत जाने के ६ दिन पश्चात्) तिथि को जब कि चंद्रमा हस्त नक्षत्र में स्थित रहता है, होती है। इसी प्रकार उत्तरायण की दूसरी आवृत्ति ३६६ दिन पश्चात् या चंद्र वर्ष के बीत जाने पर १२ दिन पश्चात् उसी माघ मास में शुक्ल पक्ष की चौथी तिथि पर जब कि चंद्रमा शतभिषक नक्षत्र में स्थित रहता है, तब होती है। इसी प्रकार अन्य आवृत्तियों का वर्णन है।

इसी आवृत्ति के आधार पर समान्तर श्रेढि बनने से (formation of an arithmetical progression) विषुप और आवृत्ति की तिथि निकालने के लिये तथा शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष का निश्चय करने के लिये सरल प्रक्रिया सूत्ररूप से दी गई है।

"विषुप", पूर्ण विश्व में दिन और रात्रि के अंतराल बराबर होने को कहते हैं। इस समय सूर्य आभ्यंतर और बाह्य वीथियों के बीचवाली वीथी में रहता है, अथवा विषुवत् रेखा, (भूमध्य रेखा) पर स्थित रहता है। दक्षिणायन के प्रारम्भ के चंद्र के चतुर्थांश वर्ष बीत जाने के ३ दिन पश्चात् सूर्य इस वीथी को ९१$\frac{1}{2}$ दिन पश्चात् प्राप्त होता है। इस समय कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की तृतीया रहती है और चंद्रमा रोहिणी नक्षत्र में स्थित रहता है। दूसरा विषुप इस समय के चंद्र अर्द्ध वर्ष के बीत जाने पर ६ दिन पश्चात् होता है। जब कि चंद्र वैसाख मास के कृष्ण पक्ष की नवमी को धनिष्ठा नक्षत्र में रहता है। इस प्रकार कुल विषुपों की संख्या उत्सर्पिणी काल में निकाली जा सकती है। दक्षिण अयन, पल्य का असंख्यातवां भाग या $\frac{प}{a}$ होता है। विषुप का प्रमाण इससे दूना है अर्थात् २$\frac{प}{a}$ जहां प पल्यका और a असंख्यात का प्रतीक है।

यहां अचर ज्योतिषियों का निरूपण किया गया है।

स्वयंभूवर द्वीप का विष्कम्भ $\frac{\text{जगश्रेणी}}{५६}$ + ३७५०० योजन है तथा समुद्र का विष्कम्भ $\frac{\text{जगश्रेणी}}{२८}$ + ७५००० योजन है। मानुषोत्तर पर्वत से आदि लिया गया है तथा ५०००० योजन समुद्र की बाहरी सीमा के इसी तरफ तक का अंतराल

$$\frac{\text{जगश्रेणी}}{२८} + (७५००० - ११५२५००० - ५००००) \text{ योजन}$$

$$\text{अथवा } \frac{\text{जगश्रेणी}}{२८} - ११५००००० \text{ योजन होता है।}$$

इसलिये, कुल वलयों की संख्या

$$\left[\frac{\text{जगश्रेणी}}{२८} - ११५००००० \right] \times \frac{२}{१०००००}$$

अथवा $\frac{\text{जगश्रेणी}}{१४०००००} - २३$ होती है।

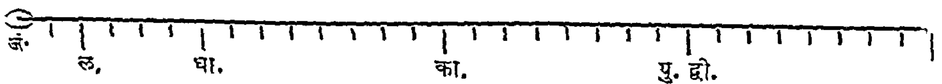
पुष्करवर समुद्र के प्रथम वलय में २८८ चंद्र व सूर्य हैं। किसी द्वीप अथवा समुद्र के प्रथम वलय में स्थित चंद्र व सूर्य की संख्या $= \frac{\text{उस द्वीप या समुद्र का विष्कम्भ} \times ९}{१०००००}$ होती है। प्रत्येक द्वीप समुद्र का विस्तार उत्तरोत्तर द्विगुणित होता गया है और प्रारम्भ पुष्करवर द्वीप से होता है जहां विष्कम्भ १६००००० योजन है। इस प्रकार सूत्र बनाया गया है।

पृ. ७६४ आदि— सपरिवार चन्द्रों के लाने का विधान :—

अभी तक, जैसा मुझे प्रतीत हुआ है उसके अनुसार, वीरसेनाचार्य के कथन की पुष्टि का प्रतिपादन निम्न लिखित होगा।

पृष्ठ ६५८ पर गाथा ११ में ग्रंथकार ने सम्पूर्ण ज्योतिष देवों की राशि का प्रमाण; $\left(\frac{\text{जगश्रेणी}}{२५६ \text{ प्रमाणांगुल}}\right)^२$ बतलाया है।

पृष्ठ ७६७— ज्योतिष बिम्बों का प्रमाण $\frac{\text{जगप्रतर}}{६५५३६ \times १६५५३६१}$ अथवा $\left(\frac{\text{जगश्रेणी}}{२५६ \text{ प्रमाणांगुल}}\right)^२ \div \frac{१}{१६५५३६१}$ बतलाया है। तथा, इसमें प्रत्येक बिम्ब में रहनेवाले तत्प्रायोग्य संख्यात जीव (१६५५३६१) का गुणा करने पर सम्पूर्ण ज्योतिषी देवों, अथवा ज्योतिषी जीव राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। स्मरण रहे कि जगश्रेणी का अर्थ, जगश्रेणी में स्थित प्रदेशों की गणात्मक संख्या है, तथा प्रमाणांगुल का अर्थ प्रमाणांगुलकुलक में प्रदेशों की गणात्मक संख्या है। इस न्यास के आधार पर वीरसेन ने सिद्ध किया है कि यद्यपि परिकर्मसूत्र में रज्जु के अर्द्धच्छेदों की संख्या, 'द्वीप-समुद्र की संख्या में रूपाधिक जम्बूद्वीप के अर्द्धच्छेदों के प्रमाण को मिला देने पर प्राप्त होती है, तथापि उस कथन का अर्थ उपयुक्त लेना चाहिये। यहां रूपाधिक का अर्थ अनेक से है, जहां अनेक, संख्यात, असंख्यात दोनों हो सकता है, एक नहीं। यह सिद्ध करने में, उनकी अद्वितीय प्रतिभा का चमत्कार प्रकट हो जाता है। आगमप्रणीत वचनों में उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी, पर, उन वचनों की वास्तविक भावना को युक्तिबल से सिद्ध करने की प्रेरणा भी थी। इस प्रकार, परिकर्म के वचनों का यथार्थ अर्थ प्रकट करने के लिये, उन्होंने पूर्वाचार्यों के के कथनों को आगमानुसार, गणित की कसौटी पर पुनः कसा। स्पष्ट है, कि तिलोयपण्णत्ती के इस अवतरण में वीरसेन की शैली का प्रवेश हुआ है, पर यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि यतिवृषभ ने परिकर्मसूत्र से इस आगमप्रणीत ज्योतिष बिम्ब संख्या के प्रमाण का विरोध वीरसेन से पहिले निर्दिष्ट कर दिया था, और उनके पश्चात् वीरसेन ने उसका निरूपण कर, परिकर्मसूत्र का उपयुक्त अर्थ स्पष्ट किया। हम इसका निरूपण कुछ आधुनिक शैली पर करने का प्रयत्न करेंगे।



स्पष्ट है कि जम्बूद्वीप के विष्कम्भ १००००० योजन को इकाई लेकर यदि अन्य द्वीप-समुद्रों के विष्कम्भों को प्ररूपित करें तो वे क्रमशः लवणोदय के लिये २ इकाईयां, धातकी द्वीप के लिये ४ इकाईयां, कालोदधि समुद्र के लिये ८ इकाईयां, पुष्करवरद्वीप के लिये १६ इकाईयां, इत्यादि होंगे।

यह बतलाया जा चुका है कि एक चंद्र के परिवार में एक सूर्य, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र तथा

६६९७५००००००००००००००० तारे होते हैं। जम्बूद्वीप में २ चंद्रमा, लवण समुद्र में ४ चंद्रमा, धातकीखंड में १२ चंद्रमा, कालोदक समुद्र में ४२ चंद्रमा, पुष्करवर अर्द्ध द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत से इसी ओर ७२ चंद्रमा, तथा मानुषोत्तर से बाहर प्रथम पंक्ति में १४४ चंद्रमा अपने अपने परिवार सहित हैं। मानुषोत्तर से बाहर की प्रथम पंक्ति, द्वीप से ५०००० योजन आगे जाकर है जहां चंद्रों की संख्या १४४ है। उससे आगे एक एक लाख योजन आगे जाकर, उत्तरोत्तर सात पंक्तियां अथवा वलय हैं जहां के चंद्रों का प्रमाण इस आदि प्रमाण १४४ से ४ प्रचय को लेकर वृद्धि रूप है, अर्थात् वहां क्रमशः १४८, १५२, १५६,...... आदि चंद्रों की संख्या है। इसके आगे के समुद्र की भीतरी पंक्ति में २८८ चंद्र हैं। यहां भी, एक एक लाख योजन चल चलकर वलय स्थित हैं जहां चंद्र बिम्बों का प्रमाण ४, ४ प्रचय लेकर वृद्धि रूप है। पुनः इस समुद्र के आगे जो द्वीप है वहां २८८×२ प्रमाण चंद्र बिम्ब प्रथम पंक्ति में हैं और १, १ लाख योजन चल चल कर उत्तरोत्तर स्थित ६४ पंक्तियों में ४, ४ प्रचय लेकर चंद्र बिम्बों का प्रमाण वृद्धि रूप अवस्थित है।

इस प्रकार प्रथम तीन द्वीपों (जम्बूद्वीप, धातकीखंड द्वीप और पुष्करवर द्वीप) तथा दो समुद्रों (लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र) को छोड़कर, अगले समुद्र तथा द्वीपों में स्थित चंद्रों के प्रमाण को निकालने के लिये न्यास दिया गया है।

तृतीय (पुष्करवर) समुद्र में वलयों या पंक्तियों की संख्या ३२ है, इसलिये यहां गच्छ (number of terms) ३२ है। प्रथम पंक्ति में २८८ चंद्र बिम्ब हैं, इसलिये २८८ गुण्यमान राशि (first term) है। ४ प्रचय (common difference) है।

चतुर्थ (वारुणीवर) द्वीप में वलयों की संख्या ६४ है, इसलिये गच्छ ६४ है। प्रथम पंक्ति में (२८८×२) = ५७६ चंद्र हैं, इसलिये गुण्यमान राशि ५७६ है। ४ प्रचय है।

इसी प्रकार पांचवें (वारुणीवर) समुद्र में गच्छ १२८, गुण्यमान राशि ११५२ है तथा ४ प्रचय है।

इस प्रकार, इन द्वीपों तथा समुद्रों में चंद्र बिम्बों का प्रमाण, हम समान्तर श्रेढि के संकलन के आधार पर सूत्र का प्रयोग करेंगे।

जहां गच्छ n है, गुण्यमान राशि (प्रथम पद) a है, तथा प्रचय d है, वहां,

$$\text{कुल धन} = \frac{n}{२}\left\{ २a + (n - १)d \right\} \text{ होता है।}$$

इसलिये, तृतीय समुद्र में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$$= \frac{३२}{२}\left\{ २ \times २८८ + (३२ - १) \times ४ \right\}$$

$$= ३२ \times २८८ + (३२ - १) \times ६४ \text{ होता है।}$$

चतुर्थ (वारुणीवर) द्वीप में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$$= \frac{६४}{२} \times \left\{ २^{२} \times २८८ + (६४ - १) \times ४ \right\}$$

$$= ६४ \times २ \times २८८ + (६४ - १) \times ६४ \times २ \text{ होता है।}$$

पंचम (वारुणीवर) समुद्र में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$$= \frac{१२८}{२} \times \left\{ २^{३} \times २८८ + (१२८ - १) \times ४ \right\}$$

$$= ६४ \times २^{३} \times २८८ + (१२८ - १) \times ६४ \times २^{२} \text{ होता है।}$$

इत्यादि।

यदि कुल द्वीप-समुद्रों की संख्या n ली जावे तो पांच द्वीप छूट जाने के कारण, हमें $n-५$ ऐसे होनेवाले प्रमाणों का योग, कुल चंद्र बिम्बों का प्रमाण निकालने के लिये करना पड़ेगा। इस

पुष्करवर आदि ५ छोड़े हुए द्वीप-समुद्रों के चंद्र बिम्बों का प्रमाण मिला देने पर समस्त चंद्र बिम्ब संख्या का प्रमाण प्राप्त होगा।

इस प्रकार (n – ५) द्वीप-समुद्रों के चंद्र बिम्बों का प्रमाण निकालने के लिये हमें, उपर्युक्त (n – ५) उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त संख्याओं का योग प्राप्त करना पड़ेगा।

वह योग निम्न लिखित श्रेढि रूप में दर्शाया जा सकता है :—

$$६४ \times २८८[\frac{१}{२} + २ + २^{३} + २^{५} + \cdots\cdots (n - ५) \text{ पदों तक }]$$
$$+ (६४)^{२}[\frac{१}{२} + २ + २^{३} + २^{५} + \cdots\cdots (n - ५) \text{ पदों तक }]$$
$$- ६४[१ + २ + २^{२} + २^{३} + \cdots\cdots (n - ५) \text{ पदों तक }]$$

इसका प्रमाण, योगरूप में लाने के लिये हम गुणोत्तर श्रेढि के संकलन सूत्र का उपयोग करेंगे।

जहां a प्रथम पद हो, r साधारण निष्पत्ति (Common ratio) हो n गच्छ (Number of terms) हो वहां,

संकलित धन $= \frac{a(r^{n} - १)}{r - १}$ होता है।

इस तरह, कुल धन का प्रमाण यह है :—

$$६४\left[२८८ \left\{ \frac{\frac{१}{२}(४^{(n-५)} - १)}{४ - १} \right\} - १ \left\{ \frac{१(२^{(n-५)} - १)}{२ - १} \right\} + ६४ \left\{ \frac{\frac{१}{२}(४^{(n-५)} - १)}{४ - १} \right\} \right]$$

अथवा, यह है :—

$$६४[\frac{१७६}{३}.\{२^{(n-५)}\}^{२} - (२)^{(n-५)} - ५७\frac{२}{३}]$$

कुल चंद्र बिम्बों के परिवार सहित समस्त ज्योतिष बिम्बों की संख्या यह होगी :—

$$(६६९७५००००००००००००११७)[६४[\frac{१७६}{३}\{२^{(n-५)}\}^{२} - (२)^{(n-५)} - ५७\frac{२}{३}]]$$
$$+ [\text{शेष पांच द्वीप समुद्रों के चंद्र बिम्बों का परिवार सहित संख्या प्रमाण}]$$
$$\cdots\cdots\cdots\cdots \text{I}$$

यहां ध्यान देने योग्य संख्या $(२^{(n-५)})^{२}$ अथवा $(२^{n-५})(२^{n-५})$ है।

हमें मालूम है, कि रज्जु के अर्द्धच्छेदों का प्रमाण प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित सूत्र का आश्रय लेना पड़ता है :—

$$n + (\text{ १ या } a\text{ }) + \log_{२}(\text{ ज }) = \log_{२}(\text{ र })$$

जहां, n द्वीप-समुद्रों की संख्या है। a संख्यात संख्या है; ज, जम्बूद्वीप के विष्कम्भ में स्थित संलग्न प्रदेशों की संख्या है जो असंख्यात (मध्यम असंख्यातासंख्यात से कम) प्रमाण है; र, एक राजु प्रमाण अथवा जगश्रेणी के सातवें भाग प्रमाण सरल रेखा में स्थित संलग्न प्रदेशों की संख्या है।

यह भी ज्ञात है कि जम्बूद्वीप के विष्कम्भ में

१००००० × ६ × २ × २ × २ × २ × २००० × ४ प्रमाणांगुल होते हैं। एक प्रमाणांगुल में ५०० उत्सेध अंगुल होते हैं तथा उस सूच्यंगुल में प्रदेशों की संख्या के अर्द्धच्छेद का प्रमाण $(\log_{२} प)^{२}$ होता है जहां प, पल्योपम काल में स्थित समयों की संख्या है। यहां १ आवलि में जघन्य युक्त असंख्यात समय बतलाये गये हैं। इसलिये प्रमाणांगुल (५०० अं०) एक असंख्यात प्रमाण राशि है जो उत्कृष्ट संख्यात के ऊपर होने से श्रुतकेवली के विषय की सीमा का उल्लंघन कर जाती है।

जम्बूद्वीप के इस विष्कम्भ को हम अधिक से अधिक $२^{४०}$ प्रमाणांगुल भी ले लें तो

६६९७५००००००००००००० तारे होते हैं। जम्बूद्वीप में २ चंद्रमा, लवण समुद्र में ४ चंद्रमा, धातकीखंड में १२ चंद्रमा, कालोदक समुद्र में ४२ चंद्रमा, पुष्करवर अर्द्ध द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत से इसी ओर ७२ चंद्रमा, तथा मानुषोत्तर से बाहर प्रथम पंक्ति में १४४ चंद्रमा अपने अपने परिवार सहित हैं। मानुषोत्तर से बाहर की प्रथम पंक्ति, द्वीप से ५०००० योजन आगे जाकर है जहां चंद्रों की संख्या १४४ है। उससे आगे एक एक लाख योजन आगे जाकर, उत्तरोत्तर सात पंक्तियां अथवा वलय हैं जहां के चंद्रों का प्रमाण इस आदि प्रमाण १४४ से ४ प्रचय को लेकर वृद्धि रूप है, अर्थात् वहां क्रमशः १४८, १५२, १५६,...... आदि चंद्रों की संख्या है। इसके आगे के समुद्र की भीतरी पंक्ति में २८८ चद्र हैं। यहां भी, एक एक लाख योजन चल चलकर वलय स्थित हैं जहां चंद्र बिम्बों का प्रमाण ४, ४ प्रचय लेकर वृद्धि रूप है। पुनः इस समुद्र के आगे जो द्वीप है वहां २८८ × २ प्रमाण चंद्र बिम्ब प्रथम पंक्ति में हैं और १, १ लाख योजन चल चल कर उत्तरोत्तर स्थित ६४ पंक्तियों में ४, ४ प्रचय लेकर चंद्र बिम्बों का प्रमाण वृद्धि रूप अवस्थित है।

इस प्रकार प्रथम तीन द्वीपों (जम्बूद्वीप, धातकीखंड द्वीप और पुष्करवर द्वीप) तथा दो समुद्रों (लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र) को छोड़कर, अगले समुद्र तथा द्वीपों में स्थित चंद्रों के प्रमाण को निकालने के लिये न्यास दिया गया है।

तृतीय (पुष्करवर) समुद्र में वलयों या पंक्तियों की संख्या ३२ है, इसलिये यहां गच्छ (number of terms) ३२ है। प्रथम पंक्ति में २८८ चंद्र बिम्ब हैं, इसलिये २८८ गुण्यमान राशि (first term) है। ४ प्रचय (common difference) है।

चतुर्थ (वारुणीवर) द्वीप में वलयों की संख्या ६४ है, इसलिये गच्छ ६४ है। प्रथम पंक्ति में (२८८ × २) = ५७६ चंद्र हैं, इसलिये गुण्यमान राशि ५७६ है। ४ प्रचय है।

इसी प्रकार पांचवें (वारुणीवर) समुद्र में गच्छ १२८, गुण्यमान राशि ११५२ है तथा ४ प्रचय है।

इस प्रकार, इन द्वीपों तथा समुद्रों में चंद्र बिम्बों का प्रमाण, हम समान्तर श्रेढि के संकलन के आधार पर सूत्र का प्रयोग करेंगे।

जहां गच्छ n है, गुण्यमान राशि (प्रथम पद) a है, तथा प्रचय d है, वहां,

कुल धन $= \frac{n}{२} \left\{ २a + (n - १)d \right\}$ होता है।

इसलिये, तृतीय समुद्र में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$= \frac{३२}{२} \left\{ २ \times २८८ + (३२ - १) \times ४ \right\}$

$= ३२ \times २८८ + (३२ - १) \times ६४$ होता है।

चतुर्थ (वारुणीवर) द्वीप में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$= \frac{६४}{२} \times \left\{ २^२ \times २८८ + (६४ - १) \times ४ \right\}$

$= ६४ \times २ \times २८८ + (६४ - १) \times ६४ \times २$ होता है।

पंचम (वारुणीवर) समुद्र में, समस्त चंद्र बिम्बों का प्रमाण

$= \frac{१२८}{२} \times \left\{ २^३ \times २८८ + (१२८ - १) \times ४ \right\}$

$= ६४ \times २^३ \times २८८ + (१२८ - १) \times ६४ \times २^२$ होता है।

इत्यादि।

यदि कुल द्वीप-समुद्रों की संख्या n ली जावे तो पांच द्वीप छूट जाने के कारण, हमें केवल $n - ५$ ऐसे होनेवाले प्रमाणों का योग, कुल चंद्र बिम्बों का प्रमाण निकालने के लिये करना पड़ेगा। इस योग में

पुष्करवर आदि ५ छोड़े हुए द्वीप-समुद्रों के चंद्र बिम्बों का प्रमाण मिला देने पर समस्त चंद्र बिम्ब संख्या का प्रमाण प्राप्त होगा।

इस प्रकार (n – ५) द्वीप-समुद्रों के चंद्र बिम्बों का प्रमाण निकालने के लिये हमें, उपर्युक्त (n – ५) उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त संख्याओं का योग प्राप्त करना पड़ेगा।

वह योग निम्न लिखित श्रेढि रूप में दर्शाया जा सकता है :—

$$६४ \times २८८[\tfrac{१}{२} + २ + २^३ + २^५ + \cdots\cdots (n - ५) \text{ पदों तक }]$$
$$+ (६४)^२[\tfrac{१}{२} + २ + २^३ + २^५ + \cdots\cdots (n - ५) \text{ पदों तक }]$$
$$- ६४[१ + २ + २^२ + २^३ + \cdots\cdots (n - ५) \text{ पदों तक }]$$

इसका प्रमाण, योगरूप में लाने के लिये हम गुणोत्तर श्रेढि के संकलन सूत्र का उपयोग करेंगे।

जहां a प्रथम पद हो, r साधारण निष्पत्ति (Common ratio) हो n गच्छ (Number of terms) हो वहां,

संकलित धन $= \dfrac{a(r^n - १)}{r - १}$ होता है।

इस तरह, कुल धन का प्रमाण यह है :—

$$६४\left[२८८ \left\{ \frac{\frac{१}{२}(४^{(n-५)} - १)}{४ - १} \right\} - १ \left\{ \frac{१(२^{(n-५)} - १)}{२ - १} \right\} + ६४ \left\{ \frac{\frac{१}{२}(४^{(n-५)} - १)}{४ - १} \right\} \right]$$

अथवा, यह है :—

$$६४[\tfrac{१७६}{३}.\{२^{(n-५)}\}^२ - (२)^{(n-५)} - ५७\tfrac{२}{३}]$$

कुल चंद्र बिम्बों के परिवार सहित समस्त ज्योतिष बिम्बों की संख्या यह होगी :—

$$(६६९७५०००००००००००११७)[६४[\tfrac{१७६}{३}\{२^{(n-५)}\}^२ - (२)^{(n-५)} - ५७\tfrac{२}{३}]]$$
$$+ [\text{शेष पांच द्वीप समुद्रों के चंद्र बिम्बों का परिवार सहित संख्या प्रमाण}]$$

............I

यहां ध्यान देने योग्य संख्या $(२^{(n-५)})^२$ अथवा $(२^{n-५})(२^{n-५})$ है।

हमें मालूम है, कि रज्जु के अर्द्धच्छेदों का प्रमाण प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित सूत्र का आश्रय लेना पड़ता है :—

$$n + (\text{ १ या } s) + \log_२ (\text{ज}) = \log_२ (\text{र})$$

जहां, n द्वीप-समुद्रों की संख्या है। s संख्यात संख्या है; ज, जम्बूद्वीप के विष्कम्भ में स्थित संलग्न प्रदेशों की संख्या है जो असंख्यात (मध्यम असंख्यातासंख्यात से कम) प्रमाण है; र, एक राजु प्रमाण अथवा जगश्रेणी के सातवें भाग प्रमाण सरल रेखा में स्थित संलग्न प्रदेशों की संख्या है।

यह भी ज्ञात है कि जम्बूद्वीप के विष्कम्भ में

१००००० × ६ × २ × २ × २ × २ × २००० × ४ प्रमाणांगुल होते हैं। एक प्रमाणांगुल में ५०० उत्सेध अंगुल होते हैं तथा उस सूच्यंगुल में प्रदेशों की संख्या के अर्द्धच्छेद का प्रमाण $(\log_२ \text{प})^२$ होता है जहां प, पल्योपम काल में स्थित समयों की संख्या है। यहां १, आवलि में जघन्य युक्त असंख्यात समय बतलाये गये हैं। इसलिये प्रमाणांगुल (५०० अं०) एक असंख्यात प्रमाण राशि है जो उत्कृष्ट संख्यात के ऊपर होने से श्रुतकेवली के विषय की सीमा का उलंघन कर जाती है।

जम्बूद्वीप के इस विष्कम्भ को हम अधिक से अधिक $२^{४०}$ प्रमाणांगुल भी ले लें तो

n + (s या १) + $\log_2$ [$२^{४०}$ प्रमाणांगुल] = $\log_2$ र होता है,

अथवा n + (s या १) + ४० प्रमाणांगुल = $\log_2$ र होता है,

अथवा n − ५ = ($\log_2$ र − ५ − (s या १) − ४० प्रमाणांगुल) होता है।

यदि हम s की जगह १ लें तो अधिक से अधिक

n − ५ = { $\log_2$ र − $\log_2$ $(२)^{४०}$ प्रमाणांगुल } होता है

अथवा n − ५ = $\left\{ \log_2 \frac{र}{२^{४०} \text{ प्रमाणांगुल}} \right\}$ होता है।

............II

इस प्रकार सर्व ज्योतिष बिम्बों की संख्या, II से I में (n − ५) का मान रखने पर

$= (६६९७५०००००००००००११७)\left[६४\left[\frac{१७६}{३}\left\{\frac{र}{(२)^{४०} \text{ प्रमाणांगुल}}\right\}^२ - \frac{र}{(२)^{४०} \text{ प्रमाणांगुल}} - ५७\frac{३}{३}\right]\right]$

स्पष्ट है कि, $\frac{र}{(२)^{४०} \text{ प्रमाणांगुल}}$, तथा ५७$\frac{३}{३}$, प्रथम पद की तुलना में नगण्य है।

इस प्रकार, प्रथम पद के हर में $(२५६)^२$ प्रमाणांगुल आने के लिये, २ की घात ८० से काम नहीं चल सकता; क्योंकि उसके गुणक

$\frac{१७६}{३}$ × ६४ × ६६९७५०००००००००००११७ में अर्द्धच्छेदों की संख्या प्रायः ७७ या ७८ रहती है। इसलिये $(२५६)^२$ को उत्पन्न करने के लिये जहां १६ अर्द्धच्छेद अधिक होना चाहिये वहां ८०-७७ अथवा ३ अर्द्धच्छेद ही भागहार में २ की घात में रहते हैं। यदि रज्जु को जगश्रेणी में बदलने के लिये ४९ का भाग भी देना हो तथापि ५ अर्द्धच्छेद और जुड़ेंगे और इस प्रकार १६ के स्थान में केवल ८ ही २ की घात भागहार में रहेगी। इसलिये, १ की जगह संख्यात लेना उपयुक्त है। साथ ही, जिन पदों को घटाना है, उनसे भागहार में वृद्धि ही होगी। प्रथम पांच द्वीप-समुद्रों के ज्योतिष बिम्बों का प्रमाण इस तुलना में नगण्य है।

परिशिष्ट (१)

Apj का प्रमाण श्रेढि के रूप में निम्न लिखित विधि से प्राप्त किया जा सकता है।

चतुर्थ अधिकार की गाथा ३०९ के पश्चात् के विवरण के अनुसार तीन अवस्थित कुंड (शलाका, प्रतिशलाका तथा महाशलाका) और एक अनवस्थित (unstable) कुंड एक से माप के स्थापित किये जाते हैं। मान लो प्रत्येक में 'क' बीज समाते हैं। इस अनवस्थाकुंड से एक-एक बीज निकालकर क्रम से द्वीप-समुद्रों को देते जाने पर क वें द्वीप अथवा समुद्र में अन्तिम बीज गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास गुणोत्तर श्रेढि के पद को निकालने की विधि के अनुसार $२^{(क-१)}$ लाख योजन होगा। यह क्रिया समाप्त होते ही रिक्त शलाकाकुंड में एक बीज डाल देते हैं। यहां सर्वप्रथम बीज शलाकाकुंड में गिराया जाता है। अब इस व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times २^{(२क-२)} \right\}$ बीज समावेंगे। इस परिमाण को $क_1$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इन $क_1$ बीजों को अब अगले द्वीप-समुद्रों में एक-एक छोड़ने पर अंतिम बीज $(क + क_1)$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $२^{(क + क_1 - १)}$ लाख योजन होगा। इस क्रिया के समाप्त होते ही शलाकाकुंड में पुनः एक बीज डाल देते हैं। इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times २^{(२क + २क_1 - २)} \right\}$ बीज समावेंगे। इस परिमाण को $क_2$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इन $क_2$ बीजों को अब आगे के द्वीप-समुद्रों में एक-एक छोड़ने पर अंतिम बीज $(क + क_1 + क_2)$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $2^{(क + क_1 + क_2 - 1)}$ लाख योजन होगा। इस क्रिया के समाप्त होते ही शलाकाकुंड में पुनः एक बीज डाल देते हैं। इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times 2^{(2क + 2क_1 + 2क_2 - 2)} \right\}$ बीज समावेंगे। इस प्रमाण को $क_3$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इस प्रकार यह विधि तब तक संतत रखी जावेगी जब तक कि शलाकाकुंड न भर जावे, अर्थात् यह विधि क बार की जावेगी। स्पष्ट है कि इस क्रिया के अंत में अंतिम बीज
$क + क_1 + क_2 + क_3 + \dots\dots + क_{क-1}$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा।

इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $2^{(क + क_1 + \dots\dots + क_{क-1} - 1)}$ लाख योजन होगा। इस व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times 2^{(2क + 2क_1 + \dots\dots + 2क_{क-1} - 2)} \right\}$ बीज समावेंगे। इसका प्रमाण $क_क$ से निर्दिष्ट करेंगे।

स्मरण रहे, कि यहां शलाकाकुंड भर चुका है और प्रतिशलाकाकुंड में अब १ बीज डाला जावेगा। इतने व्यास के इस अनवस्थाकुंड को लेकर पुनः एक शलाकाकुंड भरा जावेगा और उस क्रिया को क बार कर लेने पर प्रतिशलाकाकुंड में पुनः १ बीज डाला जावेगा। स्पष्ट है कि 'क' 'क' बार यह क्रिया पुनः पुनः कितने बार की जावेगी ? 'क' बार की जावेगी, तभी प्रतिशलाकाकुंड भरेगा। इस क्रिया के अंत में अंतिम बीज $क + क_1 + क_2 + \dots\dots + क_क + \dots\dots + क_{2क} + \dots\dots क_{क^2 - 1}$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप या समुद्र का व्यास निकाला जा सकता है, तथा इस व्यास के अनवस्था-कुंड में समाये गये बीजों की संख्या भी निकाली जा सकती है।

यहां प्रतिशलाकाकुंड पूर्ण भर चुका है और १ बीज महाशलाकाकुंड में इस क्रिया की एक बार समाप्ति दर्शाने हेतु डाल दिया जाता है। उक्त प्रतिशलाकाकुंड को भरने के लिये जो क्रिया $क^2$ बार की गई है उसे पुनः पुनः अर्थात् क बार करने पर ही महाशलाकाकुंड भरा जावेगा। स्पष्ट है कि महाशलाका-कुंड भरने पर इस महा क्रिया में अंतिम बीज
$क + क_1 + क_2 + \dots\dots + क_क + \dots\dots + क_{क2} + \dots\dots + क_{2क^2} + \dots\dots + क_{क^3 - 1}$ वें द्वीप या समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप या समुद्र का व्यास $2^{(क + क_1 + \dots\dots + क_{क^3 - 1} - 1)}$ लाख योजन होगा।

इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times 2^{(2क + 2क_1 + \dots\dots + 2क_{क^3 - 1} - 2)} \right\}$ बीज समावेंगे जिसे हम $क_{क^3}$ द्वारा प्ररूपित कर सकते हैं। यही प्रमाण Apj है जो Su से मात्र एक अधिक है। यहां यतिवृषभ का संकेत है कि यह चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली का विषय है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे जिनके समीप से मुकुटधारियों में अंतिम 'चंद्रगुप्त' दीक्षा लेकर सम्भवतः दक्षिण की ओर चल पड़े थे।

परिशिष्ट (२)

तिलोयपण्णत्ती, ४,३१० (पृ. १८०–८२) के प्रकरण को और भी स्पष्ट करना यहां आवश्यक है। यतिवृषभ ने यहां संकेत किया है कि जहां जहां असंख्यात का अधिकार हो वहां वहां Ayj ग्रहण करना चाहिए। यहां संदेह होता है कि क्या लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों का भी यही प्रमाण माना जाय ?

$n+($ s या १ $)+\log_2[$ $२^{४०}$ प्रमाणांगुल $]=\log_2$ र होता है,

अथवा $n+($ s या १ $)+$ ४० प्रमाणांगुल $=\log_2$ र होता है,

अथवा $n-५=(\log_2$ र $-५-($ s या १ $)-$ ४० प्रमाणांगुल) होता है।

यदि हम s की जगह १ लें तो अधिक से अधिक

$n-५=\{\log_2$ र $-\log_2(२)^{४०}$ प्रमाणांगुल $\}$ होता है

अथवा $n-५=\left\{\log_2 \frac{र}{२^{४०}\ \text{प्रमाणांगुल}}\right\}$ होता है।

............II

इस प्रकार सर्व ज्योतिष बिम्बों की संख्या, II से I में ($n-५$) का मान रखने पर

$$=(६६९७५०००००००००००११७)\left[६४\left[\frac{१७६}{३}\left\{\frac{र}{(२)^{४०}\ \text{प्रमाणांगुल}}\right\}^{२}-\frac{र}{(२)^{४०}\ \text{प्रमाणांगुल}}-५७\frac{२}{३}\right]\right]$$

स्पष्ट है कि, $\frac{र}{(२)^{४०}\ \text{प्रमाणांगुल}}$, तथा $५७\frac{२}{३}$, प्रथम पद की तुलना में नगण्य है।

इस प्रकार, प्रथम पद के हर में $(२५६)^{२}$ प्रमाणांगुल आने के लिये, २ की घात ८० से काम नहीं चल सकता; क्योंकि उसके गुणक

$\frac{१७६}{३}\times ६४\times ६६९७५०००००००००००११७$ में अर्द्धच्छेदों की संख्या प्रायः ७७ या ७८ रहती है। इसलिये $(२५६)^{२}$ को उत्पन्न करने के लिये जहां १६ अर्द्धच्छेद अधिक होना चाहिये वहां ८०-७७ अथवा ३ अर्द्धच्छेद ही भागहार में २ की घात में रहते हैं। यदि रज्जु को जगश्रेणी में बदलने के लिये ४९ का भाग भी देना हो तथापि ५ अर्द्धच्छेद और जुड़ेंगे और इस प्रकार १६ के स्थान में केवल ८ ही २ की घात भागहार में रहेगी। इसलिये, १ की जगह संख्यात लेना उपयुक्त है। साथ ही, जिन पदों को घटाना है, उनसे भागहार में वृद्धि ही होगी। प्रथम पांच द्वीप-समुद्रों के ज्योतिष बिम्बों का प्रमाण इस तुलना में नगण्य है।

परिशिष्ट (१)

Apj का प्रमाण श्रेढि के रूप में निम्न लिखित विधि से प्राप्त किया जा सकता है।

चतुर्थ अधिकार की गाथा ३०९ के पश्चात् के विवरण के अनुसार तीन अवस्थित कुंड (शलाका, प्रतिशलाका तथा महाशलाका) और एक अनवस्थित (unstable) कुंड एक से माप के स्थापित किये जाते हैं। मान लो प्रत्येक में 'क' बीज समाते हैं। इस अनवस्थाकुंड से एक-एक बीज निकालकर क्रम से द्वीप-समुद्रों को देते जाने पर क वें द्वीप अथवा समुद्र में अन्तिम बीज गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास गुणोत्तर श्रेढि के पद को निकालने की विधि के अनुसार $२^{(क-१)}$ लाख योजन होगा। यह क्रिया समाप्त होते ही रिक्त शलाकाकुंड में एक बीज डाल देते हैं। यहां सर्वप्रथम बीज शलाकाकुंड में गिराया जाता है। अब इस व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{क\times २^{(२क-२)}\right\}$ बीज समावेंगे। इस परिमाण को $क_{१}$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इन $क_{१}$ बीजों को अब अगले द्वीप-समुद्रों में एक-एक छोड़ने पर अंतिम बीज $(क+क_{१})$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $२^{(क+क_{१}-१)}$ लाख योजन होगा। इस क्रिया के समाप्त होते ही शलाकाकुंड में पुनः एक बीज डाल देते हैं। इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{क\times २^{(२क+२क_{१}-२)}\right\}$ बीज समावेंगे। इस परिमाण को $क_{२}$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इन $क_2$ बीजों को अब आगे के द्वीप-समुद्रों में एक-एक छोडने पर अंतिम बीज $(क+क_1+क_2)$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $२^{(क+क_1+क_2-१)}$ लाख योजन होगा। इस क्रिया के समाप्त होते ही शलाकाकुंड में पुनः एक बीज डाल देते हैं। इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times २^{(२क+२क_1+२क_2-२)} \right\}$ बीज समावेंगे। इस प्रमाण को $क_3$ द्वारा प्ररूपित करेंगे।

इस प्रकार यह विधि तब तक संतत रखी जावेगी जब तक कि शलाकाकुंड न भर जावे, अर्थात् यह विधि क बार की जावेगी। स्पष्ट है कि इस क्रिया के अंत में अंतिम बीज
$क+क_1+क_2+क_3+\ldots\ldots\ldots+क_{क-1}$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा।

इस द्वीप अथवा समुद्र का व्यास $२^{(क+क_1+\ldots\ldots\ldots+क_{क-1}-१)}$ लाख योजन होगा। इस व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times २^{(२क+२क_1+\ldots\ldots\ldots+२क_{क-1}-२)} \right\}$ बीज समावेंगे। इसका प्रमाण $क_क$ से निर्दिष्ट करेंगे।

स्मरण रहे, कि यहां शलाकाकुंड भर चुका है और प्रतिशलाकाकुंड में अब १ बीज डाला जावेगा। इतने व्यास के इस अनवस्थाकुंड को लेकर पुनः एक शलाकाकुंड भरा जावेगा और उस क्रिया को क बार कर लेने पर प्रतिशलाकाकुंड में पुनः १ बीज डाला जावेगा। स्पष्ट है कि 'क' 'क' बार यह क्रिया पुनः पुनः कितने बार की जावेगी ? 'क' बार की जावेगी, तभी प्रतिशलाकाकुंड भरेगा। इस क्रिया के अंत में अंतिम बीज $क+क_1+क_2+\ldots\ldots+क_क+\ldots\ldots+क_{2क}+\ldots\ldots क_{क^2-1}$ वें द्वीप अथवा समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप या समुद्र का व्यास निकाला जा सकता है, तथा इस व्यास के अनवस्था-कुंड में समाये गये बीजों की संख्या भी निकाली जा सकती है।

यहां प्रतिशलाकाकुंड पूर्ण भर चुका है और १ बीज महाशलाकाकुंड में इस क्रिया की एक बार समाप्ति दर्शाने हेतु डाल दिया जाता है। उक्त प्रतिशलाकाकुंड को भरने के लिये जो क्रिया $क^2$ बार की गई है उसे पुनः पुनः अर्थात् क बार करने पर ही महाशलाकाकुंड भरा जावेगा। स्पष्ट है कि महाशलाका-कुंड भरने पर इस महा क्रिया में अंतिम बीज
$क+क_1+क_2+\ldots\ldots+क_क+\ldots\ldots+क_{क2}+\ldots\ldots+क_{2क^2}+\ldots\ldots+क_{क^3-1}$ वें द्वीप या समुद्र में गिरेगा। इस द्वीप या समुद्र का व्यास $२^{(क+क_1+\ldots\ldots+क_{क^3-1}-१)}$ लाख योजन होगा।

इतने व्यासवाले अनवस्थाकुंड में $\left\{ क \times २^{(२क+२क_1+\ldots\ldots+२क_{क^3-1}-२)} \right\}$ बीज समावेंगे जिसे हम $क_{क^3}$ द्वारा प्ररूपित कर सकते हैं। यही प्रमाण Apj है जो Su से मात्र एक अधिक है। यहां यतिवृषभ का संकेत है कि यह चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली का विषय है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे जिनके समीप से मुकुटधारियों में अंतिम 'चंद्रगुप्त' दीक्षा लेकर सम्भवतः दक्षिण की ओर चल पड़े थे।

परिशिष्ट (२)

तिलोयपण्णत्ती, ४,३१० (पृ. १८०–८२) के प्रकरण को और भी स्पष्ट करना यहां आवश्यक है। यतिवृषभ ने यहां संकेत किया है कि जहां जहां असंख्यात का अधिकार हो वहां वहां Ayj ग्रहण करना चाहिए। यहां संदेह होता है कि क्या लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों का भी यही प्रमाण माना जाय ?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जहां पल्योपम, अवलि आदि की गणना का सम्बन्ध है वहां Ayj का ग्रहण करना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में तो लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या गणना की अपेक्षा से वास्तव में संख्या के अतीत होने से जो भी उसका प्रमाण है उसे उपधारणा (postulation) के आधार पर मात्र असंख्यात से अलंकृत कर देना ही उचित समझा गया है, वहां Ayj का ग्रहण करना वांछनीय नहीं है। यह तथ्य तब और भी स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम देखते हैं कि

{ log }

अं = प

इस समीकार का निर्वचन हम पहिले ही दे चुके हैं। अं सूच्यंगुल में स्थित प्रदेशों की गणात्मक संख्या का प्रतीक है और प पल्योपमकाल राशि में स्थित समयों (The now of zeno) की गणात्मक संख्या का प्रतीक है। पल्योपमकाल में स्थित समयों की संख्या का प्रमाण* देखते हुए हमें जब सूच्यंगुल में स्थित प्रदेशों की संख्या का आभास मिलता है तो यह निश्चय हो जाता है कि लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या, गणना की अपेक्षा अतीत है। केवल काल की गणना में असंख्यात शब्द के लिये Ayj का ग्रहण हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार आवलि में असंख्यात समय का अर्थ Ayj समय हुआ। जहां उद्धार पल्य को असंख्यात कोटि वर्षों की समयसंख्या से गुणित करने का प्रकरण है वहां भी इस असंख्यात को Ayj के रूप में ग्रहण करने पर हमारा यह विभ्रम दूर हो जाता है कि अं न मालूम क्या है। दूसरी जगह आये हुए असंख्यात शब्द Ayj के लिये प्रयुक्त नहीं हुए हैं इसी कारण यहां अधिकार शब्द का प्रयोग हुआ है।

संख्याधारा में Apj का प्रमाण सुनिश्चित है इसलिये Apj का Apj में Apj बार गुणन होने पर जो Ayj की प्राप्ति हुई है, वह भी सुनिश्चित अचल संख्या प्रमाण है।

जिस पल्योपम के आधार पर सूच्यंगुल प्रदेश राशि की संख्या का प्रमाण बतलाया गया है उस समयराशि (अद्धापल्य काल राशि) में स्थित समयों की संख्या का प्रमाण

= {Apj (कोटि वर्ष समय राशि)}^{२} × (दसार्हा पद्धति में लिखित ४७ अंक प्रमाण समय राशि)

= (Apj)^{२}(दसार्हा पद्धति में लिखित ६१ अंक प्रमाण) {१ वर्ष समय राशि प्रमाण}^{३}

= (Apj)^{२}(दसार्हा पद्धति में लिखित ६१ अंक प्रमाण संख्या){(२)^{५}(१५)^{२}(३८३)^{२}(७)^{२}. Sm}^{३}

यहां Sm एक चल (variable) क्रमबद्ध, प्राकृत संख्या युक्त राशि है जिसके अवयव Su तथा Sj की मध्यवर्ती प्राकृत संख्याओं के पद ग्रहण करते हैं। यहां Sm का निश्चित प्रमाण ज्ञात नहीं है पर विज्ञान के इस युग में उसकी नितान्त आवश्यकता है। सम्भवतः Sj और Su के बीच का यह प्रमाण निश्चित करने में मूलभूत कणों के गमन विज्ञान में दक्ष भौतिकशास्त्री कुछ लाभ ले सकें। Sm को इसी रूप में रख उन आचार्यों ने क्या सहज भाव को अपनाया है अथवा आंकिकी पर आधारित सम्भावना (probability) को व्यक्त किया है? हम अभी नहीं कह सकते।

---

*षट्खंडागम, पु. ३, प्रस्तावना पृ० ३४, ३५.

महाकोशल महाविद्यालय
जबलपुर

लक्ष्मीचन्द जैन
एम्. एस्सी.

शब्द-सूची

गणित लेख का शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	भूल	सुधार
२	नीचे से १२	⌐	ऽ
	नीचे से १०	”	”
	नीचे से ८	”	”
३	ऊपर से १५	(त्र्प्रं)=प $^{log_2(त्र्प्र)}$	(त्र्प्रं)=प $^{log_2(प)}$
६	ऊपर से ४	intervol	interval
७	ऊपर से १८	mathemetical	mathematical
९	ऊपर से ८	पुन:	—
११	नीचे से ९	की	के
	नीचे से ८	थ	थी
	नीचे से ५	⁀-	-⁀-
१५	ऊपर से ३	$\frac{व्या२—व्या१}{२^{२}}$	$\frac{व्या_{२}—व्या_{१}}{२^{२}}$
१८	नीचे से ६	है[१]	है
१८	नीचे से १	अनन्तानन्त परमाणु[२]	अनन्तानन्त[१] परमाणु[२]
२१	नीचे से ३	Egyptions	Egyptians
४०	नीचे से १	era.[२]	era.[१०]
६२	नीचे से १७	No	№
	नीचे से १२	२No>No	२ № > №
८८	ऊपर से ७	minuts	minutes
	ऊपर से ८	”	”
९७	नीचे से ९	motien	motion
१०३	नीचे से ११	^{क}क२	^{क}क^{२}
१०४	ऊपर से ६	त्र्प्रं=प {log}	त्र्प्रं=प {log_2प}
	ऊपर से ८	zeno	Zeno
	नीचे से ६	राक्ति	राशि

प्रस्तावना

१ खगोल विषयक जैन ग्रंथ

प्राचीन भारतने इस विश्व को कैसा जाना माना है, यह विषय बड़ा रोचक एवं अध्यापनकी एक स्वतंत्र शाखा ही है। प्रारंभमें विद्वानों द्वारा इस विषय का जो कुछ अनुसंधान किया गया है (उदाहरणार्थ, देखिये ' डब्ल्यू. किरफेल ' कृत जर्मन भाषा का ग्रंथ ' डइ कॉस्मोग्राफी डेर इंडेर ' लीपज़िग १९२०, पृ. २०८–३४०) उससे सुस्पष्ट है कि भारतीय लोक-विज्ञान में जैन आचार्यों द्वारा किया गया चिन्तन भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस विषय की जैन रचनायें अनेक दृष्टियोंसे रुचिकर पाई जाती हैं। उनमें लोकका आकार प्रकार संबंधी विवरण बड़े विस्तारसे, बड़ी सुसंगतिसे एवं बड़ी कल्पना के साथ किया गया है। इस विवरण का जैन तत्त्वज्ञान व चारित्र संबंधी नियमोंके साथ भी घनिष्ट संबंध है। तथा समस्त जैन साहित्य और विशेषतः उसका कथात्मक भाग, इस लोक-ज्ञान संबंधी विवरणोंसे इतना ओतप्रोत है कि वह, विना उक्त विषयके विशेष ग्रंथोंका सहारा लिये, स्पष्टतः समझा नहीं जा सकता। उनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि उनमें अपने रचनाकाल के गणितज्ञान का भी खूब समावेश पाया जाता है। इस प्रकार नाना देशों और युगों में मानवीय ज्ञान के विकास का इतिहास समझने के लिये ये लोक-विज्ञान विषयक जैन ग्रंथ बड़े रोचक हैं।

अर्धमागधी श्रुताङ्ग के भीतर कुछ रचनायें ऐसी हैं जिनमें इस विषयका वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार हैं:—

(१) सूरपण्णत्ति (सं. सूर्य-प्रज्ञप्ति, मलयगिरि की टीका सहित प्रकाशित, आगमोदय समिति, सूरत, १९१९)

(२) जम्बुद्दीवपण्णत्ति (सं. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, शान्त्याचार्य की टीका सहित प्रकाशित, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, ५२ और ५४, बम्बई, १९२०)

(३) चंदपण्णत्ति (सं. चन्द्रप्रज्ञप्ति)

श्रुतांगोंके उत्तर कालीन अन्य जैन ग्रंथोंमें भी इस विषयका बहुत विवरण मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि टीकाओंमें यह वर्णन खूब आया है। इस विषयके अन्य ग्रंथ हैं:—

(१) उमास्वातिकृत जम्बूद्वीपसमास (विजयसिंहकृत टीका सहित प्रकाशित, अहमदाबाद १९२२)

(२) जिनभद्रकृत संघायणी (मलयगिरिकृत टीका सहित प्रकाशित, भावनगर सं. १९७३)

(३) बृहत्क्षेत्रसमास (मलयगिरिकृत टीका सहित प्रकाशित, भावनगर सं. १९७७)

(४) हरिभद्रकृत जम्बुद्दीव-संघायणी (भावनगर १९१५). आदि।

इन ग्रंथोंका उल्लेख डब्ल्यू. शुब्रिंग कृत ' डइ लेहरे डेर जैनाज़ ' (लीपज़िंग १९३५ पृ. २१६) में पाया जाता है।

श्रुतांग-संकलनसे पूर्वकालीन जैन ग्रंथोंकी एक अन्य भी परम्परा है। इसी परम्परा का एक ग्रंथ ' तिलोयपण्णत्ति ' दो भागोंमें प्रस्तुत ग्रंथमाला में ही प्रकाशित हो चुका है (शोलापुर, १९४३, १९५१)।

दूसरा ग्रंथ 'लोयविभाग' भी इसी प्राचीन परम्परा का था, किन्तु अब केवल उसका संस्कृत संक्षिप्त रूपांतर 'लोकविभाग' ही उपलभ्य है। नेमिचन्द्रकृत 'तिलोयसार' (सं. त्रिलोकसार, बम्बई, १९१७) और उसकी माधवचन्द्रकृत टीका इस ग्रंथसमूह की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। प्रस्तुत 'जम्बूदीवपण्णत्तिसंगह' भी इसी शाखा का एक ग्रंथ है जिसे यहां एक प्रामाणिक पाठ संशोधन, हिन्दी अनुवाद व परिशिष्टों आदि सहित ग्रंथमाला के इस पुष्प के रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है। (देखिये जं. दी. प. सं. इंडियन हिस्टॉरीकल कार्टर्ली, कलकत्ता, १४, सन् १९३८ पृ. १८८ आदि)

२ जं. दी. प. सं. की हस्तलिखित प्रतियां

इस ग्रंथ की बहुत थोड़ी प्राचीन प्रतियां पुस्तकालयोंमें पाई जाती हैं (देखिये जिनरत्नकोश, पूना १९४४, पृ. १३१)। किन्तु फिर भी सम्पादकों को कुछ अन्य प्रतियां अनपेक्षित स्थानों से प्राप्त करनेमें सफलता मिली है। इन प्राचीन प्रतियोंका वर्णन निम्न प्रकार है:—

१. ग्रन्थकी प्रेसकापी शोलापुर प्रतिके आधारसे करायी गयी थी। यह प्रति वैशाख शुक्ला १ संवत् १९७१ में लिखी गयी है। इसमें लिपिकारका नाम आदि नहीं है। पत्र संख्या उसकी ८२ है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल दि. जैन पाठशालासे प्राप्त हुई थी। इसका उल्लेख टिप्पणमें पाठभेद देते समय श प्रतिके नामसे किया गया है।

२. दूसरी प्रति 'भाण्डारकर ओरिएण्टल इंस्टीटयूट पूनासे प्राप्त हुई थी। इसमें नौवां और दसवां ये २ उद्देश पूर्णतया त्रुटित हैं। इसके अतिरिक्त उसमें ११ वें उद्देशकी भी २९० गाथायें अनुपलब्ध हैं। इस प्रतिका निर्देश पाठभेद देनेमें प प्रतिके नामसे हुवा है।

३. तीसरी प्रति उस्मानाबादकी है। इसकी पत्र संख्या ९९ है। यह श्रावण कृष्णा द्वादशी मंगलवार सं. १९६० में लिखी गयी है। प्रति लेखकने अपने नाम आदिका निर्देश नहीं किया है। इसकी तथा शोलापुर प्रतिकी आधारभूत कोई एक ही प्रति रही है, ऐसा हम अनुमान करते हैं। इसका उल्लेख टिप्पणमें उ प्रतिके नामसे हुआ है।

४. चौथी प्रति श्री ऐ. पन्नालाल जैन सरस्वती भवन, बम्बई की है। इसकी पत्र संख्या १०२ है। यह आगरा जिलाके अन्तर्गत मोमदी ग्रामवासी किसी पीतांबरदास नामक वैश्यके द्वारा माघ सुदी १० रविवार (संवत्का निर्देश नहीं है) को लिखी गयी है। इसका उल्लेख टिप्पणमें ब प्रतिके नामसे किया गया है। इसकी तथा पूनाकी प्रतिकी आधारभूत भी कोई एक ही प्रति रही है, ऐसा इन दोनों प्रतियोंके पाठभेदोंकी समानताको देखते हुए निश्चित-सा प्रतीत होता है।

५. पांचवीं प्रति कारंजा बलात्कार भण्डारसे प्राप्त हुई है। इसकी पत्र संख्या ५९ है। यह प्रति चैत्र शुक्ला तृतीया संवत् १७८६ में लिखकर पूर्ण की गयी है। इसके लिखनेमें जितने भागमें स्याहीका उपयोग हुआ है उतना कागजका भाग अत्यन्त जीर्ण हो गया है, स्याहीके उपयोगसे रहित हांसियेका भाग उसका बहुत अच्छा है। यह प्रति हमें मुद्रणकार्यके प्रारम्भ हो चुकनेके पश्चात् प्राप्त हो सकी है। अत एव उसका उपयोग क प्रतिके नामसे केवल अन्तिम ५ उद्देशों (९–१३) में ही किया जा सका है।

यद्यपि उपर्युक्त सभी प्रतियां प्रायः अशुद्धिप्रचुर और यत्र तत्र स्खलित भी हैं, फिर भी उनमें कारंजा प्रति अपेक्षाकृत शुद्ध कही जा सकती है। लिपि उसकी सुवाच्य और आकर्षक भी है।

ग्रन्थके पूर्णतया मुद्रित हो जानेपर हमें एक प्रति श्री वीर-सेवा-मंदिरके विद्वान् पं. परमानन्दजी

शास्त्रीकी कृपासे प्राप्त हुई है। यह प्रति पण्डितजी के द्वारा ऐ. पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी प्रतिके आधारसे लिखी गई है। इसके ऊपर उन्होंने आमेर प्रति (ज्येष्ठ शुक्ला ५ वि. संवत् १५१८) से मिलान करके कुछ महत्त्वपूर्ण पाठभेदोंका निर्देश किया है। मुद्रित ग्रन्थसे मिलान कर उनकी एक तालिका परिशिष्ट (पृ. ४६–५२) पर दे दी गयी है। पाठभेदोंकी अपेक्षा इस (आमेर प्रति) में और कारंजा प्रतिमें बहुत कुछ समानता पायी जाती है।

उपर्युक्त पांचों प्रतियां यत्र तत्र त्रुटित एवं अशुद्धिपूर्ण रही हैं। इस कारण संशोधनके लिये किसी एक प्रतिको आदर्श मानकर चलना अथवा कोई विशेष नियम बनाना और तदनुसार शब्दशः या तत्त्वतः अनुसरण करना कठिन काम था। फिर भी मूलमें एक अर्थपूर्ण पाठभेद देनेका प्रयत्न किया गया है। जहां प्रतियोंके पाठके अनुसार अनुवाद करना शक्य नहीं प्रतीत हुआ वहां प्रतियोंके पाठभेदका टिप्पणमें निर्देश कर सम्भावित शुद्ध पाठ देनेका प्रयत्न किया गया है। सन्दर्भ, अर्थ और उपलब्ध साधनसामग्रीके आधारसे पाठका निर्णय यथाशक्ति पूर्ण सावधानीसे किया गया है।

आशा है कि इस सम्पादन के द्वारा फिर हाल इस विषयके अध्ययन और अनुसन्धानका काम चल जायगा।

प्रतियोंपर प्रायः इस ग्रंथका नाम ' जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ' अंकित पाया जाता है। किन्तु उद्देशोंकी पुष्पिकाओंके उल्लेखानुसार ग्रंथका ठीक पूरा नाम ' जंबूदीवपण्णत्तिसंगह ' (जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-संग्रह) है। ' संग्रह ' शब्दसे यह सूचित होता है कि ग्रंथकारने किसी अन्य प्राचीन स्रोतसे अपने विषयका संकलन किया है। गाथा १–६ और ८ तथा १३–१४२ से ध्वनित होता है कि वह स्रोत ' दीव-सागर-पण्णत्ति ' नामका ग्रंथ था। महावीर तीर्थंकरके उपदेशोंके आधारपर उनके गणधरों द्वारा निर्मित श्रुताङ्गोंमेंसे बारहवें अंग दृष्टिवादके प्रथम भाग ' परिकर्म ' के भीतर गिनाई गई पांच ' प्रज्ञप्तियों ' में चौथे स्थानपर यह नाम पाया जाता है:– चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, **द्वीप-सागरप्रज्ञप्ति** और व्याख्याप्रज्ञप्ति। क्या उक्त उल्लेखका इस श्रुतरचनासे कोई संबंध है, यह अन्य प्रमाणोंके अभावमें कुछ कहा नहीं जा सकता।

३ ग्रंथका विषय

इस ग्रंथमें सब मिलाकर २४२९ गाथायें व १३ उद्देश हैं। प्रत्येक उद्देशकी पुष्पिकामें उस उद्देशके विषयका सुस्पष्टतासे निर्देश पाया जाता है जो इस प्रकार है:—

(१) उपोद्‌घात प्रस्ताव (२) भरतैरावतवर्णन (३) पर्वत-नदी-भोगभूमि वर्णन (४) महाविदेहाधिकार (५) मंदरगिरि-जिनभवनवर्णन (६) देवकुरु-उत्तरकुरु-विन्यास प्रस्ताव (७) कच्छाविजयवर्णन (८) पूर्वविदेहवर्णन (९) अपरविदेहवर्णन (१०) लवणसमुद्रवर्णन (११) बहिरुपसंहारद्वीप-सागर-नरकगति-देवगति-सिद्धक्षेत्रवर्णन (१२) ज्योतिर्लोकवर्णन और (१३) प्रमाणपरिच्छेद।

१. प्रथम उद्देशमें केवल ७४ गाथायें हैं। यहां सर्व प्रथम ६ गाथाओंमें क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु परमेष्ठियोंकी वन्दना करके द्वीप-सागरप्रज्ञप्तिके रचनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। तत्पश्चात् गा. ७ में सर्वज्ञका नामस्मरण और गा. ८ में वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार करके श्रुत-गुरुपरिपाटीके अनुसार कथन करनेकी इच्छा प्रगट करते हुए तदनुसार ही आगे चलकर बतलाया है कि विपुलाचलपर स्थित भगवान् वर्धमान जिनेन्द्रने जो प्रमाण-नयसंयुक्त अर्थ गौतम गणधरके लिये कहा था उसे ही उन गौतम गणधरने सुधर्म (अपर नाम लोहार्य) गणधरको तथा इन्होंने जंबू स्वामीको कहा। ये तीनों अनुबद्ध केवली थे।

तत्पश्चात् (१) नन्दी (२) नन्दिमित्र (३) अपराजित (४) गोवर्धन और (५) भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली हुए। तत्पश्चात् (१) विशाखाचार्य (२) प्रोष्ठिल (३) क्षत्रिय (४) जय (५) नाग (६) सिद्धार्थ (७) धृतिषेण (८) विजय (९) बुद्धिल्ल (१०) गंगदेव और (११) धर्मसेन ये दस पूर्वोंके ज्ञाता हुए। फिर (१) नक्षत्र (२) यशपाल (३) पाण्डु (४) ध्रुवषेण और (५) कंसाचार्य ये पांच ग्यारह अंगोंके धारी हुए। तत्पश्चात् (१) सुभद्र (२) यशोभद्र (३) यशोबाहु और (४) लोहाचार्य ये चार आचारांगके धारक हुए। इतनी मात्र श्रुतधारकोंकी परम्पराका निर्देश करके ग्रन्थकार आचार्यपरम्परासे प्राप्त द्वीप-सागरप्रज्ञप्तिके कहनेकी पुनः प्रतिज्ञा करते हैं।

आगे चलकर पच्चीस कोड़ाकोड़ि उद्धार पल्य प्रमाण समस्त द्वीप-सागरोंके मध्यमें स्थित जम्बूद्वीपके विस्तार, परिधि और क्षेत्रफलका निर्देश करके उसकी जगती (वेदिका) का वर्णन करते हुए बतलाया है कि उसके विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक चार गोपुर द्वारोंपर क्रमशः इन्हीं नामोंके धारक प्रभावशाली चार देव स्थित हैं। यहां इनमेंसे प्रत्येकके बारह हजार योजन प्रमाण लंबे-चौड़े नगर हैं। जम्बूद्वीपमें ७ क्षेत्र, १ मन्दर पर्वत, ६ कुल पर्वत, २०० कांचन पर्वत, ४ यमक पर्वत, ४ नाभिगिरि, ३४ वृषभगिरि, ३४ विजयार्ध, १६ वक्षार पर्वत और ८ दिग्गज पर्वत स्थित हैं। इन सबके अलग अलग वेदियां व वनसमूह भी हैं। जम्बूद्वीपमें स्थित नदियोंकी संख्या १४५६०९० बतलायी है। पश्चात् नदीतट, पर्वत, उद्यानवन, दिव्य भवन, शाल्मलि वृक्ष और जम्बू वृक्ष आदिके ऊपर स्थित जिनप्रतिमाओंको नमस्कार करके अन्तमें ग्रन्थकर्ता श्री पद्मनन्दिने जिनेन्द्रसे बोधिकी याचना कर इस उद्देशको समाप्त किया है।

२. दूसरे उद्देशमें २१० गाथायें हैं। यहां क्षेत्रविभागका वर्णन करते हुए बतलाया है कि जंबूद्वीपमें क्रमशः भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये ७ क्षेत्र तथा क्रमशः इनका विभाग करनेवाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये छह कुलपर्वत स्थित हैं। जंबूद्वीपके गोलाकार होनेसे इसमें स्थित उन क्षेत्र-पर्वतोंमें क्षेत्रसे दूना पर्वत और उससे दूना विस्तृत आगेका क्षेत्र है। यह क्रम उसके मध्यमें स्थित विदेह क्षेत्र तक है। इस क्षेत्रसे आगेके पर्वतका विस्तार आधा है और उससे आधा विस्तार आगेके क्षेत्रका है। यह क्रम अन्तिम ऐरावत क्षेत्र तक है। इस प्रकार जंबूद्वीपके १९० खण्ड (भरत १+ हिमवान् २+ हैमवत ४+ महाहिमवान् ८+ हरिवर्ष १६+ निषध ३२+ विदेह ६४+ नील ३२+ रम्यक १६+ रुक्मि ८+ हैरण्यवत ४+ शिखरी २+ और ऐरावत १=१९०) हो गये हैं। इनमेंसे अभीष्ट क्षेत्र या पर्वतका विस्तार जाननेके लिये जंबूद्वीपके विस्तार (१००००० योजन) में १९० का भाग देकर लब्धको विवक्षित क्षेत्र या पर्वतके खण्डोंसे गुणित करना चाहिए। गोल क्षेत्रके विभागभूत होनेसे इन क्षेत्रों और पर्वतोंका आकार धनुष जैसा हो गया है। यहां धनुषपृष्ठ, बाहु (दीर्घ धनुषमेंसे ह्रस्व धनुषको कम करनेपर शेष क्षेत्रका अर्ध भाग), जीवा, चूलिका (दीर्घ जीवामेंसे ह्रस्व जीवाको कम करनेपर शेष क्षेत्रका अर्ध भाग) और बाणका प्रमाण लानेके लिये गणितसूत्र दिये गये हैं।

विजयार्धका वर्णन करते हुए वहां उसकी दक्षिण श्रेणिमें पचास और उत्तरश्रेणिमें साठ विद्याधर नगरोंका निर्देश करके गाथा ४० में उनकी सम्मिलित संख्या २०० बतलायी है जो विचारणीय है। कारण कि उपर्युक्त कथनके अनुसार ही वह संख्या ५०+६०=११० होनी चाहिये। यदि इसमें ऐरावत क्षेत्रस्थ विजयार्ध पर्वतके भी नगरोंकी संख्या सम्मिलित कर ली जाती है तो वे २२० नगर होने चाहिये।

यहां विजयार्ध पर्वतके वर्णनमें उसके ऊपर स्थित ९ कूटोंका नामनिर्देश करके उनके ऊपर स्थित जिनभवनों और देवभवनोंका तथा उद्यानवनोंका भी वर्णन किया है। उक्त पर्वतके दोनों ओर तिमिस्र

ओर खण्डप्रपात नामकी दो गुफायें हैं। इन्हीं गुफाओंके भीतरसे आकर गंगा और सिंधू नदियां दक्षिण भरतमें प्रविष्ट होती हैं। आगे जाकर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके भेदोंका उल्लेख करते हुए सब विदेहक्षेत्रों, पांच म्लेच्छखण्डों और सब विद्याधरनगरोंमें एक चतुर्थ काल वर्तमान बतलाया है। देवकुरु व उत्तरकुरुमें प्रथम, हैमवत व हैरण्यवत क्षेत्रोंमें तृतीय, तथा हरिवर्ष व रम्यक क्षेत्रोंमें द्वितीय काल ही सदा रहता है। प्रसंग पाकर यहां इन कालोंमें होनेवाली आयु, उत्सेध और भोजन आदिका नियम भी बतलाया गया है। कौन जीव किन परिणामोंसे भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं, इसका विवरण करते हुए उन भोगभूमियोंमें प्रथम चार गुणस्थान बतलाये हैं।

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित नगेन्द्र (स्वयंप्रभ) पर्वत तक असंख्यात द्वीपोंमें युगल रूपमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच जीव रहते हैं। काल यहांपर सदा तीसरा (सुषम-दुषमा) ही रहता है। नगेन्द्र पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण द्वीप एवं स्वयम्भूरमण समुद्रमें दुःषमाकाल, देवोंमें सुषम-सुषमा, नारकियोंमें अतिदुःषमा तथा तिर्यंचों व मनुष्योंमें छहों कालोंके रहनेका उल्लेख किया गया है। अन्तमें उक्त छहों कालोंके स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए इस उद्देशको समाप्त किया गया है।

३. तृतीय उद्देशमें २४६ गाथायें हैं। यहां हिमवान् और शिखरी, महाहिमवान् और रुक्मि, तथा निषध और नील कुलाचलोंके विस्तार, जीवा, धनुपपृष्ठ, पार्श्वभुजा और चूलिकाका प्रमाण बतला कर उनके ऊपर स्थित कूटोंके नामोंका निर्देश किया गया है। इन कूटोंके ऊपर जो भवन स्थित हैं उनका भी यहां वर्णन किया है। तत्पश्चात् हिमवान् और महाहिमवान् आदि छह कुलपर्वतोंके ऊपर जो पद्म और महापद्म आदि तालाब हैं उनमें स्थित कमलभवनोंपर निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी इन छह देवियोंकी विभूतिका निरूपण है। पद्मह्रदमें स्थित समस्त कमलभवन १४०११६ हैं। जम्बू और शाल्मलि वृक्षोंके ऊपर जो भवन स्थित हैं उनसे इनकी संख्याकी समानताका उल्लेख करके यहां इन वृक्षोंके अधिपति देवोंकी चार महिषियोंके चार भवन अधिक (१४०१२०) बतलाये गये हैं। यहां जो जिनभवन पाये जाते हैं उनका भी उल्लेख कर दिया है।

हिमवान् पर्वतके मध्यमें जो पद्मद्रह स्थित है उसके पूर्वाभिमुख तोरण द्वारसे गंगा महानदी निकली है। वहांसे निकलकर यह नदी हिमवान् पर्वतके ऊपर पूर्वकी ओर ५०० योजन जाकर फिर दक्षिणकी ओर मुड़ जाती है। इस प्रकार पर्वतके अन्त तक जाकर वहां जो वृषभाकार नाली स्थित है उसमें प्रविष्ट होती हुई वह पर्वतके नीचे स्थित कुण्डमें गिरती है। यह गोलकुण्ड ६२½ योजन विस्तृत और १० योजन गहरा है। इसके बीचोंबीच एक ८ योजन विस्तृत द्वीप और उसके भी मध्यमें एक पर्वत है। इसके ऊपर गंगादेवीका गंगाकूट नामक प्रासाद है। गंगा नदीकी धारा उन्नत भवनके शिखरपर स्थित जिनप्रतिमाके ऊपर पड़ती है। फिर यहांसे निकलकर वह गंगा नदी दक्षिणकी ओर जाकर विजयार्धकी गुफामेंसे जाती हुई पूर्व समुद्रमें गिरती है। प्रसंगानुसार यहां गंगादिक नदियोंकी धारा, कुण्ड, कुण्डद्वीप, कुण्डस्थ पर्वत, तदुपरिस्थ भवन और तोरण आदिकोंके विस्तारादिकी भी प्ररूपणा की गई है।

अन्तमें हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक और हैरण्यवत इन चार क्षेत्रोंके मध्यमें स्थित नाभिगिरि पर्वतोंका वर्णन करते हुए इन क्षेत्रोंमें प्रवर्तमान कालोंका पुनः निर्देश करके भोगभूमियोंकी व्यवस्थाका भी पुनरुल्लेख किया गया है।

४. चतुर्थ उद्देशमें २९२ गाथायें हैं। यहां सुदर्शन मेरुका कथन करते हुए प्रारम्भकी ३–९ गाथाओंमें जो लोकका स्वरूप बतलाया गया है वह स्पष्ट नहीं हुआ है। आगे उक्त लोकका विस्तार व ऊंचाई

आदिका कथन है जो प्राय: सभी ग्रन्थोंमें समान रूपसे पाया जाता है। इस लोकके बहुमध्य भागमें स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है और उसके मध्यमें विदेह क्षेत्रके भीतर मन्दर पर्वत है। उसका विस्तार पातालतलमें १००९० $\frac{१०}{११}$ यो., पृथिवीतलके ऊपर (भद्रशाल वनमें) १०००० यो., और ऊपर शिखरपर (पाण्डुक वनमें) १००० यो. है। यह मूल भागमें १००० यो. वज्रमय, मध्यमें ६१००० यो. मणिमय और ऊपर ३८००० यो. सुवर्णमय है।

यहां मेरु पर्वतकी परिधि आदिका निर्देश करते हुए बतलाया है कि मेरुका भद्रशाल नामका प्रथम वन पूर्व-पश्चिममें २२००० यो. विस्तृत है। इसके मध्यमें १०० यो. आयत, ५० यो. विस्तृत और ७५ यो. ऊंचे ४ जिनभवन हैं। उनके द्वारोंकी उंचाइ ८ यो., विस्तार ४ यो., और विस्तारके समान प्रवेश भी ४ ही यो. है। इनकी पीठिकायें १६ यो. दीर्घ और ८ यो. ऊंची हैं। उनमें स्थित जिनप्रतिमाओंकी उंचाई ५०० धनुष है। नन्दीश्वर द्वीपमें स्थित ५२ जिनभवनोंकी भी रचनाका यही क्रम है। नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वनोंमें स्थित जिनभवनोंका विस्तारादि उक्त जिनभवनोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर आधा आधा है।

मेरुके ऊपर पृथिवीतलसे ५०० यो. ऊपर जाकर नन्दन वन, ६२५०० यो. ऊपर सौमनस वन और ३६००० यो. ऊपर पाण्डुक वन स्थित है। इनमेंसे पाण्डुक वनके मध्यमें ४० यो. ऊंची वैडूर्यमणिमय चूलिका है। इसका विस्तार मूलमें १२ यो., मध्यमें ८ यो. और शिखरपर ४ यो. है। चूलिकाके ऊपर एक बाल मात्रके अन्तरसे सौधर्म कल्पका प्रथम ऋतु विमान स्थित है। पाण्डुक वनके भीतर ईशान दिशा (पूर्वोत्तर कोण) में पाण्डुकशिला, आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) दिशामें पाण्डुककंबला, नैऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) कोणमें रक्तकंबला और वायव्य (उत्तर-पश्चिम) कोणमें रक्तशिला; ये ५०० यो. आयत, २५० यो. विस्तृत व ४ यो. ऊंची ४ शिलायें स्थित हैं। प्रत्येक शिलाके ऊपर ५०० धनुष आयत, २५० धनुष विस्तृत और ५०० धनुष ऊंचे ३-३ पूर्वाभिमुख सिंहासन स्थित हैं। इनमेंसे मध्यका जिनेंद्रोंका, दक्षिण पार्श्वभागमें स्थित सौधर्म इन्द्रका और वाम पार्श्वभागमें स्थित सिंहासन ईशानेन्द्रका है। ईशान दिशामें स्थित पाण्डुक शिलाके ऊपर भरतक्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरोंका, आग्नेय कोणमें स्थित पाण्डुककंबला शिलाके ऊपर अपरविदेहोत्पन्न तीर्थंकरोंका, नैऋत्य कोणमें स्थित रक्तकंबला शिलाके ऊपर ऐरावतक्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरोंका और वायव्य कोणमें स्थित रक्त शिलाके ऊपर पूर्वविदेहोत्पन्न तीर्थंकरोंका जन्माभिषेक चतुर्निकायके देवों द्वारा किया जाता है। प्रसंग पाकर यहां सौधर्मेन्द्रकी सप्तविध सेना और ऐरावत हाथीका भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

५. पांचवें उद्देशमें १२५ गाथायें हैं। यहां मन्दर पर्वतस्थ जिनेन्द्रभवनोंका वर्णन करते हुए बतलाया है कि त्रिभुवनतिलक नामक जिनेन्द्रभवनकी गन्धकुटी ७५ यो. ऊंची, ५० यो. आयत और इतनी ही विस्तृत है। उसके द्वार १६ यो. ऊंचे, ८ यो. विस्तृत और विस्तारके बराबर (४ यो.) प्रवेशसे सहित हैं (गा. २-४ यहां असम्बद्धसी प्रतीत होती हैं)। मन्दर पर्वतके भद्रशाल नामक प्रथम वनमें चारों दिशाओंमें ४ जिनभवन हैं। इनका आयाम १०० यो., विस्तार इससे आधा (५० यो.), ऊंचाई ७५ यो. और अवगाह आधा योजन (२ कोस) है। इन जिनभवनोंमें पूर्व, उत्तर और दक्षिणकी ओर ३ द्वार हैं। ये द्वार ८ यो. ऊंचे और इससे आधे विस्तृत हैं। इन जिनभवनोंमें पूर्व-पश्चिममें ८००० मणिमालायें और इनके अन्तरालोंमें २४००० सुवर्णमालायें लटकती हैं। द्वारोंमें कर्पूरादि सुगन्धित द्रव्योंसे संयुक्त २४००० धूपघट हैं। सुगन्धित मालाओंके अभिमुख ३२००० रत्नकलश हैं। बाह्य भागमें ४००० मणिमालायें, १२००० सुवर्णमालायें, १२००० धूपघट और १६००० कंचनकलश हैं।

उन जिनभवनोंके पीठ १६ यो. से कुछ अधिक आयत, ८ यो. से कुछ अधिक विस्तृत और २ यो. ऊंचे हैं। यहांकी सोपानपंक्तियां १६ यो. लंबी, ८ यो. विस्तृत, ६ यो. ऊंची और २ गव्यूति अवगाहवाली हैं। इन सोपानोंकी संख्या १०८ है। उनमेंसे एक एक सोपानकी उंचाई कुछ अधिक ५५ से कम ५०० धनुष (६ यो. ÷ १०८ = ४४४$\frac{४}{९}$ धनुष) है। उन पीठोंकी वेदियां २ कोस ऊंची और ५०० धनुष विस्तृत हैं। वहां स्थित देवच्छंद नामक गर्भगृह स्फटिकमणिमय भित्तियोंसे सहित; वैडूर्यमणिमय खंभोंसे संयुक्त और ३ सोपानोंसे युक्त हैं। इन भवनोंमें विराजमान अनादि-निधन जिनेन्द्रप्रतिमायें ५०० धनुष ऊंची और उत्तम लक्षण-व्यंजनोंसे परिपूर्ण हैं। एक एक जिनभवनमें १०८–१०८ जिनप्रतिमायें हैं। इनमें प्रत्येक प्रतिमाके साथ १०८–१०८ प्रातिहार्य होते हैं।

यहां उक्त जिनभवनोंके भीतर सिंहादिक चिह्नोंसे सुशोभित दस प्रकारकी ध्वजाओं, मुखमण्डप, प्रेक्षागृह, सभागृह, स्तूप, चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और वन-वापियों आदिका भी वर्णन किया गया है।

इन जिनभवनोंमें चार प्रकारके देव अपनी अपनी विभूतिके साथ आकर अष्टाह्निक दिवसोंमें पूजा करते हैं। इस वर्णनमें यहां आनेवाले सौधर्मादिक १६ इन्द्रोंके नामोंका उल्लेख किया गया है, जो दोनों सम्प्रदायगत १२ इन्द्रोंकी मान्यताके विरुद्ध है। उक्त इन्द्रोंके यान-विमान क्रमशः ये हैं– १ गज, २ वृषभ, ३ सिंह, ४ तुरग, ५ हंस, ६ वानर, ७ सारस, ८ मयूर, ९ चक्रवाक, १० पुष्पक विमान, ११ कोयल विमान, १२ गरुड़ विमान, १३ (आनतेन्द्रके यानविमानका निर्देश गा. १०५ में होना चाहिये था जो नहीं हुआ है) १४ कमल विमान १५ नलिन विमान और १६ कुमुद विमान। इनके हाथोंमें उस समय निम्न सामग्री रहती है– १ वज्र, २ त्रिशूल, ३ असि, ४ परशु, ५ मणिदण्ड, ६ पाश, ७ कोदण्ड, ८ कमलकुसुम, ९ पूगफलोंका गुच्छा, १० गदा, ११ तोमर, १२ हल-मूसल, १३ सित कुसुममाला, १४ कमलमाला, १५ चम्पकमाला और १६ मुक्तादाम।

६. छठे उद्देशमें १७८ गाथायें हैं। यहां देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रोंका वर्णन किया गया हैं। उत्तरकुरु क्षेत्र मेरु पर्वतके उत्तर और नील पर्वतके दक्षिणमें है। इसके पूर्वमें माल्यवान् पर्वत और पश्चिममें गन्धमादन शैल है। उसका विस्तार ११८४२$\frac{२}{१९}$ यो. है। वहां नील पर्वतके दक्षिणमें १००० यो. जाकर सीता नदीके उभय तटोंपर २ यमक पर्वत हैं। इन दोनों पर्वतोंके बीच ५०० यो. का अन्तर है। नील पर्वतके दक्षिणमें २५०० यो. जाकर सीता नदीके मध्यमें नीलवान्, उत्तरकुरु, चन्द्र, ऐरावत और माल्यवान् नामके ५ द्रह हैं। इनकी लम्बाई १००० यो., चौड़ाई ५०० यो. और गहराई १० यो. है। इनके भीतर स्थित कमलभवनोंमें द्रह जैसे नामवाली नागकुमारी देवियां सपरिवार निवास करती हैं। यहां कमलोंकी संख्या आदि पद्मद्रहके समान है। इन द्रहोंके पूर्व-पश्चिम पार्श्वभागोंमें १०-१० कांचन शैल स्थित हैं। पांचों द्रहों सम्बन्धी कांचन शैलोंकी संख्या १०० है।

उत्तरकुरुके मध्यमें मेरुके उत्तर-पूर्व कोणमें सुदर्शन नामक जम्बूवृक्ष स्थित है। इसकी पूर्वादिक चारों दिशाओंमें चार विस्तृत शाखायें हैं। इनमें उत्तरकी शाखापर जिनेन्द्रभवन और शेष तीन शाखाओंपर जम्बूद्वीपके अधिपति अनादृत यक्षके भवन हैं। इसके परिवार वृक्षोंकी संख्या १४०११९ है।

मंदर पर्वतके दक्षिण पार्श्वभागमें देवकुरु क्षेत्र है। इसके पूर्वमें सौमनस तथा पश्चिममें विद्युत्प्रभ नामक गजदन्त पर्वत स्थित हैं। यहां भी निषध पर्वतके उत्तरमें १००० यो. जाकर सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर चित्र और विचित्र नामके २ यमक पर्वत हैं। इनके आगे ५०० यो. जाकर सीतोदा नदीके मध्यमें

निपधद्रह, देवकुरु, सूर, सुरस और विद्युत्तेज नामके ये ५ द्रह हैं। इनमें स्थित कमलभवनोंपर रहनेवाली नागकुमार देवियोंके नाम ये हैं— निषधकुमारी, देवकुरुकुमारी, सूरकुमारी, सुलसा और विद्युत्प्रभकुमारी। इनके परिवार देवोंके भवनोंका वर्णन करते हुए यहां दिशाओं और विदिशाओंके निर्देशक निम्न शब्दोंका प्रयोग किया गया है – सिंह, श्वान, धय, सिंह, वृषभ, गज, खर, गज, ढंख (ध्वांक्ष), धय, धूम, सिंह, मंडल, गोपति, खर, नाग और ढंख। इन शब्दोंका प्रयोग उक्त अर्थमें कहीं अन्यत्र देखनेमें नहीं आया।

प्रत्येक द्रहके पूर्व-पश्चिम दोनों पार्श्वभागोंमें दस दस कंचन शैल हैं। यहां देवकुरु क्षेत्रमें मंदर पर्वतकी उत्तर दिशामें सीतोदा नदीके पश्चिम तटपर स्वाति नामका शाल्मलि वृक्ष स्थित है। इसका वर्णन जम्बू वृक्षके समान है। इन देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रोंमें युगल-युगल रूपसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य तीन पल्योपम प्रमाण आयुसे संयुक्त और तीन कोस ऊंचे होते हैं। आहार वे तीन दिनके पश्चात् करते हैं, वह भी बेरके बराबर। उनमें नपुंसक वेद नहीं होता– सभी स्त्री और पुरुष वेदवाले ही होते हैं। वे मरकर नियमतः देवोंमें ही जन्म लेते हैं।

(७) सातवें उद्देशमें १५३ गाथायें हैं। इसमें विदेह क्षेत्रका वर्णन किया गया है। यह क्षेत्र निषध व नील कुलपर्वतोंके बीचमें स्थित है। विस्तार उसका ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ यो. प्रमाण है। इसके बीचमें सुमेरु पर्वत और उससे संलग्न चार दिग्गज पर्वत हैं। इस कारण वह पूर्वविदेह और अपरविदेह रूप दो भागोंमें विभक्त हो गया है। बीचमें सीता और सीतोदा महानदियोंके बहनेके कारण प्रत्येकके और भी २-२ भाग हो गये हैं। उक्त चार भागोंमेंसे प्रत्येक भागके मध्यमें ४ वक्षार पर्वत और उनके भी बीचमें ३ विभंगा नदी हैं। इस कारण उनमेंसे प्रत्येकके भी ८-८ भाग हो गये हैं। इस प्रकार ये ३२ भाग ही ३२ विदेहके रूपमें प्रसिद्ध हैं।

इनमें नील पर्वतके दक्षिण, सीता नदीके उत्तर, उत्तरकुरुके पूर्व और चित्रकूट वक्षारके पश्चिम भागमें कच्छा विजय स्थित है। इसका विस्तार नील पर्वतके पासमें ७२३३ $\frac{१}{२}$ $\frac{१}{१९}$ यो. और सीता नदीके तटपर २२१२ $\frac{७}{८}$ यो. है। इसके बीचोंबीच विजयार्ध पर्वत स्थित है। यहां रक्ता और रक्तोदा नामकी दो नदियां नील पर्वतस्थ कुण्डोंसे निकल कर विजयार्धकी गुफाओंके भीतरसे जाती हुई सीता महानदीमें प्रविष्ट होती हैं। इस कारण उक्त कच्छा विजय ६ खण्डोंमें विभक्त हो गया है। इनमें सीता नदीकी ओर बीचका आर्यखण्ड तथा शेष पांच म्लेच्छ खण्ड कहे गये हैं। आर्यखण्डके बीचमें क्षेमा नामकी नगरी स्थित है। इसका आयाम १२ यो. और विस्तार ९ यो. प्रमाण है। प्राकारपरिवेष्टित उक्त नगरीके १००० गोपुरद्वार और ५०० खिड़कीद्वार हैं। रथ्याओंकी संख्या १२ हजार निर्दिष्ट की गयी है। यहां चक्रवर्तीका निवास है जो ३२ हजार देशोंके अधिपतियोंका स्वामी होता है। इसके अधीन ९९ हजार द्रोणमुख, ४८ हजार पट्टन, २६ हजार नगर, ५००–५०० ग्रामोंसे संयुक्त ४००० मडंब, ३४ हजार कर्वट, १६ हजार खेट, १४ हजार संवाह, ५६ रत्नद्वीप और ९६ करोड़ ग्राम होते हैं। यहां क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण हैं, ब्राह्मण वर्ण नहीं है। जैन धर्मके सिवाय अन्य धर्म भी यहां नहीं पाये जाते। तीर्थंकरादि ६३ शलाकापुरुषोंकी परम्परा यहां चलती ही रहती है। यह कच्छा विजयका वर्णन हुआ। ठीक यही वर्णनक्रम महाकच्छा आदि शेष ३१ विजयोंका भी समझना चाहिये।

कच्छा विजयके रक्ता-रक्तोदा नदियोंसे अन्तरित मागध, वरतनु और प्रभास नामके तीन द्वीप हैं। इन तीनों द्वीपोंके अधिपति देव अपने अपने द्वीपके ही नामसे प्रसिद्ध हैं। दिग्विजयमें प्रवृत्त हुआ चक्रवर्ती प्रथमतः इन द्वीपोंके अधिपति देवोंको अपने अधीन करता है। इसी प्रकारसे दक्षिणकी ओरके देव-विद्याधरोंको

वशमें करके वह विजयार्ध पर्वतकी गुफामेंसे जाकर उत्तरके म्लेच्छ खण्डोंको भी अपने अधीन करता है। उस समय म्लेच्छ राजाओंकी प्रार्थनापर मेघमुख नामका देव चक्रवर्तीकी सेनापर घोर उपसर्ग करता है, फिर भी चक्रवर्तीके प्रभावसे उसमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं होता। इस समय समस्त सैन्यका रक्षण चर्मरत्न और छत्ररत्न के द्वारा होता है। अन्तमें वह इन म्लेच्छ राजाओंपर केवल विजय ही प्राप्त नहीं करता, बल्कि उनके द्वारा हाथी और घोड़ों आदिके साथ ही अनेक कन्या-रत्नोंसे भी सत्कृत होता है। इस समय उसे यह महान् गर्व होता ह कि मुझ जैसा प्रतापी पृथिवीपर अन्य कोई भी नहीं है। इसी अभिमानसे प्रेरित होकर वह निज कीर्तिस्तम्भको स्थापित करनेके लिये ऋषभगिरिके निकट जाता है। किन्तु यहां समस्त पर्वतको ही नाना चक्रवर्तियोंके नामोंसे व्याप्त देखकर वह तत्क्षण निर्मद हो जाता है। अन्ततः वह दण्ड रत्नसे एक नामको घिसकर वहां अपना नाम लिख देता है। इस प्रकार वह छहों खण्डोंको जीतकर वापिस क्षेमा नगरीमें प्रविष्ट होता है।

(८) आठवें उद्देशमें १९८ गाथायें हैं। यहां पूर्वविदेहका वर्णन करते हुए बतलाया है कि कच्छा देशके पूर्वमें क्रमशः चित्रकूट पर्वत, सुकच्छा देश, ग्रहवती नदी, महाकच्छा देश, पद्मकूट पर्वत, कच्छकावती देश, द्रहवती नदी, आवर्ता देश, नलिनकूट पर्वत, मंगलावर्ता देश, पंकवती नदी, पुष्कला देश, एकशैल पर्वत और महापुष्कलावती देश है। इसके आगे देवारण्य नामका वन है। उक्त सुकच्छा आदि देशोंकी राजधानियोंके नाम क्रमसे ये हैं— क्षेमपुरी, अरिष्टनगरी, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधि और पुण्डरीकिणी। महापुष्कलावती देशसे आगे पूर्वमें देवारण्य नामका वन है।

इसके आगे दक्षिणमें सीता नदीके दक्षिण तटपर दूसरा देवारण्य वन है। इसके आगे पश्चिम दिशामें जाकर क्रमसे निम्न देश, पर्वत और नदियां हैं — वत्सा देश, त्रिकूट पर्वत, सुवत्सा देश, तप्तजला नदी, महावत्सा देश, वैश्रवणकूट पर्वत, वत्सकावती देश, मत्तजला नदी, रम्या देश, अंजनगिरि पर्वत, सुरम्या देश, उन्मत्तजला नदी, रमणीया देश, आत्मांजन पर्वत और मंगलावती देश। इन देशोंकी राजधानियां क्रमशः ये हैं— सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंकावती, पद्मावती, शुभा और *रत्नसंचया नगरी*। इन नगरियोंका वर्णन क्षेमापुरीके समान है। इन सब देशों, नदियों और पर्वतोंकी लम्बाई समान रूपसे १६५९२$\frac{२}{१९}$ यो. मात्र है। समानताका कारण यह है कि इनमेंसे कच्छा-सुकच्छा आदि नील पर्वतकी वेदिकासे लेकर सीता नदीके तट तक तथा वत्सा-सुवत्सा आदि निषधपर्वतकी वेदिकासे लेकर सीता नदीके तट तक आये हुये हैं। अत एव विदेहके विस्तारमेंसे सीता नदीके विस्तारको कम करके शेषको आधा कर देनेपर इनकी लम्बाईका उपर्युक्त प्रमाण आ जाता है। जैसे— ३३६८४$\frac{४}{१९}$ − ५०० ÷ २ = १६५९२$\frac{२}{१९}$।

(९) नौवें उद्देशमें १९७ गाथायें हैं। यहां अपरविदेहका वर्णन करते हुए बतलाया है कि रत्नसंचयपुरके पश्चिममें एक वेदिका और उस वेदिकासे ५०० यो. जाकर सौमनस पर्वत है। यह पर्वत भद्रशाल वनके मध्यसे गया है। निषध पर्वतके समीपमें उसकी उंचाई ४०० यो. और अवगाह १०० यो. है। विस्तार उसका ५०० यो. मात्र है। फिर इसी पर्वतकी उंचाई और अवगाह क्रमशः वृद्धिंगत होकर मंदर पर्वतके समीपमें ५०० और १२५ यो. हो गये हैं। इसकी लम्बाई ३०२०९$\frac{६}{१९}$ यो. है। सौमनस पर्वतसे ५३००० यो. पश्चिममें जाकर विद्युत्प्रभ नामका पर्वत है। इसकी उंचाई आदि सौमनस पर्वतके समान है। इसके पश्चिममें ५०० यो. जाकर एक वेदिका है।

उपर्युक्त वेदिकाके पश्चिममें पद्मा नामका देश है। वह गंगा-सिन्धु नदियों और विजयार्ध पर्वतके कारण ६ खण्डोंमें विभक्त हो गया है। इसकी राजधानी अश्वपुरी है। इस पद्मा क्षेत्रके *आगे पश्चिममें* क्रमशः

श्रद्धावती पर्वत, सुपद्मा देश, क्षारोदा नदी, महापद्मा देश, विकटावती पर्वत, पद्मकावती देश, सीतोदा नदी, शंखा देश, आशीविष पर्वत, नलिना देश, स्रोतोवाहिनी नदी, कुमुदा देश, सुखावह पर्वत और सरिता नामका देश है। सुपद्मा आदि उक्त ७ देशोंकी राजधानियोंके नाम क्रमशः ये हैं— सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका और विगतशोका। इसके पश्चिममें देवारण्य वन है।

इसके उत्तरमें सीतोदा नदीके उत्तर तटपर दूसरा भी देवारण्य है। उसके पूर्वमें क्रमशः निम्न देश, पर्वत और नदियां हैं— वप्रा देश, चन्द्र पर्वत, सुवप्रा देश, गम्भीरमालिनी नदी, महावप्रा देश, सूर (सूर्य) पर्वत, वप्रकावती देश, फेनमालिनी नदी, वल्गु देश, महानाग पर्वत, सुवल्गु देश, ऊर्मिमालिनी नदी, गन्धिला देश, देव पर्वत और गन्धमालिनी देश। इन देशोंकी राजधानियां क्रमसे ये हैं— विजयपुरी, वैजयन्ती जयन्ता, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या और अवध्या। इन सब नगरियोंका वर्णन क्षेमा नगरीके ही समान है।

इसके पूर्वमें एक वेदी और उसके आगे ५०० यो. जाकर गन्धमादन पर्वत है। इसके पूर्वमें ५३००० यो. जाकर माल्यवान् पर्वत है। इसके आगे पूर्वमें ५०० यो. जाकर नील पर्वतके पासमें एक और वेदिका है। नदियोंके किनारेपर स्थित २० वक्षार पर्वतोंके ऊपर जिनभवन हैं जहां देव व विद्याधर जिन-पूजन करते हैं।

(१०) दसवें उद्देशमें १०२ गाथायें हैं। इस उद्देशमें लवणसमुद्रका वर्णन है। यह समुद्र जंबूद्वीपको सब ओरसे घेरकर वलयाकारसे स्थित है। विस्तार इसका पृथिवीतलपर २ लाख योजन और मध्यमें १० हजार यो. है। गहराई एक हजार यो. है। इसके भीतर तटसे ९५ हजार योजन जाकर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरमें क्रमशः रांजनके आकारमें ये चार महापाताल स्थित हैं— पाताल, वलयमुख (वडवामुख), कदम्बक और यूपकेसरी। इनका विस्तार मूलमें और ऊपर १० हजार योजन है। इनके मध्यविस्तार और उंचाईका प्रमाण १ लाख यो. है। इन पातालोंके नीचेके त्रिभाग ($३३३३३\frac{१}{३}$ यो.) में वायु, मध्यम त्रिभागमें जल-वायु और ऊपरके त्रिभागमें केवल जल स्थित है। शुक्ल पक्षमें मध्यम त्रिभागके भीतर उत्पीड़न होनेपर उसका जलभाग ऊपर आ जाता है और वहां केवल वायु ही रह जाती है। इस प्रकारसे समुद्रमें क्रमशः इस पक्षमें जलवृद्धि होती है। कृष्ण पक्षमें इसके विपरीत उसी मध्यम त्रिभागमें उत्तरोत्तर जलकी वृद्धि होनेसे समुद्रमें क्रमशः जलकी हानि होती है। इस क्रमसे पूर्णिमाके दिन लवण समुद्रकी जलशिखाकी उंचाई १६ हजार यो. और अमावस्याके दिन ११ हजार यो. रहती है। उसमें प्रतिदिन $२२२२\frac{२}{९}$ ($३३३३३\frac{१}{३} \div १५ =$) यो. प्रमाण जलकी वृद्धि और हानि हुआ करती है।

इसी प्रकार विदिशाओंमें ४ मध्यम पाताल और अन्तरदिशाओंमें १ हजार जघन्य पाताल भी हैं। जघन्य पाताल दिशा और विदिशागत पातालोंके मध्यमें १२५–१२५ हैं। दिशागत पातालोंकी अपेक्षा विदिशागत मध्यम पातालोंकी तथा इनकी अपेक्षा जघन्य पातालोंकी उंचाई और विस्तार आदि उनके दसवें भाग प्रमाण है। इस प्रकार सब पाताल १००८ हैं।

लवण समुद्रमें वेदिकासे ४२ हजार यो. जाकर वेलंधर देवोंके ८ पर्वत हैं। ये पर्वत पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित पातालोंके दोनों ओर हैं। उनके नाम ये हैं— कौस्तुभ, कौस्तुभभास, उदक, उदकभास, शंख, महाशंख, उदक और उदवास। समुद्रकी वेलाको धारण करनेवाले नागकुमार देवोंकी संख्या १४२००० है। इनमें ७२ हजार देव बाह्य वेलाको, ४२ हजार देव अभ्यन्तर वेलाको और २८ हजार देव जलशिखाको धारण करते हैं। पातालोंके दोनों ओर तथा जलशिखाके ऊपर आकाशमें उक्त देवोंके १४२००० नगर स्थित हैं।

वेदिकासे १२ हजार यो. जाकर वायव्य दिशामें गौतम द्वीप है जो १२ हजार यो. ऊंचा और इतना ही विस्तीर्ण भी है।

इसके अतिरिक्त यहां दिशाओं ४, विदिशाओंमें ४ और इनके अन्तरालमें ८, तथा हिमवान्, शिखरी और २ विजयार्ध इन पर्वतोंके दोनों ओर ८; इस प्रकार ये २४ अन्तरद्वीप हैं। इन द्वीपोंमें एक जंघावाले, पूंछवाले, सींगवाले एवं गूंगे इत्यादि विकृत आकृतिके धारक कुमानुष रहते हैं। इनमें एक जंघावाले कुमानुष गुफाओंमें रहकर मिट्टीका भोजन करते हैं तथा शेष कुमानुष पुष्प-फलभोजी होते हैं। इनके यहां उत्पन्न होनेके कारणोंको बतलाते हुए कहा गया है कि जो प्राणी मंदकषायी होते हैं, कायक्लेशसे धर्मफलको चाहनेवाले हैं, अज्ञानवश पंचाग्नि तपको तपते हैं, सम्यग्दर्शनसे रहित होकर तपश्चरण करते हैं, अभिमानमें चूर होकर साधुओंका अपमान करते हैं, गुरुके पासमें आलोचना नहीं करते हैं, मुनिसंघको छोड़कर एकाकी विहार करते हैं, सब जनोंके साथ कलह करते हैं, जिनलिंगको धारण करके पापाचरण करते हैं, सिद्धान्तको छोड़कर ज्योतिष-मंत्रादिकोंमें विश्वास करते हैं, संयत वेषमें धन-धान्यादिको ग्रहण करते हुए कन्याविवाहादिका अनुमोदन भी करते हैं, मौनसे रहित होकर भोजन करते हैं, तथा सम्यक्त्वकी विराधना करते हैं, वे सब मरकर इन कुमानुषोंमें उत्पन्न होते हैं। इनमें जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे मरकर यहांसे सौधर्मादिक स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं तथा शेष भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं।

(११) इस उद्देशमें ३६५ गाथायें हैं। यहां द्वीप-सागर, अधोलोक तथा ऊर्ध्वलोक वर्णित हैं। द्वीप-सागरोंमें धातकीखण्ड द्वीपका वर्णन करते हुये बतलाया है कि ४ लाख योजन प्रमाण विस्तारवाला यह द्वीप लवण समुद्रको वेष्टित करके स्थित है। इसके दक्षिण और उत्तर भागमें २ इष्वाकार पर्वत हैं जो लवणसे कालोद समुद्र तक आयत हैं। विस्तार उनका एक एक हजार (१०००) यो. है। इनसे धातकीखण्डके दो विभाग हो गये हैं। प्रत्येक विभागमें जंबूद्वीपके समान भरतादिक ७ क्षेत्र और हिमवान् आदि ६ कुलपर्वत स्थित हैं। मध्यमें एक एक मेरु पर्वत है। इनमें हिमवान् पर्वतका समविस्तार २१०५$\frac{५}{१९}$ यो. है। इससे चौगुणा (८४२१$\frac{१}{१९}$) विस्तार महाहिमवान्का और उससे भी चौगुणा (३३६८४$\frac{४}{१९}$) निषध पर्वतका है। आगे नील, रुक्मि और शिखरी पर्वतोंका विस्तार क्रमसे निषध, महाहिमवान् और हिमवान्के समान है। यह धातकीखण्डके एक ओरका पर्वतरुद्ध क्षेत्र हुआ। इतना ही पर्वतरुद्ध क्षेत्र उसके दूसरी ओर भी है। इसमें दो इष्वाकार पर्वतोंका क्षेत्र (२००० यो.) मिला देनेपर सब पर्वतरुद्ध क्षेत्र इतना होता है– २१०५$\frac{५}{१९}$ × {(१ + ४ + १६ + १६ + ४ + १) × २} + १००० + १००० = १७८८४२$\frac{२}{१९}$ यो. होता है।

धातकीखण्ड द्वीपकी आदिम (१५८११३९), मध्यम (२८४६०५०) और बाह्य (४११०९६१) परिधियोंमेंसे उक्त पर्वतरुद्ध क्षेत्रको कम कर देनेपर शेष समस्त भरतादिक विजयोंका क्षेत्र होता है। इसमें २१२ {(भ. १ + हैम. ४ + हरि १६ + विदेह ६४ + र. १६ + हैर. ४ + ऐ. १) × २ = २१२} का भाग देकर लब्धको १, ४ व १६ आदिसे गुणित करनेपर क्रमसे भरत, हैमवत व हरिवर्ष आदि क्षेत्रोंका विस्तार होता है। जैसे– {(१५८११३९ − १७८८४२$\frac{२}{१९}$) ÷ २१२} × १ = ६६१४$\frac{१२९}{२१२}$ भरतका अभ्यन्तर विस्तार। {(२८४६०५० − १७८८४२$\frac{२}{१९}$) ÷ २१२} × १ = १२५८१$\frac{३६}{२१२}$ भरतका मध्यम विस्तार। {(४११०९६१ − १७८८४२$\frac{२}{१९}$) ÷ २१२} × १ = १८५४७$\frac{१५५}{२१२}$ भरतका बाह्य विस्तार। इन

क्षेत्रोंका आकार गाड़ीके पहियेमें स्थित आरोंके मध्यवर्ती क्षेत्रके समान है।

आगे धातकीखण्ड द्वीपको चारों ओरसे वेष्टित करके कालोद समुद्र स्थित है। इसका विस्तार ८ लाख यो. है। लवण समुद्रके समान अन्तरद्वीप यहांपर भी हैं जिनमें कुमानुष रहते हैं। इसके आगे १६ लाख यो. विस्तृत पुष्करवर द्वीप है। इसके बीचोंबीच वलयाकारसे मानुषोत्तर पर्वत स्थित है, जिससे कि इस द्वीपके २ भाग हो गये हैं। मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर पुष्करार्ध द्वीपमें स्थित भरतादिक क्षेत्रों और हिमवान् आदि पर्वतोंकी रचना धातकीखण्ड द्वीपके समान है। यहां पर्वतरुद्ध क्षेत्रका प्रमाण ३५५६८४ $\frac{4}{१९}$ यो. है। पुष्करार्धकी आदिम परिधि ९१७०६०५ यो., मध्यम परिधि ११७००४२७ यो. और बाह्य (मनुष्यक्षेत्रकी) परिधि १४२३०२४९ यो. है। भरतादिक क्षेत्रोंके विस्तारको निकालनेका जो नियम धातकीखण्ड द्वीपमें बतलाया गया है वही नियम यहां भी लागू होता है।

जंबूद्वीपसे लेकर पुष्करार्ध पर्यन्त यह सब क्षेत्र अढ़ाई द्वीप या मनुष्यक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध है। मानुषोत्तर पर्वतसे आगे मनुष्य नहीं पाये जाते। पुष्करवर द्वीपके आगे पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप और घृतवर समुद्र इत्यादि क्रमसे असंख्यात द्वीप और समुद्र स्थित हैं। अन्तिम द्वीपका और समुद्रका भी नाम स्वयम्भूरमण है। लवण और कालोद समुद्रोंको छोड़कर शेष सब समुद्रोंके नाम द्वीपोंके ही समान है। इन ग्रन्थोंमें आदिके और अन्तके १६-१६ द्वीपों और समुद्रोंके नाम पाये जाते हैं। पुष्करवर और स्वयम्भूरमण द्वीपोंके मध्यमें जो असंख्यात द्वीप-समुद्र स्थित हैं उनमें केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच जीव ही उत्पन्न होते हैं। इनकी आयु एक पल्य और शरीरकी उंचाई २ हजार धनुष मात्र होती है। युगलस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले ये सब मंदकषायी व फलभोजी होते हैं तथा मरकर नियमसे देवलोकको जाते हैं। लवणोद, कालोद और स्वयम्भूरमण इन तीन समुद्रोंमें ही मगर-मत्स्यादि जलचर जीव पाये जाते हैं; शेष समुद्रोंमें जलचर जीव नहीं हैं। आगे चलकर यहां गाथा ९६ से गाथा १०४ तक जो ग्रन्थोंका वर्णन किया गया है वह किस आधारसे किया गया है तथा उसका अभिप्राय क्या है, यह विचारणीय है।

आगे 'कर्मभूमिज मनुष्य एवं मत्स्यादि तिर्यंच जीव पापसे अधोलोकमें और पुण्यसे ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं' यह प्रसंग प्रस्तुत करके अधोलोकका आकार व विस्तार आदिका निर्देश करते हुए वहांपर स्थित रत्नप्रभादिक ७ पृथिवियोंका उल्लेख किया गया है। रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग इस प्रकार ३ भाग हैं। इनमेंसे पंकभागमें राक्षस जातिके व्यन्तरों और असुरकुमार जातिके भवनवासियोंके आवास हैं, शेष व्यन्तरों और भवनवासी देवोंके आवास खरभागमें हैं। यहां संक्षेपमें इन देवोंके भवनोंकी संख्या, आयुप्रमाण, शरीरोत्सेध और अवधिविषयकी भी चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् नारकियोंके बिलोंकी संख्या और ४९ प्रस्तारोंका नामोल्लेख करके वहां प्राप्त होनेवाले भयानक दुखोंका वर्णन किया गया है।

ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हुए बतलाया है कि पृथिवीतलसे ९९ हजार यो. ऊपर जाकर मेरु पर्वतकी चूलिकाके ऊपर बालाग्र मात्रके अन्तरसे ऋतु विमान स्थित है। इसका विस्तार मनुष्यलोकके समान ४५ लाख यो. मात्र है। इसके ऊपर असंख्यात करोड़ योजनोंके अन्तरसे क्रमशः विमल व चन्द्र आदि प्रभ विमान पर्यन्त ३१ इन्द्रक पटल हैं जो सौधर्म कल्पके अन्तर्गत हैं। इनमें प्रथम ऋतु इन्द्रकके आश्रित पूर्वादिक दिशाओंमें ६२-६२ श्रेणिबद्ध विमान हैं। आगे उत्तरोत्तर विमलादिक पटलोंमें १-१ श्रेणिबद्ध कम होता गया है। श्रेणिबद्धोंके बीचमें प्रकीर्णक विमान हैं। इनमें उत्तर दिशाके सब श्रेणिबद्धों तथा वायव्य व ईशान कोणके प्रकीर्णकोंका स्वामी उत्तर (ईशान) इन्द्र और शेष सब विमानोंका स्वामी दक्षिण (सौधर्म) इन्द्र

वेदिकासे १२ हजार यो. जाकर वायव्य दिशामें गौतम द्वीप है जो १२ हजार यो. ऊंचा और इतना ही विस्तीर्ण भी है।

इसके अतिरिक्त यहां दिशाओं ४, विदिशाओंमें ४ और इनके अन्तरालमें ८, तथा हिमवान्, शिखरी और २ विजयार्ध इन पर्वतोंके दोनों ओर ८; इस प्रकार ये २४ अन्तरद्वीप हैं। इन द्वीपोंमें एक जंघावाले, पूंछवाले, सींगवाले एवं गूंगे इत्यादि विकृत आकृतिके धारक कुमानुष रहते हैं। इनमें एक जंघावाले कुमानुष गुफाओंमें रहकर मिट्टीका भोजन करते हैं तथा शेष कुमानुष पुष्प-फलभोजी होते हैं। इनके यहां उत्पन्न होनेके कारणोंको बतलाते हुए कहा गया है कि जो प्राणी मंदकषायी होते हैं, कायक्लेशसे धर्मफलको चाहनेवाले हैं, अज्ञानवश पंचाग्नि तपको तपते हैं, सम्यग्दर्शनसे रहित होकर तपश्चरण करते हैं, अभिमानमें चूर होकर साधुओंका अपमान करते हैं, गुरुके पासमें आलोचना नहीं करते हैं, मुनिसंघको छोड़कर एकाकी विहार करते हैं, सब जनोंके साथ कलह करते हैं, जिनलिंगको धारण करके पापाचरण करते हैं, सिद्धान्तको छोड़कर ज्योतिष-मंत्रादिकोंमें विश्वास करते हैं, संयत वेषमें धन-धान्यादिको ग्रहण करते हुए कन्याविवाहादिका अनुमोदन भी करते हैं, मौनसे रहित होकर भोजन करते हैं, तथा सम्यक्त्वकी विराधना करते हैं, वे सब मरकर इन कुमानुषोंमें उत्पन्न होते हैं। इनमें जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे मरकर यहांसे सौधर्मादिक स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं तथा शेष भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं।

(११) इस उद्देशमें ३६५ गाथायें हैं। यहां द्वीप-सागर, अधोलोक तथा ऊर्ध्वलोक वर्णित हैं। द्वीप-सागरोंमें धातकीखण्ड द्वीपका वर्णन करते हुये बतलाया है कि ४ लाख योजन प्रमाण विस्तारवाला यह द्वीप लवण समुद्रको वेष्टित करके स्थित है। इसके दक्षिण और उत्तर भागमें २ इष्वाकार पर्वत हैं जो लवणसे कालोद समुद्र तक आयत हैं। विस्तार उनका एक एक हजार (१०००) यो. है। इनसे धातकीखण्डके दो विभाग हो गये हैं। प्रत्येक विभागमें जंबूद्वीपके समान भरतादिक ७ क्षेत्र और हिमवान् आदि ६ कुलपर्वत स्थित हैं। मध्यमें एक एक मेरु पर्वत है। इनमें हिमवान् पर्वतका समविस्तार २१०५ $\frac{५}{१९}$ यो. है। इससे चौगुणा (८४२१ $\frac{१}{१९}$) विस्तार महाहिमवान्का और उससे भी चौगुणा (३३६८४ $\frac{४}{१९}$) निषध पर्वतका है। आगे नील, रुक्मि और शिखरी पर्वतोंका विस्तार क्रमसे निषध, महाहिमवान् और हिमवान्के समान है। यह धातकीखण्डके एक ओरका पर्वतरुद्ध क्षेत्र हुआ। इतना ही पर्वतरुद्ध क्षेत्र उसके दूसरी ओर भी है। इसमें दो इष्वाकार पर्वतोंका क्षेत्र (२००० यो.) मिला देनेपर सब पर्वतरुद्ध क्षेत्र इतना होता है— २१०५ $\frac{५}{१९}$ × $\{(१ + ४ + १६ + १६ + ४ + १) \times २\}$ + १००० + १००० = १७८८४२ $\frac{२}{१९}$ यो. होता है।

धातकीखण्ड द्वीपकी आदिम (१५८११३९), मध्यम (२८४६०५०) और बाह्य (४११०९६१) परिधियोंमेंसे उक्त पर्वतरुद्ध क्षेत्रको कम कर देनेपर शेष समस्त भरतादिक विजयोंका क्षेत्र होता है। इसमें २१२ $\{($भ. १ + हैम. ४ + हरि १६ + विदेह ६४ + र. १६ + हैर. ४ + ऐ. १ $) \times २ = २१२\}$ का भाग देकर लब्धको १, ४ व १६ आदिसे गुणित करनेपर क्रमसे भरत, हैमवत व हरिवर्ष आदि क्षेत्रोंका विस्तार होता है। जैसे— $\{(१५८११३९ - १७८८४२\frac{२}{१९}) \div २१२\} \times १ = ६६१४\frac{१२९}{२१२}$ भरतका अभ्यन्तर विस्तार। $\{(२८४६०५० - १७८८४२\frac{२}{१९}) \div २१२\} \times १ = १२५८१\frac{३६}{२१२}$ भरतका मध्यम विस्तार। $\{(४११०९६१ - १७८८४२\frac{२}{१९}) \div २१२\} \times १ = १८५४७\frac{१५५}{२१२}$ भरतका बाह्य विस्तार। इन

क्षेत्रोंका आकार गाड़ीके पहियेमें स्थित आरोंके मध्यवर्ती क्षेत्रके समान है।

आगे धातकीखण्ड द्वीपको चारों ओरसे वेष्टित करके कालोद समुद्र स्थित है। इसका विस्तार ८ लाख यो. है। लवण समुद्रके समान अन्तरद्वीप यहांपर भी हैं जिनमें कुमानुष रहते हैं। इसके आगे १६ लाख यो. विस्तृत पुष्करवर द्वीप है। इसके बीचोंबीच वलयाकारसे मानुषोत्तर पर्वत स्थित है, जिससे कि इस द्वीपके २ भाग हो गये हैं। मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर पुष्करार्ध द्वीपमें स्थित भरतादिक क्षेत्रों और हिमवान् आदि पर्वतोंकी रचना धातकीखण्ड द्वीपके समान है। वहां पर्वतरुद्ध क्षेत्रका प्रमाण ३५५६८४$\frac{4}{19}$ यो. है। पुष्करार्धकी आदिम परिधि ९१७०६०५ यो., मध्यम परिधि ११७००४२७ यो. और बाह्य (मनुष्यक्षेत्रकी) परिधि १४२३०२४९ यो. है। भरतादिक क्षेत्रोंके विस्तारको निकालनेका जो नियम धातकीखण्ड द्वीपमें बतलाया गया है वही नियम यहां भी लागू होता है।

जंबूद्वीपसे लेकर पुष्करार्ध पर्यन्त यह सब क्षेत्र अढ़ाई द्वीप या मनुष्यक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध है। मानुषोत्तर पर्वतसे आगे मनुष्य नहीं पाये जाते। पुष्करवर द्वीपके आगे पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप और घृतवर समुद्र इत्यादि क्रमसे असंख्यात द्वीप और समुद्र स्थित हैं। अन्तिम द्वीपका और समुद्रका भी नाम स्वयम्भूरमण है। लवण और कालोद समुद्रोंको छोड़कर शेष सब समुद्रोंके नाम द्वीपोंके ही समान है। इन ग्रन्थोंमें आदिके और अन्तके १६-१६ द्वीपों और समुद्रोंके नाम पाये जाते हैं। पुष्करवर और स्वयम्भूरमण द्वीपोंके मध्यमें जो असंख्यात द्वीप-समुद्र स्थित हैं उनमें केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच जीव ही उत्पन्न होते हैं। इनकी आयु एक पल्य और शरीरकी उंचाई २ हजार धनुष मात्र होती है। युगलस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले ये सब मंदकषायी व फलभोजी होते हैं तथा मरकर नियमसे देवलोकको जाते हैं। लवणोद, कालोद और स्वयम्भूरमण इन तीन समुद्रोंमें ही मगर-मत्स्यादि जलचर जीव पाये जाते हैं; शेष समुद्रोंमें जलचर जीव नहीं हैं। आगे चलकर यहां गाथा ९६ से गाथा १०४ तक जो ग्रन्थीका वर्णन किया गया है वह किस आधारसे किया गया है तथा उसका अभिप्राय क्या है, यह विचारणीय है।

आगे 'कर्मभूमिज मनुष्य एवं मत्स्यादि तिर्यंच जीव पापसे अधोलोकमें और पुण्यसे ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं' यह प्रसंग प्रस्तुत करके अधोलोकका आकार व विस्तार आदिका निर्देश करते हुए वहांपर स्थित रत्नप्रभादिक ७ पृथिवियोंका उल्लेख किया गया है। रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग इस प्रकार ३ भाग हैं। इनमेंसे पंकभागमें राक्षस जातिके व्यन्तरों और असुरकुमार जातिके भवनवासियोंके आवास हैं, शेष व्यन्तरों और भवनवासी देवोंके आवास खरभागमें हैं। यहां संक्षेपमें इन देवोंके भवनोंकी संख्या, आयुप्रमाण, शरीरोत्सेध और अवधिविषयकी भी चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् नारकियोंके बिलोंकी संख्या और ४९ प्रस्तारोंका नामोल्लेख करके वहां प्राप्त होनेवाले भयानक दुखोंका वर्णन किया गया है।

ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हुए बतलाया है कि पृथिवीतलसे ९९ हजार यो. ऊपर जाकर मेरु पर्वतकी चूलिकाके ऊपर बालाग्र मात्रके अन्तरसे ऋतु विमान स्थित है। इसका विस्तार मनुष्यलोकके समान ४५ लाख यो. मात्र है। इसके ऊपर असंख्यात करोड़ योजनोंके अन्तरसे क्रमशः विमल व चन्द्र आदि प्रभ विमान पर्यन्त ३१ इन्द्रक पटल हैं जो सौधर्म कल्पके अन्तर्गत हैं। इनमें प्रथम ऋतु इन्द्रकके आश्रित पूर्वादिक दिशाओंमें ६२-६२ श्रेणिबद्ध विमान हैं। आगे उत्तरोत्तर विमलादिक पटलोंमें १-१ श्रेणिबद्ध कम होता गया है। श्रेणिबद्धोंके बीचमें प्रकीर्णक विमान हैं। इनमें उत्तर दिशाके सब श्रेणिबद्धों तथा वायव्य व ईशान कोणके प्रकीर्णकोंका स्वामी उत्तर (ईशान) इन्द्र और शेष सब विमानोंका स्वामी दक्षिण (सौधर्म) इन्द्र

होता है। अन्तिम प्रभ इन्द्रकके आश्रित जो २३–२३ श्रेणिबद्धोंकी ४ श्रेणियां हैं उनमेंसे दक्षिण दिशागत श्रेणिके १८वें श्रेणिबद्धमें सौधर्म इन्द्रका तथा उत्तर दिशागत श्रेणिके १८वें श्रेणिबद्धमें ईशान इन्द्रका निवास है। यहां बहुतसी देवांगनाओं तथा अन्य सामानिक आदि विशाल परिवारके साथ रहते हुए ये इन्द्र अनुपम सुखका उपभोग करते हैं।

ऊपर सनत्कुमार-माहेन्द्र युगलसे लेकर शतार-सहस्रार युगल तक पांच कल्पयुगलोंमें क्रमसे, ७, ४, २, १ और १ पटल हैं। आगे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन ४ कल्पोंमें ६ पटल हैं[१]। यहां तक 'कल्प' संज्ञा है। आगे इन्द्र सामानिक आदिकी कल्पनासे रहित होनेके कारण ग्रैवेयक आदि कल्पातीत गिने जाते हैं। ग्रैवेयकोंमें नीचे, मध्यमें और ऊपर क्रमसे सुदर्शन, अमोघ व सुप्रबुद्ध आदि ३–३ पटल हैं। इनके ऊपर ९ अनुदिशोंका एक आदित्य पटल तथा अनुत्तर विमानोंका एक सर्वार्थसिद्धि नामक अन्तिम पटल है। यहां संक्षेपमें इन देवोंकी आयु और शरीरोत्सेध आदिका भी कुछ वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें जो कल्पोंका वर्णन किया गया है वह क्रम रहित, असम्बद्ध और कुछ पुनरुक्त भी प्रतीत होता है। इसमें जहां किसी अनावश्यक विषयका अनेक बार वर्णन किया गया है वहां आवश्यक विषयकी चर्चा भी नहीं की गयी है। उदाहरणार्थ गाथा २११ आदिमें सौधर्म कल्पके ३१ पटलोंका नामनिर्देश करके और सौधर्म इन्द्रके अवस्थानको बतला करके भी आगे फिरसे गाथा २२५ आदिके द्वारा प्रभ विमानका उल्लेख करके सौधर्म इन्द्रके अवस्थान व सुधर्मा सभा आदिकी चर्चा की गयी है। इसके विपरीत ऋतु आदि इन्द्रकोंसे जो ६२, ६१ आदि (१–१ कम) श्रेणिबद्ध विमानोंकी विमानश्रेणियां निकली हैं उसका निर्देश करना आवश्यक था, फिर भी उसका निर्देश यहां नहीं किया गया है। इसी प्रकार जैसे २१८ वीं गाथामें ३१ पटलोंका सम्बन्ध सौधर्म कल्पके साथ बतलाया है उसी प्रकार शेष कल्पोंसे सम्बद्ध पटलोंकी भी पृथक् पृथक् संख्याका उल्लेख करना आवश्यक था, जो नहीं किया गया है। यही नहीं, बल्कि शेष पटलोंका जो यहां (गा. ३२८ आदि) नामोल्लेख किया है वह भी कुछ दुरूह ही है। कल्प १२ हैं या १६ इस प्रकारकी संख्याका उल्लेख भी यहां देखनेमें नहीं आता। यद्यपि गाथा ३४१ में सौधर्मसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्प जानना चाहिये, ऐसा निर्देश किया है; फिर भी वहां न एक निश्चित संख्या है और न समस्त नामोंका निर्देश भी।

इसी प्रकार यहां सौधर्म इन्द्रकी विभूति एवं परिवार देवोंका वर्णन करते हुए बिना किसी प्रकारके सम्बन्धकी सूचनाके ही गाथा २४४–२४५ आदिमें संख्यात व असंख्यात योजन विस्तारवाले विमानोंका उल्लेख किया गया है।

विचार करनेपर इस असंगतिका एक कारण कल्पों विषयक मतभेद भी प्रतीत होता है। तिलोयपण्णत्ती (महा. ८, गा. ११५, १२७–२८, १४८ और १७८ आदि) में १२ और १६ कल्पोंकी मान्यताका उल्लेख स्पष्टतापूर्वक किया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि वहांपर १२ कल्पोंकी मान्यताको प्राथमिकता भी दी गई है। तदनुसार ही वहां (म. ८, गा. १२९–१३४, १३७–१४६) कल्पोंकी सीमाका निर्धारण करते हुए किस कल्पके अन्तर्गत कितने इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक विमान हैं; यह भी स्पष्ट बतला दिया है। इसके अतिरिक्त समस्त विमान संख्याका भी उल्लेख वहांपर (८, १४९–१५१) प्रथमतः १२ कल्पोंकी मान्यतानुसार ही किया गया है। यह संख्याका क्रम तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (४, २२) में भी ठीक इसी प्रकारसे पाया जाता है। आगे जाकर वहां श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक विमानोंकी अलग अलग संख्या

१ आनतं प्राणताख्यं च पुष्पकं चानते त्रयम्। अच्युते सानुकारं स्यादारणं चाच्युतं त्रयम्॥

और उसके निकालनेकी रीति आदिका कथन भी प्रस्तुत मान्यताके ही अनुसार विस्तारसे पाया जाता है। तत्पश्चात् वहां 'जे सोलस कप्पाइं केई इच्छंति ताण उवएसे' (८–१७८) इत्यादि कहकर विमानोंकी समस्त संख्याका उल्लेख १६ कल्पोंकी मान्यताके अनुसार भी किया गया है (८, १७८–१८५)। इसके पश्चात् फिर भी वहां संख्यात व असंख्यात योजन विस्तारवाले विमान, उनका बाहल्य, वर्णभेद और आधार-विशेष आदिका समस्त कथन १२ कल्पोंकी मान्यताके अनुसार ही किया गया है। इससे निश्चित होता है कि तिलोयपण्णत्तिकारको यही मान्यता इष्ट रही है।

इसके विपरीत सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और हरिवंशपुराण आदिके रचयिताओंने १६ कल्पोंकी मान्यताको अभीष्ट मानकर तदनुसार ही अपने अपने ग्रंथोंमें इन कल्पोंका वर्णन किया है। यहां तत्त्वार्थवार्तिक (४, १९, ८) में एक विशेषता और भी देखनेमें आती है, वह है १४ इन्द्रोंकी मान्यता। यही मान्यता भट्टाकलंक देवको इष्ट भी रही है। इसीलिये उन्होंने "त एते लोकानुयोगोपदेशेन चतुर्दशेन्द्रा उक्ताः, इह द्वादश इष्यन्ते···" इत्यादि उल्लेख भी कर दिया है। इस मान्यताका अनुसरण श्री श्रुतसागर सूरिने भी अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें किया है। किन्तु यह अभिमत किस लोकानुयोग ग्रन्थमें रहा है, यह अभी देखनेमें नहीं आया है। उपर्युक्त मान्यताके अनुसार वे १४ इन्द्र ये हैं— सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आरण और अच्युत।

तिलोयपण्णत्ती (म. ५, गाथा ८४–९७) में अष्टाह्निक पूजामहोत्सवके निमित्त नन्दीश्वर द्वीपको जानेवाले इन्द्रोंका निर्देश करते हुए भी यद्यपि १४ इन्द्रोंका ही नामोल्लेख किया है, किन्तु ये १४ इन्द्र उपर्युक्त १४ इन्द्रोंसे भिन्न हैं— यहां आनतेन्द्र और प्राणतेन्द्रका तो नामोल्लेख है, किन्तु लान्तवेन्द्र और कापिष्ठेन्द्रका नामनिर्देश नहीं है। यह भी सम्भव है कि वहां इन दो इन्द्रोंके नामोंका उल्लेख करनेवाली गाथायें प्रतियोंमें छूट गयी हों। प्रकृत जंबूद्वीपपण्णत्तीमें भी एक ऐसा ही प्रकरण है। यहां (५, ९३–१०८) अष्टाह्निक पर्वमें पूजाके निमित्त महा विभूतिके साथ मन्दर पर्वतस्थ जिनभवनोंमें आते हुए इन्द्रोंका जो वर्णन किया है उसमें १६ इन्द्रोंके नामोंका निर्देश है जब कि उनकी मान्यता १२ या १४ संख्या तक ही सीमित है।

ऋतु इन्द्रक आदिसे कितने श्रेणिबद्ध विमानोंकी श्रेणियां पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित हैं, इस विषयमें दो मतभेद उपलब्ध होते हैं— एक ६३, ६२, ६१ आदिका तथा दूसरा ६२, ६१, ६० आदिका (देखिये ति. प. गाथा ८, ८३–८५)। हरिवंशपुराणमें ६३ आदि श्रेणिबद्धोंकी मान्यताको स्वीकार किया गया है (देखिये श्लोक ६, ६३)। इसके विपरीत तत्त्वार्थवार्तिक (पृ. २२५) आदिमें ६२ आदिकी मान्यताका अनुसरण किया गया है। इन त्रिविध मान्यताओंके कारण भी यदि ग्रन्थकर्ताने प्रकृत कल्पोंका वर्णन स्पष्टतासे न किया हो तो यह असम्भव नहीं कहा जा सकता है।

(१२) बारहवें उद्देशमें ११३ गाथायें हैं। यहां ज्योतिष पटलके वर्णनकी प्रतिज्ञा करके सर्वप्रथम यह बतलाया है कि ८८० यो. ऊपर जाकर चन्द्रका विमान है। चन्द्रविमानोंका विस्तार व आयाम ३ गव्यूति और १३०० धनुषसे कुछ अधिक है। इन विमानोंको प्रतिदिन १६ हजार आभियोग्य जातिके देव खींचते हैं। उक्त देव पूर्वादिक दिशाओंमें क्रमसे सिंह, गज, वृषभ और घोड़ेके आकारमें ४–४ हजार रहते हैं। इसी प्रकार १६ हजार आभियोग्य देव सूर्यविमानके, ८ हजार ग्रहगणोंके, ४ हजार नक्षत्रोंके और २ हजार ताराओंके वाहक हैं।

जंबूद्वीपमें २, लवणसमुद्रमें ४, धातकीखण्डमें १२, कालोदधिमें ४२ और पुष्करार्ध द्वीपमें ७२ चन्द्र हैं। मानुषोत्तर पर्वतके आगे पुष्करद्वीपमें १२६४ चन्द्र हैं। यहां आदिका प्रमाण ४४, उत्तर

(चय) का ४ और गच्छका प्रमाण ८ है। एक कम गच्छके अर्ध भागको चयसे गुणित करके प्राप्त राशिमें आदिको मिला दे और फिर उसे गच्छसे गुणित करे। इस नियमके अनुसार सर्वधनका प्रमाण प्राप्त हो जाता है। जैसे— $\frac{८-१}{२}$ × ४ + १४४ × ८ = १२६४। यही क्रम शेष द्वीप समुद्रोंमें भी चन्द्रबिम्बों और सूर्यबिम्बों-की संख्या लानेमें अभीष्ट है। विशेषता केवल इतनी है कि आदि (१४४) और गच्छ (८) के प्रमाण-को उत्तरोत्तर दुगुणा करते जाना चाहिये। चयका प्रमाण सर्वत्र ४ ही रहता है।

इसका अभिप्राय यह है कि मानुषोत्तर पर्वतके आगके द्वीप-समुद्रोंमें जिसका जितना विस्तारप्रमाण है उतने विस्तारमें १—१ लाख योजन जाकर ज्योतिषियोंका १—१ वलय है। इनमेंसे प्रथम वलयमें स्थित चन्द्रोंकी संख्या पूर्व द्वीप या समुद्रके प्रथम वलयसे दुगुणी होती है। आगे शेष वलयोंमें उत्तरोत्तर ४—४ चन्द्र अधिक होते जाते हैं। उदाहरणार्थ पुष्करवर समुद्रका विस्तार ३२ लाख यो. है, अत एव यहां वल-योंकी संख्या ३२ है। इनमेंसे प्रथम वलयमें बाह्य पुष्करार्ध द्वीपके प्रथम वलयकी अपेक्षा दुगुणे (१४४ × २ = २८८) चन्द्र स्थित हैं। यही यहां आदिका प्रमाण है। गच्छ यहां ३२ है। अत एव पूर्वोक्त नियमके अनुसार क्रिया करनेपर यहांकी समस्त चन्द्रसंख्या इस प्रकार प्राप्त होती है— $\frac{३२-१}{२}$ × ४ + २८८ × ३२ = ११२००.

इसी प्रकरणमें २० वीं गाथा करणसूत्रके रूपमें आयी है। किन्तु पूर्व सम्बन्ध आदिकी सूचना न होनेसे उसका अभिप्राय ज्ञात नहीं हो सका है। इसके आगे ११ गाथाओंमें (२२—३२) पुष्करवर समुद्रसे लेकर नन्दीश्वर द्वीप तक प्रथम वलयस्थ चन्द्रोंकी संख्याका निर्देश किया गया है। परन्तु इसका सामान्य परिज्ञान जब 'णवरि विसेसो जाणे आदिमगच्छा य दुगुणदुगुणा दु।' इस पूर्व गाथा (१९) के द्वारा ही करा दिया गया था तब फिर इन गाथाओंके रचनेकी क्यों आवश्यकता हुई, यह विचारणीय है। यही नहीं, किन्तु इसमें एक भूल भी हो गयी प्रतीत होती है। वह यह कि तिलोयपण्णत्ती (पृ. ७६१—६२), धवला (पु. ४, पृ. १५१) और त्रिलोकसार (३५०,३६०) में पुष्करवर समुद्रके प्रथम वलयमें २८८ तथा आगेके द्वीप समुद्रोंमें स्थित प्रथम वलयोंमें उत्तरोत्तर इससे दुगुणी चन्द्रसंख्या निर्दिष्ट की गयी है। किन्तु यहां वह संख्या १४४ और आगे उत्तरोत्तर इससे दुगुणी बतलायी है। यदि यह किसी भूलका परि-णाम नहीं है तो पूर्वापरविरुद्ध तो है ही। कारण कि पूर्वमें गा. १५—१९ द्वारा यही चन्द्रसंख्या बाह्य पुष्करार्धमें १४४ और आगेके द्वीप-समुद्रोंमें उत्तरोत्तर इससे दुगुणी दुगुणी बतलायी जा चुकी है।

तत्त्वार्थवार्तिक और हरिवंशपुराणमें ज्योतिषी देवोंकी यह संख्या कुछ भिन्न रूपमें पायी जाती है। यथा—तत्त्वार्थवार्तिकमें अभ्यन्तर पुष्करार्धके समान बाह्य पुष्करार्ध द्वीपमें भी सूर्य-चन्द्रोंकी संख्या ७२ ही निर्दिष्ट की गयी है। आगे पुष्करवर समुद्रमें उक्त सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिषियोंकी वह संख्या इससे चौगुणी और फिर उससे आगेके द्वीप-समुद्रोंमें उत्तरोत्तर इससे दुगुणी ही बतलायी गई है। यहां वलयक्रमानुसार उन ज्योतिषियों-की संख्याका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। जैसे— बाह्ये पुष्करार्द्धे च ज्योतिषामियमेव संख्या। ततश्चतुर्गुणा पुष्करवरोदे। ततः परा द्विगुणा द्विगुणा ज्योतिषां संख्या अवसेया (त. वा. पृ. २२०)। परन्तु हरिवंशपुराणमें तत्त्वार्थवार्तिकके समान दोनों पुष्करार्धोंमें ७२-७२ सूर्य-चन्द्रोंका उल्लेख करके भी तिलोयपण्णत्ती आदिके समान बाह्य पुष्करार्धमें मानुषोत्तर पर्वतसे ५० हजार योजन आगे जाकर चक्रवाल (वलय) स्वरूपसे सूर्य-चन्द्रादिकोंके अवस्थानका संकेत किया गया है। उसके आगे १—१ लाख योजन जाकर उनके उत्तरोत्तर ४—४ अधिक होते जानेका भी उल्लेख वहां पाया जाता है। तत्पश्चात् वहां यह बतलाया है कि धातकीखण्ड द्वीप आदिमें जो सूर्य-चन्द्रादिकी निश्चित संख्या है उसे तिगुणी करके विगत द्वीप समुद्रोंकी संख्याको मिलानेसे

आगे आगेके द्वीप-समुद्रोंके सूर्य-चन्द्रादिकोंकी संख्या होती है। उदाहरणार्थ धातकीखण्डमें १२ सूर्यचन्द्र हैं। अतः उससे आगेके कालोद समुद्रमें उनकी संख्या इस प्रकार होगी— १२×३=३६; इसमें विगत जं. द्वी. और लवण स. की ६ संख्याको मिला देनेपर यह ३६+६=४२ हो जाती है। इस तिगुणी करके विगत द्वीप-समुद्रोंकी संख्या मिला देनेपर वह आगे पुष्करार्ध द्वीपके सूर्य-चन्द्रोंकी संख्या हो जाती है— ४२×३+(१२+४+२)=१४४ (उभय पुष्करार्धगत सूर्य-चन्द्रोंकी संख्या ७२+७२)। परन्तु वलय स्वरूपसे इस संख्याकी व्यवस्था किस प्रकार होगी, इसका कुछ भी स्पष्टीकरण यहांपर नहीं किया गया है (ह. पु. ६, २६-३३)। श्रुतसागर सूरिने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें मानुषोत्तर पर्वतके पूर्वमें ज्योतिषियोंकी निश्चित संख्या बतला करके उसके आगे बाह्य पुष्करार्ध द्वीप और पुष्करवर समुद्रमें उक्त संख्याको परमागमसे जान लेनेकी प्रेरणा की है। यथा— मानुषोत्तराद् बहिः पुष्करार्द्धे पुष्करसमुद्रे च सूर्यादीनां संख्या परमागमाद् वेदितव्या (त. वृ., पृ. १६०-६१)।

इसके आगे प्रस्तुत उद्देशमें गा. ३३-९१ तक उक्त चन्द्र-सूर्यादिकोंकी संख्याके लानेके क्रमका वर्णन है। परन्तु वहां कोई उदाहरण या अंकविन्यास आदिका संकेत नहीं है। इसका सुव्यवस्थित वर्णन श्री वीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीका (देखिये षट्खं. पु. ४, पृ. १५०-१६०) में किया है। यहांका बहुतसा गद्यभाग (पृ. १५२-५८) तिलोयपण्णत्ती पृ. ७६४ से ७६६ में ज्योंका त्यों पाया जाता है। अन्तिम पंक्तियोंमें जो थोडासा शब्दभेद दोनों जगह पाया जाता है वह इस प्रकार है—

एसा तप्पाओग्ग······पमाणपरिक्खाविही ण अण्णाइरिओवदेसपरंपराणुसारिणी, केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारी जोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइयसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा प्रतिनियतसूत्रावष्टम्भबलविजृंभितगुणप्रतिपन्नप्रतिबद्धासंख्येयावलिकावहारकालोपदेशवत् आयतचतुरस्रलोकसंस्थानोपदेशवद्वा। तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेत्ति······ (पु. ४, पृ. १५७)।

एसा तप्पाओग्ग······पमाणपरिक्खाविही ण अण्णाइरियउवदेसपरंपराणुसारिणी, केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारिणी, जोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइयसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाधणट्ठमेसा परूवणा परूविदा। तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेत्ति······ (ति प. पृ. ७६६)।

तत्पश्चात् यहां ज्योतिषी देवोंके अवस्थान, आयु और विमानतलविस्तारका कुछ वर्णन करके यह बतलाया है कि ज्योतिषी देवोंकी जो जो संख्यायें जंबूद्वीपमें कही गयी हैं वे स्थिर ताराओंको छोड़कर दुगुणी दुगुणी जानना चाहिये (गा. १०४)। परन्तु ये संख्यायें दुगुणी दुगुणी कहां समझी जावें, इसका कुछ भी उल्लेख यहां नहीं है। आगे जंबूद्वीपमें स्थिर ताराओंकी ३६ संख्याका उल्लेख करके गा. १०६-८ में फिरसे भी जंबूद्वीपादिमें चन्द्रादिकोंकी उक्त संख्याका उल्लेख किया गया है। इससे हम यदि इस निष्कर्षपर पहुंचें कि प्रकृत ग्रन्थके कर्ताने इसमें न पुनरुक्तिका ध्यान रक्खा है और न पूर्वापर क्रमिक सम्बन्धका भी, तो यह अनुचित न होगा। अर्थबोध करानेके लिये आवश्यक शब्दोंकी जैसी सुसम्बद्ध रचना होनी चाहिये थी, उसे हम यहां नहीं पाते हैं। प्रकृत उद्देशमें ही जहां सबसे पहिले ज्योतिषी देवोंके भेद और उनके निवासस्थानादिका कथन किया जाना चाहिये था वहां उसका कुछ भी वर्णन न करके सबसे पहिले ८०० यो. ऊपर चन्द्रका अवस्थान बतलाया गया है। यह परम्परागत वर्णनशैलीके प्रतिकूल है। यहां ज्योतिष पटलका वर्णन करनेके लिये एक स्वतन्त्र उद्देशकी रचना करके भी ज्योतिषी देवोंके भेद, उनका पारिवारिक सम्बन्ध, उनके संचारका क्रम और नक्षत्रोंके नाम, इत्यादि उल्लेखनीय विषयोंके सम्बन्धमें कुछ भी प्रकाश न डालकर एक मात्र चन्द्रोंकी संख्यामें ही उद्देशका अधिकांश भाग समाप्त कर देना कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है।

यहां ज्योतिषियोंके अवस्थानके कथनमें जो ९वीं गाथा आयी है वह सर्वार्थसिद्धि (४, १२) तथा तत्त्वार्थवार्तिक (४, १२, १०) में उद्धृत एक प्राचीन गाथा है। कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ उक्त गाथा त्रिलोकसार (३३२) में उपलब्ध होती है। इसके आगे जो यहां २ गाथायें (९५–९६) आयुकी प्ररूपणा करनेवाली हैं वे मूलाचार (१२, ८१–८२) और तिलोयपण्णत्ती (७,६१४–१५) में उपलब्ध होती हैं और सम्भवतः वहींसे यहां ली गयी हैं।

१३. तेरहवें उद्देशमें १७६ गाथायें हैं। सर्वप्रथम यहां कालके व्यवहार और परमार्थरूप दो भेदोंका उल्लेख करके तत्पश्चात् समय व आवलिका आदि अचलात्म पर्यन्त व्यवहार कालके भेदोंका निर्देश किया गया है। आगे चलकर परमाणुका स्वरूप बतलाते हुए उत्तरोत्तर अष्टगुणित अवसन्नासन्नादिके क्रमसे उत्पन्न होनेवाले अंगुलके उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल ये तीन भेद बतलाये हैं। इनमेंसे प्रत्येक सूच्यंगुल, प्रतरांगुल और घनांगुलके भेदसे ३-३ प्रकारका है। ५०० उत्सेधांगुलोंका एक प्रमाणांगुल होता है। परमाणु व अवसन्नासन्न आदिके क्रमसे जो अंगुल निष्पन्न होता है वह सूच्यंगुल कहलाता है। इसके प्रतरको प्रतरांगुल और घनको घनांगुल कहते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें जिस जिस कालमें जो मनुष्य होते हैं उनके अंगुलको आत्मांगुल कहा जाता है। इनमें उत्सेधांगुलसे नर-नारक आदि जीवोंके शरीरकी उंचाईका प्रमाण बतलाया जाता है। कलश, झारी, दण्ड, धनुष, बाण, हल, मूसल, रथ, सिंहासन, छत्र, चमर और गृह आदिका प्रमाण आत्मांगुलकी अपेक्षा निर्दिष्ट होता है। प्रमाणांगुलके द्वारा दीप, समुद्र, नदी, कुण्ड, क्षेत्र, पर्वत और जिनभवन आदिके विस्तारादिका प्रमाण ज्ञात किया जाता है।

छह अंगुलोंका पाद, २ पादोंका वितस्ति, २ वितस्तिका हाथ, २ हाथोंका किष्कु, २ किष्कुओंका दण्ड या धनुष, २००० धनुषका कोस (गव्यूति) और ४ कोसका योजन होता है। एक प्रमाणयोजन विस्तृत और इतने ही गहरे गड्ढेको पल्य कहा जाता है। इसे एक दिनसे लेकर सात दिन तकके मेंढ़ेके ऐसे रोमखण्डोंसे, जिनका कि दूसरा खण्ड न हो सके, सघन भरकर १००–१०० वर्षमें १–१ बालाग्रके निकालनेमें जितना काल व्यतीत होता है उतने कालको व्यवहारपल्योपम काल कहा जाता है। इसके प्रत्येक रोमखण्डको असंख्यात करोड़ वर्षोंके समयोंसे खण्डित करके एक एक समयमें १–१ रोमखण्डके निकालनेपर जितने कालमें वह रिक्त होता है उतना एक उद्धार पल्योपम होता है। १० कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योंका एक उद्धार सागरोपम होता है। समस्त द्वीप-समुद्रोंकी संख्या अढ़ाई उद्धार सागरोपमोंके रोमखण्डोंके बराबर है। उद्धार पल्यके रोमखण्डोंको १०० वर्षोंके समयोंसे खण्डित करके १–१ समयमें १–१ रोमखण्डके निकालनेपर जितने कालमें वह रिक्त होता है उतने कालको अद्धा पल्योपम कहा जाता है। तिलोयपण्णत्ती (१–१२९) और हरिवंशपुराण (७–५३) में इन रोमखण्डोंको भी असंख्यात करोड़ वर्षोंके समयोंसे खण्डित करनेका उल्लेख पाया जाता है। उपर्युक्त १० कोड़ाकोड़ी अद्धा पल्योंका एक अद्धा सागरोपम होता है। १० कोड़ाकोड़ि अद्धा सागरोपम प्रमाण एक अवसर्पिणी और उतना ही एक उत्सर्पिणी काल होता है। इस अद्धा पल्यके द्वारा चतुर्गतिके जीवोंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति, और कायस्थितिका प्रमाण जाना जाता है।

इसके पश्चात् यहां सर्वज्ञके साधनार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और अविरुद्ध आगम प्रमाणका निर्देश करते हुए धूमानुमानसे अग्निका उदाहरण देकर (गा. १३-४५) यह बतलाया है कि जो सूक्ष्म, अन्तरित और दूरस्थ पदार्थोंको ज्ञानके द्वारा जानता है वह सर्वज्ञ है। इसके द्वारा " सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥ " इस आप्तमीमांसागत कारिकाको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकारने सर्वज्ञको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। तत्पश्चात् वहां यह बतलाया है कि जिसके राग, द्वेष और

मोह ये तीन दोष नहीं हैं वह असत्य भाषण नहीं करता है; इसीलिये उसका वचन प्रमाण है। वह प्रमाण दो प्रकारका है– प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनमें प्रत्यक्ष भी सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका है। सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान और विकल प्रत्यक्ष अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद अवधिज्ञानके तथा ऋजुमति मनःपर्यय और विपुलमति मनःपर्यय ये दो भेद मनःपर्ययज्ञानके हैं।

आगे परोक्ष भेदोंके अन्तर्गत आभिनिबोधिक ज्ञानके ३३६ भेदोंका निर्देश करते हुए अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाका स्वरूप उदाहरण देकर इस प्रकार बतलाया है– 'देवदत्त' इस प्रकार सुनकर विचार रहित जो सामान्य ज्ञान होता है वह अवग्रह है। हरि, हर और हिरण्यगर्भ इनके मध्यमें देव कौन है, इस प्रकारकी बुद्धिका नाम ईहाज्ञान है। जो कर्मकलुषतासे रहित है वह देव है, इस प्रकारकी बुद्धिको अवाय कहा जाता है। राग-द्वेष रहित सर्वज्ञका कभी विस्मरण न होना, यह धारणाज्ञान कहलाता है। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहके लक्षणमें बतलाया है कि इन्द्रिय और नोइन्द्रियके द्वारा दूरसे होनेवाले अर्थग्रहणको अर्थावग्रह तथा स्पर्शपूर्वक चक्षुके विना शेष चार इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले स्पर्श, रस, गन्ध एवं शब्दके ज्ञानको व्यंजनावग्रह कहते हैं। मतिपूर्वक जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे– धूमको देखकर अग्निका ज्ञान अथवा नदीपूरको देखकर उपरिम वृष्टिका ज्ञान।

तत्पश्चात् क्षुधा-तृषादिसे रहित देवका कीर्तन करते हुए यहां अरहन्त परमेष्ठीके ३४ अतिशयों, देवपरिगृहीत ८ आठ मंगल द्रव्यों, ८ प्रतिहार्यों और ९ केवललब्धियोंका नामोल्लेख करके १८ हजार शीलों और ८४ हजार गुणों (देखिये पृ. २४९ का विशेषार्थ) का भी निर्देश मात्र किया है।

अन्तमें प्रस्तुत जंबूदीवपण्णत्तीका परामपरागत सम्बन्ध अरहन्त परमेष्ठीसे बतलाते हुए यह निर्देश किया है कि जिनमुखोद्गत परमागमके उपदेशक श्री **विजय गुरु** विख्यात हैं। उनके पासमें जिनागमको सुनकर कुछ उद्देशोंमें यहां मैंने मनुष्य क्षेत्रके अन्तर्गत ४ इष्वाकार, ५ मंदर शैल, ५ शाल्मलि वृक्ष, ५ जंबू वृक्ष, २० यमक पर्वत, २० नाभिगिरि, २० देवारण्य, ३० भोगभूमियां, ३० कुलपर्वत, ४० दिग्गज पर्वत, ६० विभंग नदियां, ७० महानदियां, ३० पद्मद्रहादि, १०० वक्षार पर्वत, १७० वैताढ्य पर्वत, १७० ऋषभगिरि, १७० राजधानियां, १७० षट्खण्ड, ४५० कुण्ड और २२५० तोरण इत्यादि बहुतसे ज्ञातव्य विषयोंका वर्णन उक्त श्री **विजय गुरुके** प्रसादसे किया है। ग्रन्थ लिखनेका निमित्त बतलाते हुए यहां यह निर्दिष्ट किया है कि राग-द्वेषसे रहित व श्रुत-सागरके पारगामी **माघनन्दी** गुरु प्रसिद्ध हैं। उनके शिष्य सिद्धान्त-महासमुद्रमें कलुषताको धो डालनेवाले गुणवान् **सकलचन्द्र** गुरु हुए हैं। उनके भी शिष्य निर्मल रत्नत्रयके धारक श्री **नन्दिगुरु** विख्यात हैं। उन्हींके निमित्त यह जंबूदीवपण्णत्ती लिखी गयी है।

अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकर्ता श्री पद्मनन्दी मुनि कहते हैं कि पांच महाव्रतोंके धारक, रत्नत्रयसे पवित्र और पंचाचार परिपालक श्री **वीरनन्दी** नामके प्रसिद्ध ऋषि थे। उनके उत्तम शिष्य सूत्रार्थविचक्षण विख्यात **बलनन्दी** हुए। इनके भी शिष्य त्रिदण्डरहित, शल्यत्रयपरिशुद्ध, गारवत्रयसे रहित, सिद्धान्तके पारगामी और तप-नियम-योगसे संयुक्त **पद्मनन्दी** नामक (प्रकृत ग्रन्थके कर्ता) मुनि हुए। श्री विजय गुरुके समीपमें सुपरिशुद्ध आगमको सुनकर मुनि **पद्मनन्दिने** इस ग्रन्थको लिखा है।

ग्रन्थरचनाके स्थान और वहांके शासकका नामनिर्देश करते हुए यह बतलाया है कि **बारा** नगरका प्रभु नरोत्तम शक्ति भूपाल था जो सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध, व्रतकर्मको करनेवाला, निरन्तर दानशील, जिनशासनवत्सल, वीर, नरपतिसंपूजित और कलाओंमें कुशल था। यह नगर धन-धान्यसे परिपूर्ण, सम्यग्दृष्टि और मुनि जनोंसे मण्डित, जिनभवनोंसे विभूषित रमणीय पारियात्र देशके अन्तर्गत था।

४ अन्य ग्रंथोंसे तुलना

जंबूदीवपण्णत्तिकी रचनाके समय उसके कर्ताने किन ग्रन्थोंका उपयोग किया है, यह निश्चित रूपसे नहीं बतलाया जा सकता है। तथापि जिन प्राचीन ग्रंथोंसे उसका कुछ साम्य व वैषम्य दिखाई देता है वे निम्न प्रकार हैं—

१ **तिलोयपण्णत्ती**– यह जैन भूगोल विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और सम्भवतः वर्तमानमें उपलब्ध इस विषयके सब ग्रन्थोंमें प्राचीनतम भी है। इसका प्रकाशन इसी ग्रन्थमालासे २ भागोंमें हो चुका है। जंबूदीवपण्णत्तीकी रचनाके समय यह ग्रन्थ उसके रचयिताके सामने रहा है और उसका उपयोग भी खूब किया गया है। तुलनात्मक दृष्टिसे इन दोनों ग्रन्थोंके विषयमें तिलोयपण्णत्तीकी प्रस्तावनामें (देखिये भा. २, प्रस्तावना पृ. ६८–७३) बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वहां तिलोयपण्णत्तीकी ऐसी कितनी ही गाथाओंका उल्लेख कर दिया गया है जिन्हें मुनि पद्मनन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थमें विना किसी परिवर्तनके अथवा यत्किंचित् परिवर्तनके साथ ले लिया है। वहां निर्दिष्ट गाथाओंके अतिरिक्त जंबूदीवपण्णत्तीकी और भी निम्न गाथाओंका क्रमसे तिलोयपण्णत्तीकी निम्न गाथाओंसे मिलान किया जा सकता है—

जं. प. द्वितीय उद्देश–(१) ४०, (२) ४१, (३) ९७, (४) १२०, (५) १४६, (६) १५२, (७) १५५, (८) १५६, (९) १९९, (१०) २००, (११) २०१, (१२) चतुर्थ उ. ४५, (१३) ११३, (१४) ११४, (१५) २१३ से २१९, (१६) सातवां उ. १४८, (१७) तेरहवां उ. १६, (१८) २७.

ति. प. चतुर्थ महाधिकार– (१) १२६, (२) १३९, (३) २४०, (४) ३३४, (५) ३६८, (६) ३७२, (७) ३३७, (८) ३३८, (९) १५१९, (१०) १५४१, (११) १५१८, (१२) १८१५-(१३) २२७९, (१४) २२८०, (१५) आठवां म. २६० से २६६, (१६) चतुर्थ म. २६९, (१७) प्रथम म. ९८, (१८) १०९.

२ **मूलाचार**– यह श्री वट्टकेराचार्यविरचित मुनियोंके आचारका सांगोपांग वर्णन करनेवाला एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसके पर्याप्तिसंग्रहिणी नामक १२ वें अधिकारमें कुछ अन्य भी विविध विषयोंका संग्रह किया गया है (देखिये ति. प. २, प्रस्तावना पृ. ४२)। इस अधिकारमें आयी हुई निम्न गाथायें जंबूदीवपण्णत्तीके कर्ता द्वारा सीधी इसी ग्रन्थसे अथवा पीछेके किसी अन्य ग्रन्थमें उद्धृत देखकर ली गयी हैं—

जं.प.११	१३७–३८,	१३९	१४०–४१	१७८	३५३	१२,९५–९६	१३–४३
मूला १२	७५–७६	२१	१०९–१०	७४	७८	८१–८२	८५

३ **त्रिलोकसार**– श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा विरचित यह एक भूगोल विषयक अनुपम ग्रन्थ है। इसकी रचना प्रौढ़ और अपने आपमें परिपूर्ण है। इसमें जैन भूभागसे सम्बद्ध प्रायः सभी विषयोंका समावेश है। यहां पूर्वपरम्परासे आई हुई तथा कितने ही पूर्वाचार्योंकी भी सैकड़ों गाथाओंको इस प्रकारसे आत्मसात् कर लिया गया है कि उनकी पृथक्ताका बोध ही नहीं होता। जंबूदीवपण्णत्तीमें अनेक गाथायें ऐसी हैं जो ज्योंकी त्यों या कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ त्रिलोकसारमें भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरण स्वरूप ऐसी कुछ गाथायें ये हैं—

जं.प.	४,३४	१३,३५	१३,३६	१३,३७	१३,३८–४१	१३,४३	६,७	६,११
त्रि.सा.	९६	९५	९३	९४	९९–१०२	९२	७६१	७६४

(१) इनमें गाथा ४–३४ बृहत्क्षेत्रसमास (१–७) में भी इसी रूपमें पायी जाती है।

(२) गा. १३–३५ ज्योतिष्करण्डमें (गा. ७८) भी पायी जाती है। वहां इसके चतुर्थ चरणमें 'पल्लं' के स्थानमें 'जाण' पद पाया जाता है।

(३) गाथा १३–३६ सर्वार्थसिद्धि (३–३८) में उद्धृत पायी जाती है।

(४) गा. १३–३७ त्रिलोकसारमें कुछ परिवर्तित रूपमें है जो इस प्रकार है—

सत्तमजम्मावीणं सत्तदिणब्भंतरम्हि गहिदेहिं।
सण्णट्ठं सण्णिचिदं भरिदं वालग्गकोडीहिं॥ ९४॥

यही गाथा जंबूदीवपण्णत्तीसे बहुत कुछ समानता रखती हुई ज्योतिष्करण्डमें भी इस प्रकार उपलब्ध होती है—

एकाहिय-बेहिय-तेहियाण उक्कोससत्तरत्ताणं।
सम्मट्ठं सन्निचियं भरियं वालग्गकोडीणं॥ ७९॥

यहां टीकाकार श्री मलयगिरिने एकाहिक आदि पदोंका अर्थ इस प्रकार किया है— मुण्डिते शिरसि या एकेनाह्ना प्ररूढास्ता एकाहिकाः, या द्वाभ्यामहोभ्यां ता द्व्याहिकाः, यास्त्रिभिरहोभिस्तास्त्र्याहिकाः। 'सम्मट्ठं' का अर्थ 'संमृष्टं–आकर्णभृतम्' किया है।

(५) गा. १३–३८ त्रिलोकसारमें कुछ परिवर्तित रूपमें है—

वस्ससदे वस्ससदे एक्केक्के अवहिदम्हि जो कालो।
तक्कालसमयसंखा णेया ववहारपल्लस्स॥ ९९॥

यही गाथा जंबूदीवपण्णत्तीसे कुछ थोडे ही परिवर्तनके साथ ज्योतिष्करण्डमें इस प्रकार उपलब्ध होती है—

वाससए वाससए एक्केक्के अवहियंमि जो कालो।
सो कालो नायव्वो उवमा एक्कस्स पल्लस्स॥ ८१॥

(६) गा. १३, ३९–४० त्रिलोकसारमें कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ इस प्रकार पायी जाती हैं जिससे पल्यविषयक मान्यताभेद भी सूचित होता है—

ववहारियं रोमं छिण्णमसंखेज्जवाससमयेहिं।
उद्धारे ते रोमा तक्कालो तत्तियो चेव॥ १००॥
उद्धारेयं रोमं छिण्णमसंखेज्जवाससमयेहिं।
अद्धारे ते रोमा तत्तियमेत्तो य तक्कालो॥ १०१॥

(७) गा. १३–४१ ज्योतिष्करण्ड (गा. २) में भी पायी जाती है। जंबूदीवपण्णत्तीमें इसका अन्तिम चरण है— उवमा एक्कस्स परिमाणं। इसके स्थानमें त्रिलोकसारमें 'हवेज्ज एक्कस्स परिमाणं' और ज्योतिष्करण्डमें 'एक्कस्स भवे परीमाणं' है। ये दोनों पाठ संगत हैं, परन्तु जं. प. में प्रयुक्त 'उवमा' पद पुनरुक्त है।

(८) गा. १३–४३ मूलाचार (१२–८५) में भी पायी जाती है।

(९) गा. ६–११ बृहत्क्षेत्रसमास (१–४१) में भी यत्किंचित् शब्दपरिवर्तनके साथ पायी जाती है।

४ जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र— उक्त नामसे प्रसिद्ध एक ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी विद्यमान है। यह पांचवां उपांग ग्रन्थ माना जाता है। वहां सर्वप्रथम मंगलके रूपमें पंचनमस्कार मंत्र प्राप्त होता है। तत्पश्चात्

४ अन्य ग्रंथोंसे तुलना

जंबूदीवपण्णत्तिकी रचनाके समय उसके कर्ताने किन ग्रन्थोंका उपयोग किया है, यह निश्चित रूपसे नहीं बतलाया जा सकता है। तथापि जिन प्राचीन ग्रंथोंसे उसका कुछ साम्य व वैषम्य दिखाई देता है वे निम्न प्रकार हैं—

१ **तिलोयपण्णत्ती**– यह जैन भूगोल विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और सम्भवतः वर्तमानमें उपलब्ध इस विषयके सब ग्रन्थोंमें प्राचीनतम भी है। इसका प्रकाशन इसी ग्रन्थमालासे २ भागोंमें हो चुका है। जंबूदीवपण्णत्तीकी रचनाके समय यह ग्रन्थ उसके रचयिताके सामने रहा है और उसका उपयोग भी खूब किया गया है। तुलनात्मक दृष्टिसे इन दोनों ग्रन्थोंके विषयमें तिलोयपण्णत्तीकी प्रस्तावनामें (देखिये भा. २, प्रस्तावना पृ. ६८–७३) बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वहां तिलोयपण्णत्तीकी ऐसी कितनी ही गाथाओंका उल्लेख कर दिया गया है जिन्हें मुनि पद्मनन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थमें विना किसी परिवर्तनके अथवा यत्किंचित् परिवर्तनके साथ ले लिया है। वहां निर्दिष्ट गाथाओंके अतिरिक्त जंबूदीवपण्णत्तीकी और भी निम्न गाथाओंका क्रमसे तिलोयपण्णत्तीकी निम्न गाथाओंसे मिलान किया जा सकता है—

जं. प. द्वितीय उद्देश–(१) ४०, (२) ४१, (३) ९७, (४) १२०, (५) १४६, (६) १५२, (७) १५५, (८) १५६, (९) १९९, (१०) २००, (११) २०१, (१२) चतुर्थ उ. ४५, (१३) ११३, (१४) ११४, (१५) २१३ से २१९, (१६) सातवां उ. १४८, (१७) तेरहवां उ. १६, (१८) २७.

ति. प. चतुर्थ महाधिकार– (१) १२६, (२) १३९, (३) २४०, (४) ३३४, (५) ३६८, (६) ३७२, (७) ३३७, (८) ३३८, (९) १५१९, (१०) १५४१, (११) १५१८, (१२) १८१५-(१३) २२७९, (१४) २२८०, (१५) आठवां म. २६० से २६६, (१६) चतुर्थ म. २६९, (१७) प्रथम म. ९८, (१८) १०९.

२ **मूलाचार**– यह श्री वट्टकेराचार्यविरचित मुनियोंके आचारका सांगोपांग वर्णन करनेवाला एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसके पर्याप्तिसंग्रहिणी नामक १२ वें अधिकारमें कुछ अन्य भी विविध विषयोंका संग्रह किया गया है (देखिये ति. प. २, प्रस्तावना पृ. ४२)। इस अधिकारमें आयी हुई निम्न गाथायें जंबूदीवपण्णत्तीके कर्ता द्वारा सीधी इसी ग्रन्थसे अथवा पीछेके किसी अन्य ग्रन्थमें उद्धृत देखकर ली गयी हैं—

जं. प. ११	१३७–३८,	१३९	१४०–४१	१७८	३५३	१२, ९५–९६	१३–४३
मूला १२	७५–७६	२१	१०९–१०	७४	७८	८१–८२	८५

३ **त्रिलोकसार**– श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा विरचित यह एक भूगोल विषयक अनुपम ग्रन्थ है। इसकी रचना प्रौढ़ और अपने आपमें परिपूर्ण है। इसमें जैन भूभागसे सम्बद्ध प्रायः सभी विषयोंका समावेश है। यहां पूर्वपरम्परासे आई हुई तथा कितने ही पूर्वाचार्योंकी भी सैकड़ों गाथाओंको इस प्रकारसे आत्मसात् कर लिया गया है कि उनकी पृथक्ताका बोध ही नहीं होता। जंबूदीवपण्णत्तीमें अनेक गाथायें ऐसी हैं जो ज्योंकी त्यों या कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ त्रिलोकसारमें भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरण स्वरूप ऐसी कुछ गाथायें ये हैं—

जं. प.	४, ३४	१३, ३५	१३, ३६	१३, ३७	१३, ३८–४१	१३, ४३	६, ७	६, ११
त्रि. सा.	९६	९५	९३	९४	९९–१०२	९२	७६१	७६४

(१) इनमें गाथा ४-३४ बृहत्क्षेत्रसमास (१-७) में भी इसी रूपमें पायी जाती है।

(२) गा. १३-३५ ज्योतिष्करण्डमें (गा. ७८) भी पायी जाती है। वहां इसके चतुर्थ चरणमें 'पल्लं' के स्थानमें 'जाण' पद पाया जाता है।

(३) गाथा १३-३६ सर्वार्थसिद्धि (३-३८) में उद्धृत पायी जाती है।

(४) गा. १३-३७ त्रिलोकसारमें कुछ परिवर्तित रूपमें है जो इस प्रकार है—

सत्तमजम्मावीणं सत्तदिणब्भंतरम्हि गहिदेहिं।
सण्णट्ठं सण्णिचिदं भरिदं वालग्गकोडीहिं॥ ९४॥

यही गाथा जंबूदीवपण्णत्तीसे बहुत कुछ समानता रखती हुई ज्योतिष्करण्डमें भी इस प्रकार उपलब्ध होती है—

एकाहिय-बेहिय-तेहियाण उक्कोससत्तरत्ताणं।
सम्मट्ठं सन्निचियं भरियं वालग्गकोडीणं॥ ७९॥

यहां टीकाकार श्री मलयगिरिने एकाहिक आदि पदोंका अर्थ इस प्रकार किया है— मुण्डिते शिरसि या एकेनाह्ना प्ररूढास्ता एकाहिकाः, या द्वाभ्यामहोभ्यां ता द्व्याहिकाः, यास्त्रिभिरहोभिस्तास्त्र्याहिकाः। 'सम्मट्ठं' का अर्थ 'संमृष्टं–आकर्णभृतम्' किया है।

(५) गा. १३-३८ त्रिलोकसारमें कुछ परिवर्तित रूपमें है—

वस्ससदे वस्ससदे एक्केक्के अवहिदम्हि जो कालो।
तक्कालसमयसंखा णेया ववहारपल्लस्स॥ ९९॥

यही गाथा जंबूदीवपण्णत्तीसे कुछ थोडे ही परिवर्तनके साथ ज्योतिष्करण्डमें इस प्रकार उपलब्ध होती है—

वाससए वाससए एक्केक्के अवहियंमि जो कालो।
सो कालो नायव्वो उवमा एक्कस्स पल्लस्स॥ ८१॥

(६) गा. १३, ३९-४० त्रिलोकसारमें कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ इस प्रकार पायी जाती हैं जिससे पल्यविषयक मान्यताभेद भी सूचित होता है—

ववहारेयं रोमं छिण्णमसंखेज्जवाससमयेहिं।
उद्धारे ते रोमा तक्कालो तत्तियो चेव॥ १००॥
उद्धारेयं रोमं छिण्णमसंखेज्जवाससमयेहिं।
अद्धारे ते रोमा तत्तियमेत्तो य तक्कालो॥ १०१॥

(७) गा. १३-४१ ज्योतिष्करण्ड (गा. २) में भी पायी जाती है। जंबूदीवपण्णत्तीमें इसका अन्तिम चरण है— उवमा एक्कस्स परिमाणं। इसके स्थानमें त्रिलोकसारमें 'हवेज्ज एक्कस्स परिमाणं' और ज्योतिष्करण्डमें 'एक्कस्स भवे परीमाणं' है। ये दोनों पाठ संगत हैं, परन्तु जं. प. में प्रयुक्त 'उवमा' पद पुनरुक्त है।

(८) गा. १३-४३ मूलाचार (१२-८५) में भी पायी जाती है।

(९) गा. ६-११ बृहत्क्षेत्रसमास (१-४१) में भी यत्किंचित् शब्दपरिवर्तनके साथ पायी जाती है।

४ जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र— उक्त नामसे प्रसिद्ध एक ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी विद्यमान है। यह पांचवां उपांग ग्रन्थ माना जाता है। वहां सर्वप्रथम मंगलके रूपमें पंचनमस्कार मंत्र प्राप्त होता है। तत्पश्चात्

४ अन्य ग्रंथोंसे तुलना

जंबूदीवपण्णत्तिकी रचनाके समय उसके कर्ताने किन ग्रन्थोंका उपयोग किया है, यह निश्चित रूपसे नहीं बतलाया जा सकता है। तथापि जिन प्राचीन ग्रंथोंसे उसका कुछ साम्य व वैषम्य दिखाई देता है वे निम्न प्रकार हैं—

१ **तिलोयपण्णत्ती**— यह जैन भूगोल विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं और सम्भवतः वर्तमानमें उपलब्ध इस विषयके सब ग्रन्थोंमें प्राचीनतम भी है। इसका प्रकाशन इसी ग्रन्थमालासे २ भागोंमें हो चुका है। जंबूदीवपण्णत्तीकी रचनाके समय यह ग्रन्थ उसके रचयिताके सामने रहा है और उसका उपयोग भी खूब किया गया है। तुलनात्मक दृष्टिसे इन दोनों ग्रन्थोंके विषयमें तिलोयपण्णत्तीकी प्रस्तावनामें (देखिये भा. २, प्रस्तावना पृ. ६८–७३) बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वहां तिलोयपण्णत्तीकी ऐसी कितनी ही गाथाओंका उल्लेख कर दिया गया है जिन्हें मुनि पद्मनन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थमें विना किसी परिवर्तनके अथवा यत्किंचित् परिवर्तनके साथ ले लिया है। वहां निर्दिष्ट गाथाओंके अतिरिक्त जंबूदीवपण्णत्तीकी और भी निम्न गाथाओंका क्रमसे तिलोयपण्णत्तीकी निम्न गाथाओंसे मिलान किया जा सकता है—

जं. प. द्वितीय उद्देश– (१) ४०, (२) ४१, (३) ९७, (४) १२०, (५) १४६, (६) १५२, (७) १५५, (८) १५६, (९) १९९, (१०) २००, (११) २०१, (१२) चतुर्थ उ. ४५, (१३) ११३, (१४) ११४, (१५) २१३ से २१९, (१६) सातवां उ. १४८, (१७) तेरहवां उ. १६, (१८) २७.

ति. प. चतुर्थ महाधिकार– (१) १२६, (२) १३९, (३) २४०, (४) ३३४, (५) ३६८, (६) ३७२, (७) ३३७, (८) ३३८, (९) १५१९, (१०) १५४१, (११) १५१८, (१२) १८१५- (१३) २२७९, (१४) २२८०, (१५) आठवां म. २६० से २६६, (१६) चतुर्थ म. २६९, (१७) प्रथम म. ९८, (१८) १०९.

२ **मूलाचार**— यह श्री वट्टकेराचार्यविरचित मुनियोंके आचारका सांगोपांग वर्णन करनेवाला एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसके पर्याप्तिसंग्रहिणी नामक १२ वें अधिकारमें कुछ अन्य भी विविध विषयोंका संग्रह किया गया है (देखिये ति. प. २, प्रस्तावना पृ. ४२)। इस अधिकारमें आयी हुई निम्न गाथायें जंबूदीवपण्णत्तीके कर्ता द्वारा सीधी इसी ग्रन्थसे अथवा पीछेके किसी अन्य ग्रन्थमें उद्धृत देखकर ली गयी हैं—

जं. प. ११	१३७–३८,	१३९	१४०–४१	१७८	३५३	१२, ९५–९६	१३–४३
मूला १२	७५–७६	२१	१०९–१०	७४	७८	८१–८२	८५

३ **त्रिलोकसार**— श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा विरचित यह एक भूगोल विषयक अनुपम ग्रन्थ है। इसकी रचना प्रौढ़ और अपने आपमें परिपूर्ण है। इसमें जैन भूभागसे सम्बद्ध प्रायः सभी विषयोंका समावेश है। यहां पूर्वपरम्परासे आई हुई तथा कितने ही पूर्वाचार्योंकी भी सैकड़ों गाथाओंको इस प्रकारसे आत्मसात् कर लिया गया है कि उनकी पृथक्ताका बोध ही नहीं होता। जंबूदीवपण्णत्तीमें अनेक गाथायें ऐसी हैं जो ज्योंकी त्यों या कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ त्रिलोकसारमें भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरण स्वरूप ऐसी कुछ गाथायें ये हैं—

जं. प.	४, ३४	१३, ३५	१३, ३६	१३, ३७	१३, ३८–४१	१३, ४३	६, ७	६, ११
त्रि. सा.	९६	९५	९३	९४	९९–१०२	९२	७६१	७६४

(१) इनमें गाथा ४–३४ बृहत्क्षेत्रसमास (१–७) में भी इसी रूपमें पायी जाती है।

(२) गा. १३–३५ ज्योतिष्करण्डमें (गा. ७८) भी पायी जाती है। वहां इसके चतुर्थ चरणमें 'पल्लं' के स्थानमें 'जाण' पद पाया जाता है।

(३) गाथा १३–३६ सर्वार्थसिद्धि (३–३८) में उद्धृत पायी जाती है।

(४) गा. १३–३७ त्रिलोकसारमें कुछ परिवर्तित रूपमें है जो इस प्रकार है—

सत्तमजम्मावीणं सत्तदिणब्भंतरम्हि गहिदेहिं।
सण्णट्ठं सण्णिचिदं भरिदं वालग्गकोडीहिं ॥ ९४ ॥

यही गाथा जंबूदीवपण्णत्तीसे बहुत कुछ समानता रखती हुई ज्योतिष्करण्डमें भी इस प्रकार उपलब्ध होती है—

एकाहिय-बेहिय-तेहियाण उक्कोससत्तरत्ताणं।
सम्मट्ठं सन्निचियं भरियं वालग्गकोडीणं ॥ ७९ ॥

यहां टीकाकार श्री मलयगिरिने एकाहिक आदि पदोंका अर्थ इस प्रकार किया है— मुण्डिते शिरसि या एकेनाह्ना प्ररूढास्ता एकाहिकाः, या द्वाभ्यामहोभ्यां ता द्व्याहिकाः, यास्त्रिभिरहोभिस्तास्त्र्याहिकाः। 'सम्मट्ठं' का अर्थ 'संमृष्ट–आकर्णभृतम्' किया है।

(५) गा. १३–३८ त्रिलोकसारमें कुछ परिवर्तित रूपमें है—

वस्ससदे वस्ससदे एक्केक्के अवहिदम्हि जो कालो।
तक्कालसमयसंखा णेया ववहारपल्लस्स ॥ ९९ ॥

यही गाथा जंबूदीवपण्णत्तीसे कुछ थोडे ही परिवर्तनके साथ ज्योतिष्करण्डमें इस प्रकार उपलब्ध होती है—

वाससए वाससए एक्केक्के अवहियंमि जो कालो।
सो कालो नायव्वो उवमा एक्कस्स पल्लस्स ॥ ८१ ॥

(६) गा. १३, ३९–४० त्रिलोकसारमें कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ इस प्रकार पायी जाती हैं जिससे पल्यविषयक मान्यताभेद भी सूचित होता है—

ववहारेयं रोमं छिण्णमसंखेज्जवाससमयेहिं।
उद्धारे ते रोमा तक्कालो तत्तियो चेव ॥ १०० ॥
उद्धारेयं रोमं छिण्णमसंखेज्जवाससमयेहिं।
अद्धारे ते रोमा तत्तियमेत्तो य तक्कालो ॥ १०१ ॥

(७) गा. १३–४१ ज्योतिष्करण्ड (गा. २) में भी पायी जाती है। जंबूदीवपण्णत्तीमें इसका अन्तिम चरण है– उवमा एक्कस्स परिमाणं। इसके स्थानमें त्रिलोकसारमें 'हवेज्ज एक्कस्स परिमाणं' और ज्योतिष्करण्डमें 'एक्कस्स भवे परीमाणं' है। ये दोनों पाठ संगत हैं, परन्तु जं. प. में प्रयुक्त 'उवमा' पद पुनरुक्त है।

(८) गा. १३–४३ मूलाचार (१२–८५) में भी पायी जाती है।

(९) गा. ६–११ बृहत्क्षेत्रसमास (१–४१) में भी यत्किंचित् शब्दपरिवर्तनके साथ पायी जाती है।

४ जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र— उक्त नामसे प्रसिद्ध एक ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी विद्यमान है। यह पांचवां उपांग ग्रन्थ माना जाता है। वहां सर्वप्रथम मंगलके रूपमें पंचनमस्कार मंत्र प्राप्त होता है। तत्पश्चात्

ग्रन्थावतारके सम्बन्धमें यहां यह बतलाया गया है कि उस कालमें उस समय मिथिला नामकी समृद्ध नगरी थी। उसके बाहिर उत्तर-पूर्व (ईशान) दिशाभागमें यहां माणिभद्र नामका चैत्य था। राजाका नाम जितशत्रु और रानीका नाम धारिणी था। उस समय वहां महावीर स्वामीका आगमन हुआ। परिषद् आयी और धर्मश्रवण कर वापिस गयी। उस समय श्रमण भगवान् महावीरके ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार थे। गोत्र उनका गोतम था। वे सात हाथ ऊंचे और समचतुरस्त्रसंस्थानसे सहित थे। उन्होंने तीन वार आदाहिण-पदाहिण करके भगवानकी वन्दना की और नमस्कार किया। तत्पश्चात् वे बोले कि भगवन्! जंबूद्वीप कहां है, वह कितना बड़ा है, और किस आकारका है ? इस क्रमसे उन्होंने जंबूद्वीपके विषयमें अनेक प्रश्न पूछे और तदनुसार भगवान्ने उसी क्रमसे उनके प्रश्नोंका उत्तर दिया।

इन्द्रभूति गणधरका अन्तिम प्रश्न यह था कि भगवन्! जंबूद्वीपको इस नामसे क्यों कहा गया है ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि हे गौतम! इस जंबूद्वीप नामक द्वीपमें बहुतसे जंबूवृक्ष और जंबूवनखण्ड स्थित हैं। यहां सुदर्शन नामका जंबूवृक्ष है जिसके ऊपर अनादृत नामका एक महर्द्धिक देव रहता है। इसी कारण इस द्वीपको जंबूद्वीप कहा जाता है।

उस समय श्रमण भगवान् महावीरने मिथिला नगरीमें माणिभद्र चैत्यके भीतर बहुत श्रमणों, बहुत श्रमणियों, बहुत श्रावकों, बहुत श्राविकाओं, बहुत देवों और बहुत देवियोंके मध्यमें स्थित होकर इस प्रकार व्याख्यान किया, भाषण किया, और प्रज्ञापन किया। इसीका नाम 'जंबूदीवपण्णत्ती' या 'जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति' हुआ।

विषयक्रमके अनुसार इस ग्रन्थको निम्न १० अधिकारोंमें विभक्त किया जा सकता है— १ भरत क्षेत्र २ काल ३ चक्रवर्ती ४ वर्ष-वर्षधर ५ तीर्थंकराभिषेक ६ खण्ड-योजनादि ७ ज्योतिषचक्र ८ संवत्सर ९ नक्षत्र और १० समुच्चय।

१ भरत क्षेत्र— इस अधिकारमें जंबूद्वीपकी जगती, भरत क्षेत्र, वैताढ्य पर्वत, सिद्धायतन, दक्षिणार्ध भरत कूट देवकी राजधानी (अन्य जंबूद्वीपस्थ), उत्तरार्ध भरत और वृषभ कूट पर्वतका वर्णन है।

२ काल— इस अधिकारमें सर्वप्रथम अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालोंके ६-६ भेदोंका निर्देश करके आवलिका, उच्छ्वास, निःश्वास और मुहूर्त आदिका प्रमाण बतलाया गया है। तत्पश्चात् परमाणुको दो भेदोंमें विभक्त कर उसका स्वरूप[1] बतलाते हुए उसण्हसण्हिया (अवसन्नासन्न), सण्हिसण्हिया, ऊर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु; क्रमशः देव-उत्तरकुरु, हरिवर्ष-रम्यकवर्ष, हैमवत-हैरण्यवत वर्ष एवं पूर्वापरविदेहोंमें उत्पन्न मनुष्योंका बालाग्र; लिक्षा, यूक, यवमध्य और अंगुलके प्रमाणकी प्ररूपणामें इन सबको उत्तरोत्तर क्रमसे आठ आठ गुणा बतलाया गया है[2]। आगे चलकर १० प्रकारके कल्पवृक्षोंका उल्लेख करके उस कालमें उत्पन्न हुए नर-नारियोंके आकारका वर्णन किया गया है। यहां मानुषियोंकी प्ररूपणामें पैरसे लेकर क्रमशः ऊपरके सभी अंगों व उपांगोंका वर्णन है। इसके अतिरिक्त यहां उन ३२ लक्षणोंका भी नामोल्लेख (पृ. ५५-५६) कर दिया गया है जिनकी धारक नारियां हुआ करती हैं।

---

१ तुलनाके लिये प्रस्तुत ग्रन्थ (दि. जं. प.) की गाथा १३, १६-१८ देखिये।

२ तुलनाके लिये प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा १३, १९-२३ देखिये। इस प्रकरणमें जो 'सत्थेण सुतिक्खेण वि' आदि गाथा (१३-१८) आयी है वह अपने इसी रूपमें इस (श्वे.) जंबूदीवपण्णत्ती (पृ. ४२), अनुयोगद्वार सूत्र, ज्योतिषकरण्ड (गा. २, ७३) और कुछ परिवर्तित रूपसे तिलोयपण्णत्ती (१-९६) में भी पायी जाती है।

यहां सुषम-सुषमा, सुषमा और सुषमदुःषमा कालोंके नर-नारियोंकी आयु, शरीरोत्सेध, पृष्ठकरण्डक (पृष्ठास्थियां) और बालरक्षण आदिका वर्णन प्रायः दिगम्बर जंबूदीवपण्णत्ती[1] और तिलोयपण्णत्ती[2] आदिके समान ही पाया जाता है। सुषम-दुःषमा नामक तीसरे कालके अन्तिम त्रिभागमें जब पल्योपमका आठवां भाग शेष रह जाता है तब ऋषभ जिनको भी ग्रहण करके १५ कुलकर पुरुष उत्पन्न होते हैं। इनके नाम प्रायः सर्वत्र समान ही पाये जाते हैं।

ऋषभ जिनेन्द्रके वर्णनमें यहां यह बतलाया है कि दीक्षा ग्रहण करते समय उन्होंने चतुर्मुष्टि लोच[3] किया तथा साधिक एक वर्ष तक वे चीवर (देवदूष्य) के धारी रहे। वे वर्षाकालको छोड़कर हेमंत और ग्रीष्म ऋतुओंमें ग्राममें १ रात्रि और नगरमें ५ रात्रि रहते थे। इनके पांच कल्याणक (गर्भावतार, जन्म, राज्याभिषेक, दीक्षा एवं केवलज्ञान) उत्तराषाढ नक्षत्रमें तथा छठा (परिनिर्वाण) कल्याणक अभिजित् नक्षत्रमें सम्पन्न हुआ था। उनके निर्वाणकालके समय सुषमदुःषमा कालमें ८९ पक्ष (३ वर्ष ८ माह और १५ दिन) शेष रहे थे[4]।

णिर्वाण महोत्सवमें सौधर्म इन्द्रने चतुर्निकाय देवोंको आज्ञा देकर एक भगवान् तीर्थंकरके लिये, एक गणधरोंके लिये और एक शेष अनगारोंके लिये; इस प्रकार ३ चिताओंकी रचना करायी। तब शक्र देवेन्द्रने तीर्थंकरके शरीरको क्षीरोदकसे नहलाया, गोशीर्ष चन्दनसे लेपन किया, हंसलक्षण पटशाटक (वस्त्र) पहिनाया, और सब अलंकारोंसे विभूषित किया। फिर ३ शिविकाओंकी विक्रिया कराकर उनमें शोकसे संतप्त होते हुए क्रमशः तीर्थंकर, गणधरों एवं शेष अनगारोंके शरीरको आरूढ कर चिताओंमें स्थापित किया। तत्पश्चात् देवेन्द्रने अग्निकुमार और वायुकुमार देवोंको बुलाकर उनके द्वारा क्रमशः अग्निकाय और वायुकायकी विक्रिया करायी। इस प्रकार निर्वाणमहोत्सव करके उपर्युक्त सौधर्म आदि इन्द्रोंने नन्दीश्वर द्वीपमें जाकर अंजनगिरि आदि नियत स्थानोंमें ८ दिन तक महामहिमा की। पश्चात् वहांसे अपने अपने स्थानमें आकर उन्होंने तीर्थंकरके सकह (दंष्ट्रा) आदि जिन अंग-उपांगोंको ले लिया था उन्हें यहां अपने अपने विमानादिके पास वज्रमय गोल समुग्गयों (डिब्बों) में रक्खा।

अन्तमें यहां क्रमसे दुःषमसुषमा, दुःषमा और दुःषमदुःषमा कालोंमें होनेवाली नर-नारियोंकी अवस्थाओंका भी वर्णन किया गया है[5]।

३ चक्रवर्ती– यहां सर्वप्रथम गौतम गणधर भगवान्से प्रश्न करते हैं कि हे भगवन्! इस भरत वर्षको भरत वर्ष नामसे क्यों कहा जाता है? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने उक्त क्षेत्रकी 'भरत' इस संज्ञाका कारण भरत चक्रवर्तीको बतलाते हुए उनके चरित्रका विस्तारसे वर्णन किया है। उक्त वर्णनमें यहां विनीता नगरी, भरत चक्रवर्तीकी सुन्दरता, चक्र रत्नकी उत्पत्ति, तन्निमित्तक महोत्सव प्रवर्तन, दिग्विजय[6], ऋषभ कूट

---

१ देखिये दि. जं. प. गा. २, ११०–१६५.

२ ति. प. ४, ३३६-४०९.

३ एक मुष्टि शिखास्थानकी रही, सुन्दर दिखनेके कारण इन्द्रके आग्रहसे उसका लोच नहीं किया (जं. प्र. पृ. ८० में दी गयी टिप्पणके अनुसार)।

४ ति. प. ४-५५३

५ तुलनाके लिये देखिये प्रस्तुत जं. प. गाथा २, १७७–२०९;

६ तुलनाके लिये देखिये प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा ७, ११५–१४५; ति. प. ४, १३०४–६९.

पर्वतके पूर्व कटकपर नामलेखन[1], विनमी विद्याधरके द्वारा भेटमें स्त्री रत्न (सुभद्रा) और नमी विद्याधरके द्वारा रत्नोंका समर्पण, सुभद्रासौन्दर्य, भरत चक्रवर्तीका निधियों और रत्नोंकी प्राप्तिके लिये अष्टमभक्त ग्रहण करना, नौ निधियोंकी प्राप्ति और उनका स्वरूप[2], चक्र रत्नका वापिस विनीता राजधानीकी ओर प्रयाण करना, विनीता राजधानीमें प्रवेश, भरत राजाके द्वारा १६००० देवों और ३२००० राजाओं आदिका यथायोग्य सत्कार, महा राज्याभिषेक, १४ रत्नोंके उत्पत्तिस्थान[3], चक्रवर्तीकी विभूति[4], कदाचित् मज्जनगृहसे निकलकर आदर्श-गृहमें प्रविष्ट हो आत्मनिरीक्षण करते हुए भरत राजाको शुभ परिणामोंके निमित्तसे आवरणीय कर्मोंके क्षयपूर्वक केवलज्ञान एवं केवलदर्शनकी प्राप्ति, स्वयमेव आभरणालंकारका परित्याग, पंचमुष्टि लोच करना, आदर्शगृहसे निकलकर प्रव्रज्याका ग्रहण करना, कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्यायमें रहकर चार अघाति कर्मोंके क्षीण होनेपर निर्वाणप्राप्ति, तथा भरत क्षेत्रमें पल्योपम आयुवाले महर्द्धिक भरत देवके निवासका निर्देश, इत्यादि विषयोंका यहां विस्तारपूर्वक कथन किया गया है।

४ वर्ष-वर्षधर— यहां क्षुद्र हिमवान् पर्वतका वर्णन करते हुए उसके अवस्थान, विस्तारादि, उसके उपरिम भागमें स्थित पद्मद्रह, उसके मध्यमें स्थित कमल, उसके भी मध्यमें स्थित भवन, श्रीदेवीके परिवारदेव-देवियोंके कमलभवन[5], श्रीदेवीका निवास, पद्मद्रहके पूर्व तोरण द्वारसे गंगा महानदीका निर्गमन, पर्वतसे गंगा नदीके पतनस्थानमें जिह्विका (नाली) का अवस्थान, गंगाप्रपातकुण्ड, तोरण, गंगाप्रपातकुण्डके मध्यमें स्थित गंगाद्वीप, वहां गंगादेवीका भवन तथा १४ हजार नदियोंसे पुष्ट हुई गंगा महानदीका पूर्व लवणसमुद्रमें प्रवेश; इन सबका यहां वैसा ही वर्णन किया गया है जैसा कि जंबूदीवपण्णत्ती और तिलोयपण्णत्ती आदि अन्य दिगम्बर ग्रन्थोंमें।

आगे चलकर सिंधू नदीके वर्णनक्रमको गंगा नदीके समान बतलाकर उसकी कुछ विशेषताओंका निर्देश करते हुए रोहितंसा नदीके उद्गम आदिका वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् क्षुद्र हिमवान्के ऊपर अवस्थित ११ कूटोंका नामोल्लेख करके सिद्धायतन कूट और क्षुद्र हिमवान् कूटका निरूपण विशेष रूपसे किया गया है।

तत्पश्चात् यहां क्रमसे हैमवत वर्ष, महाहिमवान् पर्वत, हरिवर्ष, निषध पर्वत, महाविदेह, नीलवान् पर्वत, रम्यक वर्ष, रुक्मी पर्वत, हैरण्यवत वर्ष, शिखरी पर्वत और ऐरावत वर्ष; इन क्षेत्र-पर्वतोंकी विस्तृत प्ररूपणा की गई है।

५ तीर्थंकराभिषेक— इस अधिकारमें दिक्कुमारिकाओं तथा सपरिवार सब इन्द्रोंके द्वारा अपनी अपनी विभूतिके साथ मेरु पर्वतके ऊपर किये जानेवाले जिनजन्माभिषेककी प्ररूपणा की है।

---

१ उस्सप्पिणी इमीसे तइयाए समाइ पच्छिमे भाए। अहमंसि चक्कवट्टी भरहो इअ नामधिज्जेण ॥१॥ अहमंसि पढमराया अहमं भरहाहिवो णरवरिंदो। णत्थिमहं पडिसत्तू जियं मए भारहं वासं ॥ २ ॥ पृ. २१८. तुलनाके लिये देखिये प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा ७, १४६–४९. ति. प. ४, १३५१–५५.

२ देखिये पृ. २२७ सूत्र ८९–९० गा. १–१४; तुलनाके लिये देखिये ति. प. ४, १३८४–८६.

३ पृ. २५८ सूत्र १२०.; ति. प. ४, १३७७–८२.

४ पृ. २५९ सूत्र १२१.; ति. प. ४, १३७०–१४००.

५ कमलोंकी समस्त संख्या यहां (पृ. २७४) १२० लाख बतलाई गई है जब कि प्रस्तुत जं. प. (३, १२६) और ति. प. (४, १६८९) में वह १४०११६ ही निर्दिष्ट की गई है।

६ खण्डयोजनादि— इस अधिकारमें भरत क्षेत्र (५२६$\frac{6}{19}$) प्रमाण जंबूद्वीपके खण्ड, उसका क्षेत्रफल, वर्षसंख्या, पर्वतसंख्या, कूटसंख्या, तीर्थसंख्या (मागध आदि), विद्याधरश्रेणिसंख्या, चक्रवर्ति-क्षेत्रादिसंख्या, महाद्रहसंख्या तथा नदीसंख्याका निर्देश किया गया है ।

७ ज्योतिषचक्र— इस अधिकारमें चन्द्र-सूर्यादिकोंकी संख्याका निर्देश करके सूर्यमण्डलोंकी संख्या, उनका क्षेत्र, अन्तर व विस्तारादि, दिन-रात्रिप्रमाण, तापक्षेत्र, चन्द्र-सूर्यादिकी उत्पत्ति, इन्द्रच्युति तथा चन्द्रमण्डलों और नक्षत्रमण्डलोंकी संख्या आदिकी प्ररूपणा की गई है ।

८ संवत्सर— यहां नक्षत्रसंवत्सर, युगसंवत्सर, प्रमाणसंवत्सर, लक्षणसंवत्सर और शनिश्चरसंवत्सर, इन ५ संवत्सरोंका निर्देश करके इनमेंसे प्रत्येकके भी पृथक् पृथक् भेद बतलाये गये हैं । आगे संवत्सरके मासोंका उल्लेख करते हुए श्रावण आदि आषाढ पर्यन्त मासनामोंको लौकिक बतलाया गया है । इनके लोकोत्तरीय नाम ये हैं— १ अभिनंदित, २ प्रतिष्ठ, ३ विजय, ४ प्रीतिवर्धन, ५ श्रेयःश्रेय, ६ शिव, ७ शिशिर, ८ हेमंत, ९ वसंत, १० कुसुमसंभव, ११ निदाघ और १२ वनविरोध । इसी प्रकार १५ दिन और उनकी तिथियोंके तथा १५ रात्रि और उनकी भी तिथियोंके नामोंका उल्लेख करते हुए एक एक अहोरात्रके ३० मुहूर्तोंका निर्देश किया गया है ।

इसी अधिकारमें बव व बालव आदि ११ करणोंका विवरण करते हुए चन्द्रसंवत्सरको आदि संवत्सर, दक्षिणायनको आदि अयन, वर्षाऋतुके आदि ऋतु, श्रावण मासको आदि मास, कृष्ण पक्षको आदि पक्ष, अहोरात्रिमें आदि दिन, रुद्र मुहूर्तको आदि मुहूर्त, बव करणको आदि करण, तथा अभिजित् नक्षत्रको आदि नक्षत्र बतलाया है ।

९ नक्षत्र— यहां २८ नक्षत्रोंके नामोंका निर्देश करके योग, देवता, गोत्र, संस्थान, चंद्र-सूर्य-योग, कुल, पूर्णिमा, अमावस्या और संनिपात; इनके आश्रयसे उनकी विशेष प्ररूपणा की गई है ।

१० ज्योतिषचक्र— यहां चन्द्र-सूर्य विमानोंके नीचे-ऊपर ताराओंकी विविधरूपता, उनका परिवार, मेरुसे अन्तर, लोकान्तसे अन्तर, पृथिवीतलसे अन्तर, अन्य नक्षत्रोंके अभ्यन्तर, बाह्य एवं नीचे ऊपर नक्षत्रोंका संचार, विमानोंकी आकृति व प्रमाण, उनके वाहक देव, गति, ऋद्धि, तारान्तर, अग्रमहिषी, परिषद्, स्थिति तथा अल्पबहुत्व; इन सबका वर्णन किया गया है ।

११ समुच्चय— इस अधिकारमें जंबूद्वीपस्थ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव, इनकी जघन्य व उत्कर्षसे संख्या बतलाकर कितनी निधियां व रत्न चक्रवर्तीके उपभोगमें आते हैं; इसका निरूपण किया है । अन्तमें जंबूद्वीपके आयाम आदिका उल्लेख करके उसकी शाश्वतिक-अशाश्वतिकता आदिकी चर्चा की गई है ।

५ ज्योतिष्करण्ड— यह वालभ्य वाचनाका अनुसरण करनेवाले किसी आचार्यके द्वारा रचा गया है । इसमें निम्न २१ अधिकार हैं— १ कालप्रमाण २ संवत्सरप्रमाण ३ अधिकमासनिष्पत्ति ४ पर्व-तिथि-समाप्ति ५ अवमरात्र ६ नक्षत्रपरिमाण ७ चन्द्रसूर्यपरिमाण ८ चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रगति ९ नक्षत्रयोग १० चन्द्र-सूर्यमण्डलविभाग ११ अयन १२ आवृत्ति १३ मण्डलमें मुहूर्तगतिपरिमाण १४ ऋतुपरिमाण १५ विषुव १६ व्यतिपात १७ तापक्षेत्र १८ दिवसवृद्धि १९ अमावस्या-पौर्णमासी २० प्रणष्ट पर्व और २१ पौरुषी । उपर्युक्त विषयोंका सूर्यप्रज्ञप्तिमें जो विस्तृत वर्णन पाया जाता है उसका प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ताने यहां संक्षेप किया है ।

यहां कुछ ऐसी अनेक गाथायें हैं जो जंबूदीवपण्णत्ती और ज्योतिष्करण्ड दोनों ही ग्रन्थोंमें समान रूपमें पायी जाती हैं। यदि कहीं कुछ विभक्तिभेद या शब्दभेद है भी तो वह नगण्य ही है। कितनी ही परम्परागत प्राचीन गाथाओंके उपलब्ध रहनेसे हालमें उनके पूर्वापरक्रमको स्थिर करना कुछ अशक्यसा है। फिर भी भविष्यमें अन्वेषणकर्ताओंके लिये यह उपयोगी सामग्री बन सके, इसी विचारसे उनको तुलनात्मक दृष्टिसे यहां उपस्थित किया जाता है।

दोनों ग्रन्थोंमें उपलब्ध समान गाथायें—

जं. प.	२,२४	२,१११	६,९	१२,१०६	१२,१०९	१२,११०	१३,४	१३,११–१२	१३,१५	१३,१८	१३,२२	१३,३५	१३,३७	१३,३८	१३,४१	१३,४२
ज्यो.क.	१८१	८५	१८०	१२०	१२३	१२४	८८	६२–६३	७२	७३	७४	७८	७९	८१	८२	८३

(१) गाथा २,२४ में प्रयुक्त शब्द दोनोंमें समान हैं, किन्तु वे परिवर्तित रूपमें हैं। यह गाथा ज्योतिष्करण्डके अनुसार बृहत्क्षेत्रसमास (१,३९) में भी पायी जाती है।

(२) गा. २,१११ ज्योतिष्करण्डमें इस प्रकार है—

सुसमसुसमा य सुसमा हवई तह सुसमदुस्समा चेव।
दूसमसुसमा य तहा दूसम अइदुस्समा चेव ॥ ८५ ॥

आगे दोनों ग्रन्थों (जं. प. ११२–११४ और ज्यो. क. ८६-८७) में इन कालोंके प्रमाणकी प्ररूपणा समान रूपसे की गई है।

(३) गाथा ६,९ कुछ थोड़ेसे परिवर्तनके साथ ज्योतिष्करण्ड (१८०) और बृहत्क्षेत्रसमास (१,३६) में इस प्रकार पायी जाती है—

ओगाहूणं विक्खंभमो उ उग्गाहसंगुणं कुज्जा।
चउहि गुणियस्स मूलं मंडलखेत्तस्स अवगाहो ॥

बृहत्क्षेत्रसमासमें 'अवगाहो'के स्थानमें 'सा जीवा' पाठ है। ज्योतिष्करण्डमें यद्यपि 'अवगाहो' पाठ है, परन्तु टीकाकार श्री मलयगिरिने 'जीवा' पदको लक्ष्यमें रखकर ही उसकी टीका की है। यथा······स 'मण्डलक्षेत्रस्य' वृत्तक्षेत्रस्य प्रस्तावादिह जम्बूद्वीपस्य सम्बन्धिनो विवक्षितस्यैकदेशस्य भरतादेरारोपित–धनुराकारस्य जीवा प्रत्यंचा भवति। ये ही टीकाकार बृहत्क्षेत्रसमासके भी हैं।

इससे मिलता-जुलता करणसूत्र त्रिलोकसारमें इस प्रकार है— इसुहीणं विक्खभं चउगुणिदिसुणा हदे दु जीवकदी (७६० का पूर्वार्ध)।

(४) गा. १२,१०६ दोनोंमें समान स्वरूपमें ही अवस्थित है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जंबूदीवपण्णत्तीमें इस अभिप्रायको प्रगट करनेवाली एक और भी गाथा (१२,१४) पूर्वमें दी जा चुकी है।

(५) गा. १२,१०९-१० में प्रथम गाथा ज्योतिष्करण्डमें इस प्रकार है—

नक्खत्तट्ठावीसं अट्ठासीई महग्गहा भणिया।
एगससीपरिवारो एत्तो ताराविमे सुणसु ॥

दूसरी गाथा (११०) दोनोंमें समान रूपमें ही पायी जाती है। विशेषता यह है कि उपर्युक्त ज्योतिष्करण्डकी गाथामें जो 'एत्तो ताराविमे सुणसु' कहकर आगे ताराओंके प्रमाणके कहनेकी जो प्रतिज्ञा की गयी है उसीका निर्वाह अगली गाथा द्वारा होनेसे यहां इस दूसरी गाथाकी स्थिति दृढ़ है। इन दोनों गाथाओंके पहिले जंबूदीवपण्णत्तीमें जो 'बे चंदा बे सूरा' आदि गाथा (१०८) है वह बृहत्क्षेत्रसमास में भी कुछ नगण्य परिवर्तनके साथ इस प्रकार उपलब्ध होती है—

दो चंदा दो सूरा नक्खत्ता खलु हवंति छप्पन्ना।
छावत्तरं गहसयं जंबूद्दीवे वियारीणं ॥ १-३९५.

इससे आगेकी गाथामें यहां जंबूद्वीपमें संचार करनेवाले ताराओंकी समस्त संख्याका निर्देश किया गया है। यहां इन दोनों गाथाओंकी स्थिति आवश्यक प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि बृहत्क्षेत्रसमासके पांच अधिकारोंमेंसे यहां प्रथम जंबूद्वीपाधिकार समाप्त होता है। अतः पूर्वमें समस्त क्षेत्र-पर्वतादिकोंकी प्ररूपणा करके अन्तमें जंबूद्वीपमें अवस्थित ज्योतिर्गणका भी कुछ न कुछ उल्लेख करना आवश्यक ही था। परन्तु जंबूदीवपण्णत्तीमें ऐसी आवश्यक स्थिति इन गाथाओंकी नहीं प्रतीत होती, कारण कि यहां प्रकारान्तरसे इस अर्थकी प्ररूपणा इससे पूर्वमें ८७ और ८८वीं गाथाओंके द्वारा की ही जा चुकी थी।

(६) गाथा १३, ४ दोनों ग्रन्थोंमें इस प्रकार है;—

कालो परमणिरुद्धो अविभागी तं विजाण समओ त्ति।
सुहुमो अमुत्ति-अगुरुगलहुवत्तणलक्खणो कालो ॥ जं. दी.

× × ×

कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु।
समया य असंखेजा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥ ज्यो. क. ८८.

जहां तक हम इन दोनों गाथाओंकी शब्दरचनापर ध्यान देते हैं तो हमें ज्योतिष्करण्डकी यह गाथा जैसी प्रकरणसंगत प्रतीत होती है वैसी जंबूदीवपण्णत्तीकी नहीं प्रतीत होती। इसका कारण यह है कि ज्योतिष्करण्डकी गाथाके पूर्वार्द्धमें समयका लक्षण बतलाकर आगे उसके उत्तरार्द्ध द्वारा उच्छ्वासनिःश्वासके लक्षणकी प्ररूपणा की गयी है। यहां आवलीका उल्लेख मूलमें नहीं है, पर टीकाकारने उसका उल्लेख कर दिया है। परन्तु जंबूदीवपण्णत्तीकी उक्त गाथाके पूर्वार्द्धमें समयका लक्षण बतलाकर आगे उत्तरार्द्धमें कालका लक्षण बतलाया गया है। इसके आगे कुछ गाथाओं द्वारा फिर आवली आदि अन्य कालभेदोंकी प्ररूपणा की गयी है। इस प्रकार बीचमें जो कालका स्वरूप बतलाया गया है वह जहां गाथा २ में कालके व्यवहार और परमार्थ ये दो भेद बतलाये गये हैं वहां यदि बतलाया जाता तो अधिक उपयोगी होता।

(७) गाथा १३, ११-१२ दोनों ग्रन्थोंमें समान रूपमें ही पायी जाती हैं। इनमें जो कुछ थोड़ासा भेद है भी वह उल्लेख योग्य नहीं है। 'चुलसीदिगुणं हवेज्ज' के स्थानमें जो ज्योतिष्करण्डमें 'चुलसीइगुणाइं होज्ज' पाठ है वह व्याकरणकी दृष्टिमें ग्राह्य ही प्रतीत होता है। दूसरी गाथा (१३, १२) सर्वार्थसिद्धि (३, ३१) में भी उद्धृत देखी जाती है।

आगे जंबूदीवपण्णत्ती (१३ व १४) और ज्योतिष्करण्ड (६४–७१) दोनों ही ग्रन्थोंमें पूर्वसे आगेके कालभेदोंका निर्देश किया गया है। विशेषता यह है कि जहां जंबूदीवपण्णत्तीमें अंगान्त (पर्वांग-नयुतांग आदि) भेदों और उनके गुणकारका कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है वहां ज्योतिष्करण्डमें उन दोनोंका स्पष्टता-

पूर्वक उल्लेख कर दिया गया है। यहां पूर्वके आगे ये कालभेद लतांग, लता, महालतांग, महालता, नलिनांग, नलिन इत्यादि रूपसे भिन्न ही पाये जाते हैं। जंबूदीवपण्णत्तीमें उपर्युक्त दोनों बातोंका उल्लेख न होनेसे उनका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है। यह उपेक्षा प्रकृत कालभेदों विषयक विविध मतभेदोंको लक्ष्यमें रखकर बुद्धिपुरस्सर ही की गयी प्रतीत होती है।

(८) इसके पश्चात् ज्योतिष्करण्डमें यह गाथा आती है जो जं. प. की गा. १३, १५ से बहुत कुछ समानता रखती है—

एसो पण्णवणिज्जो कालो संखेज्जओ मुणेयव्वो।
वोच्छामि असंखेज्जं कालं उवमाविसेसेणं ॥ ७२ ॥

(९) आगे जं. प. में तीन (१६–१८) गाथाओंके द्वारा परमाणुका स्वरूप बतलाया गया है। इनमें प्रथम गाथा 'अंतादिमज्झहीणं' आदि सर्वार्थसिद्धि (५–२५) में भी उद्धृत रूपसे उपलब्ध होती है। तीसरी गाथा 'सत्थेण सुतिक्खेण' आदि ज्योतिष्करण्ड (७३) में प्रायः ज्योंकी त्यों उपलब्ध होती है। यहां 'पमाणेण' के स्थानमें 'पमाणाणं' पाठ है जो परमाणुको आगेके अंगुल आदि रूप अन्य सब प्रमाणोंका आदिभूत प्रगट करता है। यह अभिप्राय 'पमाणेण' पदसे उपलब्ध नहीं होता।

इस गाथाका पूर्वार्द्ध तिलोयपण्णत्ती (१–९६) में भी पाया जाता है। वहां 'किर ण सक्कं' के स्थानमें 'किरस्सक्कं' पाठ है।

प्रकृत गाथामें जो परमाणुका लक्षण किया गया है वह टीकाकार श्री मलयगिरिके अभिप्रायानुसार अनन्त सूक्ष्म परमाणुओंके संघातसे उत्पन्न हुए व्यावहारिक परमाणुका लक्षण किया गया है। इसकी पुष्टिमें टीकाकार द्वारा अनुयोगद्वारसूत्रका उल्लेख किया गया है। इस व्यावहारिक परमाणुकी मान्यता सम्भवतः किसी अन्य दि. ग्रन्थमें नहीं है। किन्तु जंबूदीवपण्णत्तीके कर्ताने गा. १३–२१ में उसकी निष्पत्ति आठ सन्नासन्नों द्वारा स्पष्टतया स्वीकार की है जो तिलोयपण्णत्ती (१,१०४) और तत्त्वार्थवार्तिक (३,३८,७) आदिकी मान्यताके विरुद्ध है। इन ग्रन्थोंमें आठ सन्नासन्नोंसे एक त्रुटिरेणुकी निष्पत्तिका उल्लेख किया गया है। किन्तु जंबूदीवपण्णत्तीमें त्रुटिरेणुका कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

(१०) गाथा १३,२२ ठीक इसी रूपमें ही ज्योतिष्करण्डमें पायी जाती है। इसमें परमाणु पदसे पूर्व गाथामें निर्दिष्ट व्यावहारिक परमाणुको ग्रहण किया गया है, अन्यथा यह क्रम पूर्वोक्त (गा. १९–२१) क्रमके विरुद्ध पड़ता है। ज्योतिष्करण्डमें यह गाथा 'सत्थेण सुतिक्खेण' आदि पूर्वोक्त गाथाके अनन्तर ही पायी जाती है।

(११) तेरहवें उद्देशकी ३५, ३७, ३८, ४१ और ४२ वीं गाथायें ज्योतिष्करण्डमें क्रमशः निम्न संख्याओंसे अंकित पायी जाती हैं—७८, ७९, ८१, ८२ और ८३। इनमें अन्तिम गाथाको छोड़कर शेष ४ गाथायें चूंकि त्रिलोकसारमें भी उपलब्ध हैं, अतः उनके पाठभेद आदिके सम्बन्धमें वहींपर (पीछे पृ. १२८-२९) सूचना कर दी गयी है।

अन्तिम गाथाका पूर्वार्द्ध दोनोंमें समान है। उत्तरार्द्धमें कुछ थोड़ासा ही भेद है जो इस प्रकार है—

ओसप्पिणीय कालो सो चेवुस्सप्पिणीए वि ॥ जं. प.

* * *

ओसप्पिणीपमाणं तं चेवुस्सप्पिणीए वि ॥ ज्यो. क.

६ **बृहत्क्षेत्रसमास**— इसका विशेष परिचय तिलोयपण्णत्तीकी प्रस्तावना (भा. २, पृ. ७३-७७) में दिया गया है।

जंबूदीवपण्णत्ती और बृहत्क्षेत्रसमासमें निम्न गाथायें समानस्वरूपसे पायी जाती हैं, उनमें कोई उल्लेखनीय भेद नहीं है—

जं. प. छठा उ. गा. ९, १०, ११, १२, बारहवां उ. ११०.

बृ. स. प्र. अ. गा. ३६, ३९, ४१, ३८, ३९५.

इनके अतिरिक्त निम्न गाथा कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ इस प्रकार उपलब्ध होती है—

जत्थिच्छसि विक्खंभं कंचणसिहरा दु ओवदित्ताणं।
तं सगकायविभत्तं सिरसहिदं जाण विक्खंभं ॥ जं. ६–४७

* * *

जत्थिच्छसि विक्खंभं मंदरसिहराहि उवइत्ताणं।
एक्कारसहि विभत्तं सहस्ससहियं च विक्खंभं ॥ बृ. १–३०७

७ **वैदिक ग्रंथो से तुलना**— जैन भौगोलिक ग्रन्थोंमें भूभागका वर्णन करते हुए यह बतलाया है एक लाख योजन विस्तृत वलयाकार जंबूद्वीपके ठीक बीचमें मेरु पर्वत है। मेरुके दक्षिणमें हिमवान्, महाहिमवान् और निषध ये तीन पर्वत तथा इनके कारण विभागको प्राप्त हुये भरत, हैमवत और हरिवर्ष ये तीन क्षेत्र हैं। इसी प्रकारसे उसके उत्तरमें नील, रुक्मि और शिखरी पर्वत तथा रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावतक्षेत्र स्थित हैं। निषध और नील पर्वतोंके अन्तरालमें विदेह क्षेत्र अवस्थित है। यहां मेरुके ईशान कोणमें माल्यवान्, आग्नेयमें सौमनस, नैऋत्यमें विद्युत्प्रभ और वायव्यमें गन्धमादन नामके ये चार गजदन्त पर्वत हैं। इनमें सौमनस और विद्युत्प्रभ गजदन्तोंके मध्यमें अर्ध चन्द्रके आकारमें देवकुरु तथा गन्धमादन और माल्यवान् गजदन्तोंके मध्यमें उत्तरकुरु क्षेत्र अवस्थित है। इस प्रकार जंबूद्वीपमें इन दो क्षेत्रोंके साथ नौ वर्ष हैं।

ठीक इसी प्रकारसे वैदिक सम्प्रदायके भौगोलिक ग्रन्थोंमें[1] भी एक लाख योजन विस्तारवाले गोल जंबूद्वीपका वर्णन पाया जाता है। यहां भी जंबूद्वीपके मध्यमें मेरु पर्वतका अवस्थान है। इस मेरुके चारों ओर चतुष्कोण इलावृत नामक वर्ष अवस्थित है। इलावृतके पूर्वमें उसकी सीमाभूत माल्यवान् पर्वत तथा उसके आगे पूर्व समुद्र तक फैला हुआ भद्राश्व वर्ष है। उक्त इलावृतके पश्चिममें गन्धमादन पर्वत और उसके आगे पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ केतुमाल वर्ष है। इलावृतके दक्षिणमें समुद्रकी ओरसे क्रमशः हिमवान्, हेमकूट और निषध ये तीन तथा उसके उत्तरमें नील, श्वेत और शृंगवान्[2] ये तीन इस प्रकार छह पर्वत स्थित हैं। दक्षिण समुद्र और हिमवान्के मध्यमें भारतवर्ष, हिमवान् और हेमकूटके मध्यमें किम्पुरुष, हेमकूट और निषधके मध्यमें हरिवर्ष, नील और श्वेत पर्वतोंके मध्यमें रम्यकवर्ष, श्वेत और शृंगवान्के मध्यमें हिरण्मय वर्ष, तथा शृंगवान् और उत्तर समुद्रके मध्यमें उत्तरकुरु वर्ष अवस्थित है। उपर्युक्त छह क्षेत्रोंमें भारत वर्ष और उत्तरकुरु धनुषाकार तथा शेष चार क्षेत्र और उक्त छह पर्वत पूर्वसे पश्चिम समुद्र तक दण्डवत् आयत हैं। इस प्रकार इलावृत, भद्राश्व और केतुमाल वर्षोंको लेकर जंबूद्वीपमें नौ वर्ष (क्षेत्र) अवस्थित हैं।

---

१ वायुपुराण, विष्णुपुराण, कूर्म और मत्स्यपुराण आदि। २ श्वेत (रुक्मि), शृंगवान्=(शृंगी=शिखरी)।

जिस प्रकार जैन भूगोलमें मंदर पर्वतके उत्तरमें जंबूवृक्ष अवस्थित है उसी प्रकार वैदिक भूगोलमें भी मेरुकी पूर्वादिक दिशाओंमें क्रमशः मंदर, गन्धमादन, विपुल और सुपार्श्व नामक पर्वतोंके ऊपर कदम्ब, जंबू, पीपल और वट ये चार वृक्ष स्थित हैं।

दोनों सम्प्रदायोंमें विशेषता यह है कि जहां जैन भूगोलमें जंबूद्वीपको चारों ओरसे वेष्टित करनेवाला लवण समुद्र, उसको वेष्टित करनेवाला धातकीखण्ड द्वीप, उसको वेष्टित करनेवाला कालोद समुद्र; इस प्रकार उत्तरोत्तर एक दूसरेको वेष्टित करनेवाले असंख्यात द्वीप-समुद्र स्वीकार किये गये हैं वहां वैदिक भूगोलमें इसी प्रकारसे एक दूसरेको वेष्टित करनेवाले केवल निम्न सात द्वीप और सात ही समुद्र स्वीकार किये गये हैं— जंबूद्वीप, लवणसमुद्र, प्लक्षद्वीप, इक्षुरससमुद्र, शाल्मलीद्वीप, सुरासमुद्र, कुशद्वीप, घृतसमुद्र, क्रौंचद्वीप, क्षीरसमुद्र, शाकद्वीप, दधिसमुद्र, पुष्करद्वीप और शुद्धसमुद्र। (विशेष जाननेके लिये देखिये ति. प. २, प्रस्तावना पृ. ८१–८७)

चातुर्द्वीपिक भूगोल

काशी नागरी प्रचारिणी सभाके द्वारा प्रकाशित सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन ग्रन्थमें 'पुराणोंमें चातुर्द्वीपिक भूगोल और आर्योंकी आदिभूमि' शीर्षक एक लेख श्री रामकृष्णदासजीका प्रकाशित हुआ है। इसमें लेखक महाशयने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि सप्तद्वीपा भूगोलकी अपेक्षा चातुर्द्वीपिक भूगोल अपेक्षाकृत प्राचीन है और उसका वर्णन कोरी कल्पना न होकर आधुनिक भूगोलसे भी कुछ सम्बन्ध रखता है। इसका अस्तित्व अभी भी वायुपुराणमें कुछ अवशिष्ट है। इसका सद्भाव सम्भवतः ऋग्वेदकालसे है, क्योंकि ऋग्वेदमें जिन चार समुद्रोंका उल्लेख है वे इन्हीं चार द्वीपोंसे सम्बद्ध चार दिशाओंके चार समुद्र हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये हम उपर्युक्त लेखका सारांश प्रायः लेखकके ही शब्दोंमें यहां साभार दे रहे हैं—

लेखकका अनुमान है कि मेगास्थिनेके समयमें भी यही चार द्वीपवाला भूगोल चलता था, क्योंकि वह लिखता है– "भारतीय तत्त्वज्ञ और पदार्थविज्ञानवेत्ता भारतके सीमान्तपर तीन और देश मानते हैं। ये तीन देश सीदिया, बैक्ट्रिया तथा एरियाना हैं" जो मोटे तौरपर चतुर्द्वीपी भूगोलके जंबूद्वीपेतर अन्य तीन द्वीपोंसे मिल जाते हैं। अर्थात् सीदियासे उसके भद्राश्व तथा उत्तरकुरु एवं बैक्ट्रिया तथा एरियानासे केतुमाल द्वीप अभिप्रेत हैं। अशोकके समय तक प्राचीन परम्पराके अनुसार चतुर्द्वीप भूगोल ही चलता था[1], क्योंकि उसके शिलालेखोंमें जंबूद्वीप भारतवर्षकी संज्ञा है।

महाभाष्यमें सप्तद्वीपा पृथिवीकी चर्चा है[2]। अत एव सप्तद्वीप भूगोल अशोक तथा महाभाष्यकालके बीचकी कल्पना जान पड़ती है।

यह चातुर्द्वीपिक भूगोल सप्तद्वीपा भूगोलके समान कल्पनाप्रधान नहीं है। इसका आधार प्रायः वास्तविक है, अत एव उसका सामंजस्य आधुनिक भूगोलसे हो जाता है। यूनानी लेखकोंने लिखा है कि भारतीयोंको अपने देशके भूगोलका स्पष्ट ज्ञान है। वह अवान्तर ब्योरों सहित चतुर्द्वीप-भू-वर्णनपर ही घटता है, किसानोंकी भरमारवाले इस सप्तद्वीप भूगोलपर नहीं।

---

१ बौद्ध सम्प्रदायवर्णित भूगोलके लिये देखिये ति. प. २, प्रस्तावना पृ.८७-९०.

२ सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः— महाभाष्य पस्पशाह्निक.

चतुर्द्वीप भूगोलमें जंबूद्वीप पृथिवीके चार महाद्वीपोंमेंसे एक है और भारत वर्षका दूसरा नाम है। वही सप्तद्वीप भूगोलमें एक इतना बड़ा द्वीप बन जाता है कि चतुर्द्वीप भूगोलमेंके उसीके बराबरीवाले अन्य तीन द्वीप (भद्राश्व, केतुमाल और उत्तरकुरु) उसके वर्ष होकर उसके अन्तर्गत हो जाते हैं, और भारत वर्ष नामसे वह स्वयं अपना ही एक वर्ष मात्र रह जाता है। तथापि यह जंबूद्वीपका वर्णन इस दृष्टिसे बडे कामका है कि इसमें चतुर्द्वीपके सम्बन्धमें बहुतसे कामके ब्योरे मिल जाते हैं, क्योंकि, वस्तुतः सप्तद्वीपवाला जंबूद्वीप चतुर्द्वीपा पृथिवीके ही अवान्तर खण्डोंको प्रधानता देकर रचा गया है। यथा— चतुर्द्वीपी भूगोलका भारत (जंबूद्वीप) जो मेरु तक पहुंचता है, सप्तद्वीप भूगोलमेंके जंबूद्वीपमें तीन वर्षोंमें बँट गया है। अर्थात् 'देस'के लिये भारत वर्ष, जिसका वर्ष पर्वत हिमालय है। उसके उपरान्त हिमालयके उस भागके लिये जिसमें पीले रंगवाले मंगोलोंकी वस्ती है, किम्पुरुष वर्ष[1]— जिसमें प्लक्ष खण्ड पुरुरवा आख्यानकी प्लक्ष पुष्करिणी तथा वेदोंका प्लक्ष प्रस्रवण है, जहांसे सरस्वतीका उद्गम है। तथा जिस वर्षका नाम आज भी कनौरमें अवशिष्ट है। यह वर्ष तिब्बत तक पहुंचता था, क्योंकि, वहां तक मंगोलोंकी बस्ती है। तथा उसका वर्ष पर्वत हेमकूट ही, जो कतिपय स्थानोंमें हिमालयान्तर्गत वर्णित हुआ है, तिब्बत है जहां आज भी बहुतायतसे सोना निकलता है। यही भारत (सभा पर्व)के अर्जुनकृत उत्तर दिग्विजयका हाटक प्रदेश है।

हरिवर्षसे हिरातका तात्पर्य है जिसका पर्वत महामेरु शृंखलाके अन्तर्गत निषध (हिंदूकुश) है जो मेरु तक पहुंच जाता है। इसी हरिवर्षका नाम अवेस्तामें 'हरिवरजो' मिलता है जो उसमें आर्योंके बीजस्थानके मध्य माना गया है। वह एक प्रकारसे अपने यहांकी कल्पनासे मिल जाता है, क्योंकि यह स्थान अपने यहांके भू-केन्द्र सुमेरुके चरणतलमें ही है। यों जिस प्रकार चतुर्द्वीपका भारत (जंबूद्वीप) तीन भागोंमें बंटकर महत्तर जंबूद्वीप के तीन 'वर्ष' बन गये, उसी प्रकार रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तरकुरु नामक वर्षोंमें विभक्त होकर चतुर्द्वीप भूगोलवाले उत्तरकुरु महाद्वीपके तीन वर्ष बन गये हैं। किन्तु पूर्व और पश्चिमके द्वीप भद्राश्व और केतुमाल यथापूर्व दोके दो ही रह गये हैं। अन्तर केवल इतना है कि यहां वे दो महाद्वीप नहीं, एक द्वीपके अन्तर्गत दो वर्ष हैं। साथ ही इन सबके केन्द्रीय मेरुको मेखलित करनेवाला इलावृत भी एक स्वतन्त्र वर्ष बन गया है। यों उक्त चार द्वीपोंसे पल्लवित तीन उत्तरी, तीन दक्षिणी, दो पूर्व-पश्चिमी तथा एक केन्द्रीय वर्ष इस जंबूद्वीपके नौ वर्षोंकी रचना कर रहा है।

प्रस्तुत लेखमें निम्न स्थानोंको आधुनिक भूगोलसे इस प्रकार सम्बद्ध बतलाया गया है—

मेरु— वर्तमान भूगोलका जो पामीर प्रदेश है वही पौराणिक मेरु है। इसके पूर्वसे निकली हुई यारकंद नदी ही सीता नदी तथा पश्चिमसे निकली हुई आमू दरिया वा आक्सस ही सुवंक्षु[2] नदी है। इसके दक्षिणमें दरद— काश्मीरमें बहनेवाली कृष्णगंगा नदी ही पौराणिक गंगा नदी हो सकती है। इसके उत्तरमें थियानसानके[3] अंचलमें बसा हुआ देश (उत्तरकुरु), पूर्वमें मूज-ताग (मुंज) एवं शीतान (शीतान्त) पर्वत,

१ तथा किम्पुरुषे विप्रा ! मानवा हेमसन्निभाः।
दशवर्षसहस्राणि जीवन्ति प्लक्षभोजनाः ॥ ८ ॥ कूर्म, ४६.

२ यह नाम सुवंक्षु, सुचक्षु और सुपक्षु आदि कई रूपोंमें विकृत हुआ है। इसके मंगोलियन नाम अक्सु और बक्सू, तिब्बती नाम पक्सू, तथा चीनी नाम पो-त्सू वा फो-त्सू तथा आधुनिक स्थानिक नाम वखिश (विश्वकोप २६,९१०), वख्श और वखां इन संस्कृत नामोंसे ही निकले हैं। इसकी उत्पत्ति मेरुके पश्चिमी सर सितोद (जैन भूगोलमें सीतोदा नदीका उल्लेख हुआ है) से कही गई है।

३ थियानसानकी प्रधान शाखा कुरुक-ताग अर्थात् कुरुक पर्वतका कुरुक शब्द कुरुका ही रूप लक्षित होता है।

पश्चिममें बदख्शां (वैदूर्य) पर्वत, और पश्चिम-दक्षिणमें हिंदूकुश (निषध) पर्वत स्थित हैं।

उत्तरकुरु— दूसरी शतीके प्रसिद्ध रोमन इतिहासवेत्ता टालमीने उत्तरकुरुकी अवस्थिति पामीर प्रदेशमें बतलाई है। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार उत्तकुरु हिमवानके परे था। इंडियन ऐंटिक्वेरी (१९१९, पृ. ६५ तथा आगे) के एक गवेषणापूर्ण निबन्धमें प्रतिपादित किया गया है कि उत्तरकुरु शकों और हूणोंके सीमान्तपर थिपानसान पर्वतके तले था।

वायुपुराणके निम्नांकित वचनसे भी उत्तरकुरु सम्बधी इस मतकी पुष्टि होती है—

उत्तराणां कुरूणां तु पार्श्वे ज्ञेयं तु दक्षिणे।
समुद्रमूर्मिमालाढ्यं नानास्वरविभूषितम्॥ ४५-५८

भौमिक स्थितिके अनुसार यह बिलकुल यथार्थ है, क्योंकि, उपर्युक्त स्थापनाके अनुसार उत्तरकुरु पश्चिमी तुर्किस्तान ठहरता है। उसका समुद्र अरल सागर जो प्राचीन कालमें कैस्पियनसे मिला हुआ था, वस्तुतः प्रकृत प्रदेशके दाहिने पार्श्वमें पड़ता है।

सीता नदी— यह वर्तमान भूगोलकी यारकंद नदी है। चातुर्द्वीपिक भूगोलके अनुसार यह मेरुके पूर्ववर्ती भद्राश्व महाद्वीपकी नदी है। चीनी लोग इसे संस्कृत नाम सीताके अनुसार अब तक सी-तो कहते हैं। यह काराकोरमके शीतान नामक स्कन्धसे निकल कर पामीरके पूर्वकी ओर चीनी तुर्किस्तानमें चली गई है। उक्त शीतान पुराणोंका शीतान्त है एवं काराकोरम पुराणोंका कुमुंज या मुंजवान, जिसका वैदिक नाम मूजवान था। आज भी उसीके अनुसार उसे मूज-ताग[1] अर्थात् मूज पर्वत कहते हैं।

सीता नदी तकलामकानकी विस्तीर्ण मरुभूमिमेंसे होती हुई, एक आध और नदियोंके मिल जानेके कारण तारीम नाम धारण करके लोपनूर नामक खारी झीलमें, पहिले जिसका विस्तार आजसे कहीं अधिक था, जा गिरती है। इसका वर्णन वायुपुराणमें मिलता है।

कृत्वा द्विधा सिंधुमरून् सीताऽगात् पश्चिमोदधिम्[2]। ४७, २३.

सिंधुमरु तकलामकानके लिये बहुत ही उपयुक्त नाम है, क्योंकि इस मरुभूमिकी एक विशेषता यह है कि इसका बालू देखनेमें ठीक समुद्र (सिंधु) जैसा जान पड़ता है। पश्चिमोदधिसे लोपनूर झीलका तात्पर्य है।

सुवंक्षु— जिस प्रकार सीता मेरुके पूर्वकी नदी है उसी प्रकार सुवंक्षु मेरुके पश्चिमकी नदी है। इसके कई रूप मिलते हैं; यथा— सुचक्षु, सुवक्षु एवं सपक्षु। इसकी उत्पत्ति मेरुके पश्चिमी सर सितोदसे[3] कही गई है, जहांसे निकलकर "नानाम्लेच्छगणैर्युक्त" केतुमाल महाद्वीपसे बहती हुई यह पश्चिम समुद्रमें चली गई है[4]। वर्तमान आमू दरिया या आक्सस ही सुवक्षु है, यह निर्विवाद है। इसके मंगोलियन नाम अक्श्

---

१ ताग यह तुर्की शब्द पर्वत अर्थका बोधक है।

२ यहां पश्चिम शब्द अवश्य ही किसी अन्य शब्दका अपपाठ है जो लोपनूरकी नामवाचक संज्ञा रहा होगा, क्योंकि सीता नदीके पूर्व समुद्रमें जानेका स्पष्ट उल्लेख रहनेसे उसके पश्चिम समुद्रमें गिरनेकी सम्भावना नहीं है। दूसरे, यहांकी भौमिक स्थिति भी ऐसी है कि वह पश्चिमकी ओर जा भी नहीं सकती।

३ जैन भूगोलमें मेरुके पश्चिमकी ओर अपर विदेहमें बहनेवाली सीतोदा नदीका उल्लेख मिलता है।

४ वायुपुराण ४२।५७, ७४.

और वक्शू, तिब्बती नाम पक्शू, तथा चीनी नाम पो-त्सू वा फो-त्सू, तथा आधुनिक स्थानिक नाम वख्शि[1] वखश और वखां उक्त संस्कृत नामोंसे निकले हैं।

प्राचीन कालसे अभी थोड़े दिन पहले तक पामीरके पश्चिमी भागवाली सिरीकोल झील (विक्टोरिया लेक) इसका उद्गम मानी जाती थी, जो पौराणिक सितोद सर हुई। इन दिनों यह अरालमें गिरती है, किन्तु पहले कैस्पियनमें गिरती थी। यही चतुर्द्वीपी भूगोलका पश्चिमी समुद्र हुआ।

गंगा— यह काश्मीरके उत्तरकी कृष्णगंगाके सिवा दूसरी नदी नहीं हो सकती, क्योंकि इसके उपकण्ठके निवासियोंमें 'दरदांश्च सकाश्मीरान्' अर्थात् दरद और काश्मीरका उल्लेख हुआ है। ये नाम वायुमें मेरुकी चारों दिशाओंकी नदियोंके वर्णनमें आते हैं। यह हरमुकुट पर्वतकी प्रसिद्ध गंगाबल झीलसे निकलती है जिसे आज भी वहांके लोक गंगाका उद्गम मानते हैं। इससे जान पड़ता है कि किसी समय कृष्णगंगा गंगाकी गिनतीमें थी।

इसी गंगाकी रेतमें सोना भी पाया जाता है, इसीलिये उसका नाम गांगेय है। इस नदीका नाम जंबू भी है, क्योंकि जंबू नदीको गंगाके भेदोंमें गिना है। सोनेका नाम गांगेयके साथ जांबूनद भी है। पौराणिक भूगोलमें उसकी भौमिक स्थिति भी यही है। यही कारण है कि सप्तद्वीप भूगोलमें जंबूद्वीपकी नदी गंगाके बदले जंबू है।

निषध— इस पर्वतसे हिंदूकुश शृंखलाका तात्पर्य है। हिंदूकुशका विस्तार वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीर प्रदेशसे, जहांसे इसका मूल है, काबुलके पश्चिम कोहे-बाबा तक माना जाता है। "कोहे-बाबा और बंदे-बाबाकी परंपराने पहाड़ोंकी उस ऊंची शृंखलाको हेरात तक पहुंचा दिया है। पामीरसे हेरात तक मानों एक ही शृंखला है"। अपने प्रारम्भसे ही यह दक्षिण दाबे हुए पश्चिमकी ओर बढ़ता है। यही पहाड़ ग्रीकोंका परोपानिसस है। और इसका पार्श्ववर्ती प्रदेश काबुल उनका परोपानिसदाय है। ये दोनों ही शब्द स्पष्टतः 'पर्वत निषध' के ग्रीक रूप हैं, जैसा कि जायसवालने प्रतिपादित किया है।

'गिर निसा (गिरि निसा)' भी गिरि निषधका ही रूप है। इसमेंका गिरि शब्द एक अर्थ रखता है। पौराणिक भूगोलमें पहाड़की शृंखलाको 'पर्वत' और एक पहाड़को 'गिरि' कहते हैं—

अपर्वाणस्तु गिरयः पर्वभिः पर्वताः स्मृताः। वायु. ४९।१३२.

अंग्रेजीमें क्रमशः माउंटन और हिल जिन अर्थोंमें आते हैं, ठीक उन्हीं अर्थोंमें ये शब्द आते थे। इस भांति गिरि निषधका अर्थ हुआ निषध शृंखलाका एक पहाड़ और बात भी यही है। लोक-पद्मके पश्चिमी पर्वत निषधके 'केशरायलों' में त्रिशृंग नामका भी पहाड़ आता है। वह त्रिशृंग अन्य नहीं, यही तीन शृंगवाला 'गिरि निसा' अर्थात् कोहेमोर है। इससे निर्विवाद रूपसे सिद्ध होता है कि हिंदूकुश ही अपने यहांका निषध पर्वत है। पौराणिक वर्णनोंमें कहीं तो इस निषधको मेरुके पश्चिम और कहीं दक्षिण कहनेका यह अर्थ होता है कि इसकी स्थिति मेरुके पश्चिम-दक्षिणमें है, वस्तुतः ऐसा है भी।

इलावृत वर्ष— पुराणोंके अनुसार इलावृत चतुरस्र है और मेरु शरावाकृति है। इधर वर्तमान भूगोलमें पामीर प्रदेशका मान १५०×१५० मील है, अर्थात् चतुरस्र है इसी प्रकार वह चारों ओर हिंदूकुश,

---

१ विश्वकोष २६।९१०. २ भुवनकोषांक पृ. ४३.

काराकोरम, काशगर और अल्ताई पहाड़ोंकी ऊंची चोटियोंकी पट्टीसे परिमण्डित है— यह ठीक सकोरेकी आकृति हो गई, ऊंची चोटियोंकी शृंखला जिसकी दीवार हुई और बीचका चतुरस्र पैदा हुआ। यह भी यहां विशेष ध्यान देने योग्य है कि इस पामीरमें मेरु शब्द आश्लिष्ट है, यह शब्द सपाद-मेरुका जन्य है। मेरुके सम्बन्धमें सपाद-मेरु मेरुके महापादका व्यवहार प्रायः हुआ है, अतः यह व्युत्पत्ति अशंकनीय है। इसी प्रकार काश्मीर शब्द भी मेरुका अंग जान पड़ता है। जैसा कि विद्वानोंका अनुमान है, अवश्य यह शब्द कश्यपमेरुका अपभ्रंश है। नीलमत पुराणके अनुसार भी काश्मीर कश्यपका क्षेत्र है। साथ ही तैत्तिरीयक अरण्यक (१।७) में कहा गया है कि महामेरुको कश्यप नहीं छोड़ता। पौराणिक कालमें मेरु-मण्डल (पामीर प्रदेश) का नाम कांबोज था।

हैमवत— यह पहले भारत वर्षका ही दूसरा नाम रहा है। यथा—

इमं हैमवतं वर्षं भारतं नाम विश्रुतम्। मत्स्य. ११२। २८.

आगे चलकर वह स्वतन्त्र एक वर्ष मान लिया गया है। यथा—

इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम्। – भारत भीष्म ६। ७.

उपर्युक्त विषय-वर्णन और ग्रंथान्तरोंसे तुलना द्वारा प्रस्तुत ग्रंथका संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। ग्रंथका प्राकृत पाठ अनेक स्थलों पर सुरक्षित नहीं पाया जाता, यदि कुछ और हस्तलिखित व स्वतंत्र प्राचीन प्रतियां मिलानेके लिये हस्तगत हो जांय तो ग्रंथका और भी अधिक प्रामाणिक पाठ तैयार हो सकता है जिसे हम निश्चयसे लेखककी सच्ची रचना कह सकें। और तभी संभवतः ग्रंथके कुछ अशोंकी असंगति और अप्रासंगिकताका निराकरण किया जा सकेगा (उदाहरणार्थ, देखिये उद्देश १३ में कल्पोंका विवरण)। इस ग्रंथकी परम्परा कुछ बातोंमें सर्वार्थसिद्धि, हरिवंशपुराण आदि ग्रंथोंसे भिन्न पाई जाती है। किन्तु अर्धमागधी श्रुतांगकी जम्बूदीव-पण्णत्तिसे उसकी कुछ विषयोंमें आश्चर्यजनक समता दिखाई देती है। तिलोयपण्णत्ति-के साथ उसका साम्य प्रचुर मात्रामें पाया जाता है। वहांकी अनेक गाथायें यहां जैसीकी तैसी अथवा कुछ हेर फेरके साथ पाई जाती हैं। उसकी जो गाथायें मूलाचार, बृहत्क्षेत्रसमास, त्रिलोकसार और ज्योतिष्करण्डकमें भी पाई जाती हैं वे संभवतः जैन आचार्योंमें परम्परासे प्रचलित करणानुयोगका अंश हों!

यह संपूर्ण ग्रंथ गाथा छन्दमें और प्राकृत भाषामें रचा गया है। यह प्राकृत प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेलके मतानुसार जैन शौरसेनी कहलाने योग्य है। कुछ क्षेत्रोंके भारी वर्णन हमें अर्धमागधीके लम्बे लम्बे समासोंसे युक्त रचनाशैलीका स्मरण कराते हैं।

५ ग्रंथकारका परिचय व रचनाकाल

ग्रंथमें उसके रचनाकालका कोई निर्देश नहीं है। तथापि ग्रंथकारने प्रशस्तिमें अपनी जो उपर्युक्त गुरुपरम्पराका वर्णन किया है (उद्देश १३, गा. १५३ आदि) उसके अनुसार उनके गुरुका नाम बलनन्दि और गुरुके गुरुका नाम वीरनन्दि था। ग्रंथकार पद्मनन्दिने शास्त्रका ज्ञान विद्यागुरु श्रीविजयसे प्राप्त किया था और इस ग्रंथकी रचना उन्होंने माघनन्दिके शिष्य सकलचन्द्रके शिष्य श्रीनन्दिके लिये की थी। जिस नगरमें यह ग्रंथ लिखा गया था उसका नाम 'बारा नगर' था जो पारियत्त (पारियात्र) देशमें था जहां शक्तिकुमार (या शान्तिकुमार) नामके राजा राज्य करते थे। पं. नाथूरामजी प्रेमीने अपने एक लेखमें यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया है कि विन्ध्याचलसे उत्तरका प्रदेश ही पारियात्र कहलाता था; राजस्थानके कोटा प्रदेशमें जो एक कसबा बारा नामका है वही ग्रंथकारका बारा नगर होना चाहिये; नन्दिसंघकी

पट्टावलीमें जो बाराके भट्टारकोंकी गद्दीका उल्लेख है जिसमें वि. सं. ११४४ से १२०६ तकके १२ भट्टारकोंके नाम दिये हैं, उसीसे संबद्ध पद्मनन्दिकी गुरुपरम्परा हो सकती है; तथा राजपूतानेके इतिहासमें जो गुहिलोत वंशी राजा नरवाहनके पुत्र शालिवाहनके उत्तराधिकारी शक्तिकुमारका उल्लेख मिलता है, वही ग्रंथमें उल्लिखित राजा होना संभव है। आटपुर (आहाड़) के शिलालेखमें गुहदत्त (गुहिल) से लेकर शक्तिकुमार तककी पूरी वंशावली दी है। यह लेख वि. सं. १०३४ वैशाख शुक्ला १ का लिखा हुआ है। अतः यही काल जम्बूदीवपण्णत्तिकी रचनाका सिद्ध होता है (देखिये ना. प्रेमी कृत ' जैन साहित्य और इतिहास ' (बम्बई १९५६) में पृष्ठ २५६–२६५ पर ' पद्मनन्दि की जंबूदीव-पण्णत्ति ' शीर्षक लेख)। उपलभ्य हस्तलिखित प्रतियोंमेंसे आमेरसे प्राप्त प्रति संवत् १५१८ की लिखी हुई है। अतः ग्रंथकारका उससे पूर्व होना स्पष्टतः प्रमाणित है।

विषयानुक्रमणिका



१२ बारहवां उद्देश (पृ. २२३–२३४)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१६	दिशामें वैजयन्त	दिशामें अपराजित
,,	२७	६ कोश, ७५३२	३ कोश, १५३२
७	२६	नदीपरिवार	६४ नदियोंका परिवार
११	५	शून्यको अपवर्तित कर	समान शून्योंको कम कर
१४	१२	जीवाओंका	जीवाओंकी चूलिकाका
,,	१३	$\frac{३}{९}$ $\frac{२}{९}$	$\frac{१}{९}$ $\frac{२}{९}$
१६	७	वल्हीमंडव–	वल्हीमंडव–
३२	२०	२४९३ $\frac{१}{९०}$	२४९३२ $\frac{१}{९९}$
३३	२१	थोजन	योजन
३८	११	दसमजिदे	दसभजिदे
४२	२	सत्ताहिं कच्छाहिं	सत्ताहि कच्छाहिं
,,	४	गंज्जंता	गज्जंता
४३	९	पादरक्खा	पाद [याद] रक्खा
,,	२२-२३	संयुक्त, श्री देवीके...... श्री देवीकी	संयुक्त ऐसे चार तेजस्वी देव श्री देवीके आत्मरक्षक हैं जो बहुत प्रकारके योद्धाओंसे सहित होकर श्री देवीकी
५०	५	जिणपडिद–	जिणपडिम–
५६	११	विमानवासी देवोंमें	विमानवासी अर्थात् देवोंमें
६१	१८	उसके वर्गमें	उसके आधेके वर्गमें
६३	९	अवसेसु	अवसेसेसु
७०	८	अट्ठे व	अट्ठेव
८७	७	दिवड्ढ	दिवड्ढ-
८८	५	मणिमालाविप्फुरंत-	मणिमाला विप्फुरंत-
९५	,,	झल्लरि-	झल्लरि-
११०	१६	विमानछद	विमानछन्द
११२	८	-रयणसंवैछण्णा	-रयणभवणसंछण्णा
१३३	४	संखेणेव य	संखेवेण य
१४३	२१	उससे आगेके भागमें	उसके पश्चिम भागमें

१४४	२५	देत्रक	देवके
१४५	१५	॥ १४–१६ ॥	॥ ११४-१६ ॥
१६४	९	जवगोढुभ-	जवगोहुम-
१६७	८	रिसिभ-	रिसभ-
२११	१२	समान वर्तुलाकार तथा	समान स्थित हैं तथा
२१७	१८	इन्द्रकी	इन्द्रककी
२३२	२९	४......पण्तरत्तारिं	२......पण्णहत्तरिं
२३५	५	संखज्जा-	संखेज्जा-
२३६	१९	जिसम	जिसमें
२४३	२६	ुतज्ञान	श्रुतज्ञान
२४४	१६	जरा आदिसे	ज्वर आदिसे
,,	२३	जगोत्तंग	जगोत्तुंग



पउमणंदि-विरइया

जंबूदीवपण्णत्ती

[पढमो उद्देसो]

देवासुरिंदमहिदे दसद्धरूवूणकम्मपरिहीणे । केवलणाणालोए सद्धम्मुवदेसए[1] अरुहे ॥ १
अट्ठविहकम्मरहिए अट्ठगुणसमण्णिदे[2] महावीरे । लोयग्गतिलयभूदे सासयसुदसंठिदे सिद्धे ॥ २
पंचाचारसमग्गे पंचेंदियणिज्जिदे[3] विगयमोहे । पंचमहव्वयणिलए पंचमगइणायगायरिए ॥ ३
परसमयतिमिरदलणे परमागमदेसए उवज्झाए । परमगुणरयणणिवहे परमागमभाविदे वीरे ॥ ४
णाणागुणतवणिरए[4] समयब्भासग्गहीयपरमत्थे[5] । बहुविविहजोगजुत्ते[6] जे लोए सव्वसाहुगणे ॥ ५
ते वंदिदूण सिरसा वोच्छामि जहाकमेण जिणदिट्ठं । आयरियपरंपरया पण्णत्तिं दीवजलधीणं ॥ ६
सव्वण्हुं सव्वजिणं भवियंभोरुहदिवायरं भवरहियं[7] । सव्वामरवइमहियं[8] सव्वण्हुगुणं समाद्दिसहु ॥

देवेन्द्रों व असुरेन्द्रोंसे पूजित, दसके आधेमेंसे एक कम अर्थात् चार घातिया कर्मोंसे रहित, केवलज्ञान रूप प्रकाशसे सहित, और समीचीन धर्मके उपदेशक अरिहन्तोंको; आठ प्रकारके कर्मोंसे रहित, आठ गुणोंसे समन्वित, महावीर, लोकशिखरके तिलक स्वरूप, और शाश्वत सुखमें स्थित सिद्धोंको; पंचाचारसे युक्त, पांच इन्द्रियोंके विजेता, मोहसे रहित, पांच महाव्रतोंके स्थानभूत, और पंचम गतिके नायक आचार्योंको; परसमय रूप अंधकारको नष्ट करनेवाले, परमागमके उपदेशक, उत्कृष्ट गुण रूप रत्नोंके समूहसे युक्त और परमागमके संस्कारसे सहित वीर उपाध्यायोंको; तथा नाना गुण युक्त तपमें निरत, स्वसमयाभ्यास अर्थात् शास्त्रस्वाध्यायसे परमार्थको ग्रहण करनेवाले और बहुत प्रकारके योगोंसे युक्त जो लोकमें सर्वसाधुगण हैं; उनको शिरसे नमस्कार करके यथाक्रमसे जिनभगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट एवं आचार्यपरम्परासे प्राप्त हुई द्वीप-समुद्रोंकी प्रज्ञप्तिको कहता हूं ॥ १-६ ॥ सर्वज्ञ, भव्य रूप कमलोंके लिए दिवाकर स्वरूप, भवसे रहित, और सर्व अमरपतियोंसे पूजित समस्त जिन सर्वज्ञगुणको प्रदान करें ॥ ७ ॥

१ प सद्धम्मुवएसदा, ब सद्धम्मुवयेसदा. २ प ब समणिदे. ३ प ब पंचंदियणिज्जदे. ४ प ब णाणातवगुण. ५ उ प ससमयब्भावगहिय, ब ससमयसब्भावगहिय, श समयब्भावगहिय. ६ उ प श बहुविह. ७ प ब भवरहिदं. ८ उ श °वइरहियं.

णमिऊण[1] वड्ढमाणं ससुरासुरवंदिदं विगयमोहं । वरसुदगुरुपरिवाडिं वोच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥ ८
विउलगिरितुंगसिहरे जिणिंदइंदेण वड्ढमाणेण । गोदममुणिस्स कहिदं पमाणणयसंजुदं अत्थं ॥ ९
तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण । गणधरसुधम्मणा खलु[2] जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं ॥ १०
चदुरमलबुद्धिसहिदे तिण्णेदे[3] गणधरे गुणसमग्गे । केवलणाणपईवे सिद्धिं पत्ते णमंसामि[4] ॥ ११
णंदी[5] य णंदिमित्तो[6] अवराजिदं[7]मुणिवरो महातेओ[8] । गोवड्ढणो महप्पा महागुणो भद्दबाहू य ॥ १२
पंचेदे पुरिसवरा चउदसपुव्वी हवंति णायव्वा । बारसअंगधरा खलु वीरजिणिंदस्स णायव्वा ॥ १३
तह य विसाखायरिओ पोट्ठिल्लो खत्तिओ य जयणामो । णागो सिद्धत्थो वि य धिदिसेणो विजयणामो य ॥ १४
बुद्धिल्ल गंगदेवो धम्मस्सेणो य होइ पच्छिमओ । पारंपरेण एदे दसपुव्वधरा समक्खादा ॥ १५
णक्खत्तो जसपालो पंडू धुवसेण कंसआयरिओ । एयारसंगधारी पंच जणा होंति णिद्दिट्ठा ॥ १६
णामेण सुभद्दमुणी जसभद्दो तह य होइ जसबाहू । आयारधरा णेया अपच्छिमो लोहणामो य[9] ॥ १७
आइरियपरंपरया सायरदीवाण तह य पण्णत्ती । संखेवेण समत्थं[10] वोच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥ १८

सुर एवं असुरोंसे वंदित और मोहसे रहित वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार करके उत्तम श्रुतके धारक गुरुओंकी परम्पराको अनुक्रमसे कहता हूं ॥ ८ ॥ विपुलाचल पर्वतके उन्नत शिखरपर जिनेन्द्र भगवान् वर्धमान स्वामीने प्रमाण और नयसे संयुक्त अर्थका गौतम मुनिको उपदेश दिया । उन्होंने (गौतम गणधरने) लोहार्यको, और लोहार्य अपर नाम सुधर्म गणधरने जम्बू स्वामीको उपदेश दिया ॥ ९–१० ॥ चार निर्मल बुद्धियों (कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, संभिन्नश्रोतृबुद्धि और पदानुसारिणी बुद्धि) से सहित, गुणोंसे परिपूर्ण, केवलज्ञान रूप उत्कृष्ट दीपकसे संयुक्त और सिद्धिको प्राप्त इन तीनों गणधरोंको नमस्कार करता हूं ॥ ११ ॥ नन्दी, नन्दिमित्र, महा तेजस्वी अपराजित मुनीन्द्र, महात्मा गोवर्धन और महागुणोंसे युक्त भद्रबाहु, ये पांच श्रेष्ठ पुरुष चौदह पूर्वोंके धारक अर्थात् श्रुतकेवली थे, ऐसा जानना चाहिये । वीर जिनेन्द्रके [तीर्थमें] इन्हें बारह अंगोंके धारक जानना चाहिये ॥ १२–१३ ॥ तथा विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय नामक, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय नामक, बुद्धिल, गंगदेव और अन्तिम धर्मसेन, ये परम्परासे दस पूर्वोंके धारक कहे गये हैं ॥ १४–१५ ॥ नक्षत्र, यशपाल, पाण्डु, ध्रुवषेण और कंसाचार्य, ये पांच जन ग्यारह अंगोंके धारक निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ १६ ॥ नामसे सुभद्र मुनी, यशोभद्र, यशोबाहु और अन्तिम लोहाचार्य, ये चार आचार्य आचारांगके धारी जानना चाहिये ॥ १७ ॥ आनुपूर्वीके अनुसार आचार्यपरम्परासे प्राप्त सागर-द्वीपोंकी समस्त प्रज्ञप्तिको संक्षेपमें कहता हूं ॥ १८ ॥ पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योंमें

---

१ उ नविऊण, प ब श णविऊण. २ प ब °सुधम्मणा य द बलु. ३ उ प तिन्नेदे, ब सिन्नेदे. ४ प ब नमंसामि. ५ उ श णंदि. ६ प ब णंदिमित्ते. ७ प अवराजिय, ब अत्रयविय. ८ प ब तेऊ. ९ प ब लोहणामे य. १० उ प श समत्थं, ब समर्त्थ.

पणुवीसकोडिकोडी उद्धारपमाणपल्लसंखाए । जेत्तियमेत्ता रोमा तावदिया होंति दीउदधी[2] ॥ १९
रविमंडलं व वट्टो विक्खंभायामजोयणालक्खो । दीवोदधीण मज्झे जंबूदीवो समुद्दिट्ठो ॥ २०
परिधी तस्स दु णेया लक्खा तिण्णेव सोलससहस्सा । बेसयसत्तावीसा जोयणसंखा पमाणेणं ॥ २१
गाउव[3] तिण्णि वि जाणसु अट्ठावीसा सयं च धणुसंखा । तेरस अंगुलपव्वा अद्धंगुलमेव सविसेसं ॥ २२
विक्खंभेणब्भत्थं विक्खंभं[4] दसगुणं पुणो काउं । जं तस्स वग्गमूलं परिरयमेदं वियाणाहि ॥ २३
विक्खंभचदुब्भागेण संगुणं[5] होइ परिधिपरिमाणं । पदरगदं खेत्तफलं लद्धं रविमंडलाण तहा ॥ २४
सत्तसयणउदिकोडीसमधियछप्पण्णलयसहस्साइं । चदुणउदिं च सहस्सा दिवड्ढसयजोयणा णेया ॥ २५
जोयणअट्ठुच्छेधा[6] विउलामलवज्जवेदिया दिव्वा । परिवेढिदूण[7] अच्छदि जंबूदीवस्स सव्वत्तो ॥ २६
मूले बारह जोयण मज्झे अट्ठेव जोयणा णेया । उवरिं चत्तारि हवे वित्थारो तीए जगदीए ॥ २७

जितने रोम समा सकते हों उतने द्वीप-समुद्र हैं ॥ १९ ॥ द्वीप-समुद्रोंके मध्यमें सूर्यमण्डलके सदृश गोल और एक लाख योजन प्रमाण विष्कम्भ व आयामसे सहित जम्बूद्वीप कहा गया है ॥ २० ॥ उसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस प्रमाण योजन, तीन गव्यूति, एक सौ अट्ठाईस धनुष, तेरह अंगुल और आध अंगुलसे कुछ अधिक जानना चाहिये ॥ २१–२२ ॥ विष्कम्भसे गुणित विष्कम्भको अर्थात् विष्कम्भके वर्गको दसगुणा करके पुनः उसका जो वर्गमूल हो वह परिधिका प्रमाण जानना चाहिये ॥ २३ ॥

उदाहरण— जम्बूद्वीपका विष्कम्भ १००००० यो; $\sqrt{१०००००^2 \times १०}$ = ३१६२२७ यो. ३ कोश १२८ धनुष १३½ अंगुलसे कुछ अधिक, यह जम्बूद्वीपकी परिधिका प्रमाण है।

परिधिप्रमाणको विष्कम्भके चतुर्थ भागसे गुणा करनेपर रविमण्डलके सदृश गोल क्षेत्रोंका प्रतरगत क्षेत्रफल प्राप्त होता है॥ २४ ॥

उदाहरण— परिधि साधिक ३१६२२७¾ यो.; ३१६२२७¾ × $\frac{१०००००}{४}$ = साधिक ७९०५६९४१५० यो. जम्बूद्वीपका क्षेत्रफल।

जम्बूद्वीपका क्षेत्रफल सात सौ नब्बै करोड़ छप्पन लाख चौरानबै हजार एक सौ पचास योजन प्रमाण जानना चाहिये ॥ २५ ॥ आठ योजन ऊंची, विशाल दिव्य निर्मल वज्रमय वेदिका जम्बूद्वीपको चारों ओरसे वेष्टित करके स्थित है ॥ २६ ॥ उस जगतीका विस्तार मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ ही योजन और ऊपर चार योजन प्रमाण जानना

---

१ प ब पणवीस. २ प ब दीवुदधी. ३ प ब गाउअ. ४ उ विक्खंभेण मत्थं विक्खंभं, ब विक्खंतेणब्भत्थं विक्खंतं, श विक्खंभेण य भत्तं विक्खंभं. ५ उ विक्खंभचदुभागेण य संगुणं, ब विक्खंतचहुभागेण संगुणं, श विक्खंभ चदुभोगण य संगुणं. ६ उ अट्ठुछेधा; प अट्ठच्छेदा, ब अट्ठछेधा, श अट्ठच्छेधा. ७ प ब परिवेढदूण

सोलसदलमिच्छगुणं[1] (?) जत्थिच्छसि सोलसद्धभागम्मि। सोलसदलदलसहिदं इच्छफलं होइ जगदीए ॥२८
चत्तारिधणुसहस्सा उत्तुंगा कणयवेदिया दिव्वा। वरवज्जणीलमरगयणाणाविहरयणसंछण्णा ॥ २९
तिस्सेव य जगदीए उवरिं वरवेदिया रयणचित्ता। पंचसयदंडमित्तो[2] वित्थारो तीए[3] पण्णत्तो ॥ ३०
चत्तारिधणुसहस्सा अड्ढादिज्जासएहिं परिहीणा। वेजोयणवित्थिण्णो[4] दोसु वि पासेसु जगदीए ॥ ३१
वेलंधरदेवाणं हवंति णगराणि तत्थ रम्माणि। अब्भंतरम्मि भागे महोरगाणं च विण्णेया ॥ ३२
अहिसेयणट्टसालाउववादसभावराणि[5] रम्माणि। पायारगोउरालय अणाइणिहणाणि सोहंति ॥ ३३
कंचणपवालमरगयकक्केयणपउमरायमणिणिवहा। तोरणवंदणमाला सुगंधगंधुद्धुया[6] रम्मा ॥ ३४
पुण्णागणागचंपयअसोयवरवउलतिलयवच्छादी। उभओ पासेसु तहा[7] उववणसंडा विरायंति ॥ ३५
कल्हारकमलकंदलणीलुप्पलकुमुदकुसुमसंछण्णा। पोक्खरिणिवाविवप्पिणिदीहियाओ[8] विरायंति ॥ ३६

चाहिये ॥ २७ ॥ सोलहके अर्ध भाग अर्थात् आठ योजनकी उंचाईमें जहां कहीं भी जगतीके विस्तारके जाननेकी इच्छा हो [वहां जगतीके शिखरसे जितना नीचे उतरे हों उतनेमें एकका भाग देनेपर जो प्राप्त हो उसमें] सोलहके दलके दल अर्थात् चार (१६ ÷ २ ÷ २ = ४) को मिलानेपर जगतीके अभीष्ट विस्तारका प्रमाण होता है। [जैसे उपरिम भागसे १$\frac{१}{४}$ योजन नीचे उतर कर यदि वहांका विस्तार जानना है तो वह १$\frac{१}{४}$ ÷ १ + ४ = ५$\frac{१}{४}$ इस प्रकारसे पांच योजन एक कोश होगा]॥ २८ ॥ उसी जगतीके ऊपर चार हजार धनुष ऊंची उत्तम वज्र, नील और मरकत आदि नाना प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त दिव्य सुवर्णमय वेदिका है। रत्नोंसे चित्रविचित्र उस उत्तम वेदिकाका विस्तार पांच सौ धनुष मात्र कहा गया है ॥ २९–३० ॥ जगतीके दोनों पार्श्वभागोंमें अढ़ाई सौ धनुष कम जो चार हजार धनुष प्रमाण विस्तार है वहांपर वेलंधर देवोंके दो योजन विस्तीर्ण रमणीय नगर हैं। उसके अभ्यन्तर भागमें महोरग देवोंके नगर जानना चाहिये ॥३१–३२॥ उनमें अभिषेकशाला नाट्यशाला और उपपादसभा, ये प्राकार एवं गोपुरालयोंसे संयुक्त अनादि-निधन रमणीय घर शोभायमान हैं ॥ ३३ ॥ वे रमणीय भवन सुवर्ण, प्रवाल, मरकत, कर्केतन और पद्मराग मणियोंके समूहसे निर्मित; तोरण एवं वंदनमालाओंसे सुशोभित, तथा सुगन्धित गन्धके प्रसारसे युक्त हैं ॥३४॥ वेदिकाके उभय पार्श्वभागोंमें पुन्नाग, नाग, चम्पक, अशोक, उत्तम वकुल और तिलक आदि वृक्षोंसे सहित उपवनषण्ड विराजमान हैं ॥ ३५ ॥ वनषण्डोंमें कल्हार (सफेद कमल), कमल, कंदल, नीलोत्पल और कुमुद कुसुमोंसे व्याप्त पुष्करिणी, वापियां, वप्रिणी (?) एवं उत्तम दीर्घिकायें विराजमान हैं ॥ ३६ ॥ स्वाभाविक सौन्दर्यसे संयुक्त, और जिन-सिद्धभवन-

---

१ श °दलम्मिच्छगुणं. २ प व °मेत्ता. ३ श तीय. ४ प व विच्छिना. ५ उ श समाव्वराणि. ६ उ सुगंधगंधद्धुया, प सुगंधुसंधधुया, व सुगंधुगंधसुया. ७ उ उभतुं पासेतु तहा, प उभऊणसेस तहा, व युभऊपासेसु सहा. ८ उ प व पोक्खराणिवाविवप्पिण, श पोक्खराणि व वि वि चप्पिण.

सयलं जंबूदीवं[1] परिरयदि पुरं सभावरसपुण्णं । जिणसिद्धभवणणिवहं[2] को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥ ३७
जंबूदीवस्स तहा गोउरदाराणि होंति चत्तारि । विजयं तु वेजयंतं[3] जयंतमपराजियं चेव ॥ ३८
पुव्वदिसेणं विजयं[4] दक्खिणभागेण वइजयंतं तु । होइ य पच्छिमभागे जयंतमपराजियं च उत्तरदो ॥ ३९
वरकणयरयणमरगयणाणारयणोवहारकयसोहा । जोयणअट्ठुस्सेहा तदद्धविक्खंभआयामा ॥ ४०
सिंहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिसंजुत्ता । अरुहाण ठिया[5] पडिमा गोउरदारेसु सव्वेसुं ॥ ४१
विजयंतवइजयंता जयंतअवराजिदा सुरा होंति । पल्लाउगा सुरूवा[6] चदुसु वि[7] दारेसु बोद्धव्वा ॥ ४२
वरपट्टणं विरायइ विजयंतकुमारसुरवरिंदस्स । बारहसहस्सजोयणविक्खंभायाममिणिद्दिट्ठं ॥ ४३
रयणमया पासादा वेरुलियमया य कंचणमया य । ससिकंतसूरकंता कक्केयणपउमरागमया ॥ ४४
एवं अवसेसाणं देवाणं पुरवराणि णेयाणि । वरगोउरदारादो[8] उवरिं गंतूण तिट्ठंति ॥ ४५
दारंतरपरिमाणं बावण्णा जोयणा मुणेयव्वा । ऊणासीदिसहस्सा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं[9] ॥ ४६
पण्णत्तरिसय णेया वत्तीसा धणुपमाण णिद्दिट्ठा । तिण्णेव अंगुलाइं तिज्जव संखा समदिरेयं[10] ॥ ४७
सोलसजोयणऊणा जंबूदीवस्स परिधिमज्झम्मि । दारंतरपरिमाणं चदुभजिदे होइ जं लद्धं ॥ ४८

समूहसे युक्त वह पुर समस्त जम्बूद्वीपको परिवेष्टित करता है । उसका सम्पूर्ण वर्णन करनेके लिये कौन समर्थ है ? ॥ ३७ ॥ जम्बूद्वीपके [चारों ओर] विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, ये चार गोपुरद्वार हैं ॥ ३८ ॥ इनमेंसे पूर्व दिशामें विजय, दक्षिण भागमें वैजयन्त, पश्चिम भागमें जयन्त और उत्तर दिशामें वैजयन्त गोपुरद्वार है ॥ ३९ ॥ उत्तम सुवर्ण, रत्न, मरकत और नाना रत्नोंके उपहारसे शोभायमान ये द्वार आठ योजन ऊंचे और इससे आधे विष्कम्भ व आयामसे सहित हैं ॥ ४० ॥ सब गोपुरद्वारोंमें सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल और चामरादिसे संयुक्त अरिहन्त जिनोंकी प्रतिमायें स्थित हैं ॥ ४१ ॥ चारों द्वारोंपर क्रमशः विजयन्त, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, ये चार सुन्दर देव हैं । इनकी आयु एक पल्य प्रमाण जानना चाहिये ॥ ४२ ॥ विजयंतकुमार सुरेन्द्रका उत्तम पुर विराजमान है । इस नगरका विष्कम्भ व आयाम बारह हजार योजन प्रमाण कहा गया है ॥ ४३ ॥ इन नगरोंमें रत्नमय, वैडूर्यमणिमय, सुवर्णमय तथा चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, कर्केतन और पद्मराग मणियोंसे निर्मित प्रासाद हैं ॥ ४४ ॥ इसी प्रकार शेष देवोंके श्रेष्ठ नगर जानना चाहिये । ये नगर उत्तम गोपुरद्वारोंसे ऊपर जाकर स्थित हैं ॥ ४५ ॥ विजयादिक द्वारोंके अन्तरालका प्रमाण सर्वदर्शियों द्वारा उन्यासी हजार बावन योजन, पचत्तर सौ बत्तीस धनुष, तीन अंगुल और तीन जौ (७९०५२ यो., ६ कोश, ७५३२ धनुष, ३ अंगुल, ३ यव) से कुछ अधिक निर्दिष्ट किया गया जानना चाहिये ॥ ४६–४७ ॥ जम्बूद्वीपकी परिधिमेंसे सोलह योजन कम कर शेषमें चारका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतना उक्त द्वारोंका अन्तरप्रमाण होता है ॥ ४८ ॥

१ उ प ब जंबुदीवं. २ प ब सिद्धवयणणिवहं. ३ प ब वैजयंतं ४ उ °दिसेण विजयं, श °द्दिसेणं विजयं. ५ उ श असहाण ठिया, प अरहाण ठिय, ब अरहाण विया. ६ उ सुपूत्रा, प ब सरूत्रा, श सुतवा. ७ उ वदसु वि, ब श बहुसु वि. ८ उ श हारादो. ९ उ श दरिसिहिं. १० उ प ब श समधिरेया.

सोलसदलमिछगुणं¹ (?) जत्थिच्छसि सोलसद्धभागम्मि । सोलसदलदलसहिदं इच्छफलं होइ जगदीए ॥२८
चत्तारिधणुसहस्सा उत्तुंगा कणयवेदिया दिव्वा । वरवज्जणीलमरगयणाणाविहरयणसंछण्णा ॥ २९
तिस्सेच य जगदीए उवरिं वरवेदिया रयणचित्ता । पंचसयदंडमित्तो² वित्थारो तीए³ पण्णत्तो ॥ ३०
चत्तारिधणुसहस्सा अड्ढाइज्जासएहिं परिहीणा । वेजोयणवित्थिण्णों दोसु वि पासेसु जगदीए ॥ ३१
वेलंधरदेवाणं हवंति णगराणि तत्थ रम्माणिं । अब्भंतरम्मि भागे महोरगाणं च विण्णेया ॥ ३२
अहिसेयणट्टसालाउववादसभाघराणि⁵ रम्माणि । पायारगोउरालय अणाइणिहणाणि सोहंति ॥ ३३
कंचणपवालमरगयककेयणपउमरायमणिणिवहा । तोरणवंदणमाला सुगंधगंधुद्धुया⁶ रम्मा ॥ ३४
पुण्णागणागचंपयअसोयवरवउलतिलयवच्छादी । उभओ पासेसु तहा⁷ उववणसंडा विरायंति ॥ ३५
कल्हारकमलकंदलणीलुप्पलकुमुदकुसुमसंछण्णा । पोक्खरिणिवाविवप्पिणिसुदीहियाओ⁸ विरायंति ॥ ३६

चाहिये ॥ २७ ॥ सोलहके अर्ध भाग अर्थात् आठ योजनकी ऊंचाईमें जहां कहीं भी जगतीके विस्तारके जाननेकी इच्छा हो [वहां जगतीके शिखरसे जितना नीचे उतरे हों उतनेमें एकका भाग देनेपर जो प्राप्त हो उसमें] सोलहके दलके दल अर्थात् चार (१६ ÷ २ ÷ २ = ४) को मिलानेपर जगतीके अभीष्ट विस्तारका प्रमाण होता है। [जैसे उपरिम भागसे १$\frac{3}{4}$ योजन नीचे उतर कर यदि वहांका विस्तार जानना है तो वह १$\frac{3}{4}$ ÷ १ + ४ = ५$\frac{3}{4}$ इस प्रकारसे पांच योजन एक कोश होगा]॥ २८ ॥ उसी जगतीके ऊपर चार हजार धनुष ऊंची उत्तम वज्र, नील और मरकत आदि नाना प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त दिव्य सुवर्णमय वेदिका है। रत्नोंसे चित्रविचित्र उस उत्तम वेदिकाका विस्तार पांच सौ धनुष मात्र कहा गया है ॥ २९-३० ॥ जगतीके दोनों पार्श्वभागोंमें अढ़ाई सौ धनुष कम जो चार हजार धनुष प्रमाण विस्तार है वहांपर वेलंधर देवोंके दो योजन विस्तीर्ण रमणीय नगर हैं। उसके अभ्यन्तर भागमें महोरग देवोंके नगर जानना चाहिये ॥३१-३२॥ उनमें अभिषेकशाला नाट्यशाला और उपपादसभा, ये प्राकार एवं गोपुरालयोंसे संयुक्त अनादि-निधन रमणीय घर शोभायमान हैं ॥ ३३ ॥ वे रमणीय भवन सुवर्ण, प्रवाल, मरकत, कर्केतन और पद्मराग मणियोंके समूहसे निर्मित; तोरण एवं वंदनमालाओंसे सुशोभित, तथा सुगन्धित गन्धके प्रसारसे युक्त हैं ॥३४॥ वेदिकाके उभय पार्श्वभागोंमें पुन्नाग, नाग, चम्पक, अशोक, उत्तम वकुल और तिलक आदि वृक्षोंसे सहित उपवनषण्ड विराजमान हैं ॥ ३५ ॥ वनषण्डोंमें कल्हार (सफेद कमल), कमल, कंदल, नीलोत्पल और कुमुद कुसुमोंसे व्याप्त पुष्करिणी, वापियां, वप्रिणी (?) एवं उत्तम दीर्घिकायें विराजमान हैं ॥ ३६ ॥ स्वाभाविक सौन्दर्यसे संयुक्त, और जिन-सिद्धभवन-

---

१ श °दलम्मिछगुणं. २ प ब °मेत्ता. ३ श तीय. ४ प ब विछिन्ना. ५ उ श सभाव्वराणि. ६ उ सुगंधगंधद्धुया, प सुगंधुसंधधुया, ब सुगंधुगंधसुया. ७ उ उभत्तुं पासेसु तहा, प उभऊणसेस तहा, ब सुभऊपासेसु सहा. ८ उ प ब पोक्खराणिवाविवप्पिण, श पोक्खराणि व वि वि चप्पिण.

सयलं जंबूदीवं[1] परिरयदि पुरं सभावरसपुण्णं । जिणसिद्धभवणणिवहं[2] को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥ ३७
जंबूदीवस्स तहा गोउरदाराणि होंति चत्तारि । विजयं तु वेजयंतं[3] जयंतमपराजियं चेव ॥ ३८
पुव्वादिसेणं विजयं[4] दक्खिणभागेण वइजयंतं तु । होइ य पच्छिमभागे जयंतमपराजियं च उत्तरदो ॥३९
वरकणयरयणमरगयणाणारयणोवहारकयसोहा । जोयणअट्ठुस्सेहा तदद्धविक्खंभआयामा ॥ ४०
सिंहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिसंजुत्ता । अरुहाण ठिया[5] पडिमा गोउरदारेसु सव्वेसुं ॥ ४१
विजयंतवइजयंता जयंतअवराजिदा सुरा होंति । पल्लाउगा सुरूवा[6] चदुसु वि[7] दारेसु बोद्धव्वा ॥४२
वरपट्टणं विरायइ विजयंतकुमारसुरवरिंदस्स । बारहसहस्सजोयणविक्खंभायामणिद्दिट्ठं ॥ ४३
रयणमया पासादा वेरुलियमया य कंचणमया य । ससिकंतसूरकंता कक्केयणपउमरागमया ॥ ४४
एवं अवसेसाणं देवाणं पुरवराणि णेयाणि । वरगोउरदारादो[8] उवरिं गंतूण तिट्ठंति ॥ ४५
दारंतरपरिमाणं बावण्णा जोयणा मुणेयव्वा । ऊणासीदिसहस्सा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं[9] ॥ ४६
पण्णत्तरिसय णेया बत्तीसा धणुपमाण णिद्दिट्ठा । तिण्णेव अंगुलाइं तिज्जव संसा समदिरेयौं[10] ॥४७
सोलसजोयणऊणा जंबूदीवस्स परिधिमज्झम्मि । दारंतरपरिमाणं चदुभजिदे होइ जं लद्धं ॥ ४८

समूहसे युक्त वह पुर समस्त जम्बूद्वीपको परिवेष्टित करता है। उसका सम्पूर्ण वर्णन करनेके लिये कौन समर्थ है? ॥ ३७ ॥ जम्बूद्वीपके [चारों ओर] विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, ये चार गोपुरद्वार हैं ॥ ३८ ॥ इनमेंसे पूर्व दिशामें विजय, दक्षिण भागमें वैजयन्त, पश्चिम भागमें जयन्त और उत्तर दिशामें वैजयन्त गोपुरद्वार है ॥ ३९ ॥ उत्तम सुवर्ण, रत्न, मरकत और नाना रत्नोंके उपहारसे शोभायमान ये द्वार आठ योजन ऊंचे और इससे आधे विष्कम्भ व आयामसे सहित हैं ॥ ४० ॥ सब गोपुरद्वारोंमें सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल और चामरादिसे संयुक्त अरिहन्त जिनोंकी प्रतिमायें स्थित हैं ॥ ४१ ॥ चारों द्वारोंपर क्रमशः विजयन्त, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, ये चार सुन्दर देव हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण जानना चाहिये ॥ ४२ ॥ विजयंतकुमार सुरेन्द्रका उत्तम पुर विराजमान है। इस नगरका विष्कम्भ व आयाम बारह हजार योजन प्रमाण कहा गया है ॥४३॥ इन नगरोंमें रत्नमय, वैडूर्यमणिमय, सुवर्णमय तथा चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, कर्केतन और पद्मराग मणियोंसे निर्मित प्रासाद हैं ॥ ४४ ॥ इसी प्रकार शेष देवोंके श्रेष्ठ नगर जानना चाहिये। ये नगर उत्तम गोपुरद्वारोंसे ऊपर जाकर स्थित हैं ॥ ४५ ॥ विजयादिक द्वारोंके अन्तरालका प्रमाण सर्वदर्शियों द्वारा उन्यासी हजार बावन योजन, पचत्तर सौ बत्तीस धनुष, तीन अंगुल और तीन जौ (७९०५२ यो., ६ कोश, ७५३२ धनुष, ३ अंगुल, ३ यव) से कुछ अधिक निर्दिष्ट किया गया जानना चाहिये ॥४६-४७॥ जम्बूद्वीपकी परिधिमेंसे सोलह योजन कम कर शेषमें चारका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतना उक्त द्वारोंका अन्तरप्रमाण होता है ॥४८॥

---

१ उ प ब जंबुदीवं. २ प ब सिद्धवयणणिवहं. ३ प ब वैजयंतं ४ उ °दिसेण विजयं, श °दिसेणं विजयं. ५ उ श असहाण ठिया, प अरहाण ठिय, ब अरहाण विया. ६ उ सुमूवा, प ब सरूवा, श सुतवा. ७ उ वदह वि, ब श वहुह वि. ८ उ श हारादो. ९ उ श दरिसिहिं. १० उ प ब श समधिरेया.

जगदीदो गंतूणं बेगाउव[1]वित्थडा परमरम्मा। अब्भंतरम्मि भागे वणसंडा होंति णिद्दिट्ठा ॥ ४९
फणसंबताडदाडिमसज्जज्जुणणालिकेरकदलीहिं[2] । वरबउलतिलयचंपयअसोयरुक्खेहिं संछण्णा ॥ ५०
णाणादुमगणगहणं उज्जाणं सुरहिसीयलच्छायं । चिंचामोयसुगंधं[3] सुरखेयरकिण्णरसणाहं[4] ॥ ५१
बेगाउदउव्विद्धा[5] उज्जाणवणस्स वेदिया दिव्वा । पंचधणुस्सयविउला कंचणमणिरयणपरिणामा ॥ ५२
णाणातोरणणिवहा मणिकंचणमंडिया परमरम्मा । सासयअणाइणिहणा णाणाविहरूवसंपण्णा ॥ ५३
उज्जाणजगइतोरणगोउरदारेसु[6] होंति सव्वेसु । जिणइंदाणं पडिमा अकिट्टिमा[7] सासयसहावा ॥ ५४
जंबूदीवे णेया सत्तेव य तत्थ[8] होंति खेत्ताणि । एक्को मंदरसिहरी[9] छच्चेव य कुलगिरी तुंगा[10] ॥ ५५
विण्णि सया णायव्वा कणयणगा विविहरयणपरिणामा । चत्तारि होंति जमगा[11] णाभिणगा तेत्तिया चेव ॥ ५६
रिसभणगा चउतीसा वेयड्ढा[12] तेत्तिया मुणेदव्वा[13] । वक्खारणगा[14] सोलस[15] णाणामणिरयणपरिणामा ॥५७
अट्ठेव दिसगइंदा णाणामणिविप्फुरंतकिरणोहा । तावदिया वेदीओ विदेहमज्झम्मि णिद्दिट्ठा ॥ ५८
पुव्वावरायदाणं वंसधराणं हवंति णायव्वा । सोलस वरवेदीओ णाणामणिरयणणिवहाओ ॥ ५९

जगतीसे अभ्यन्तर भागमें जाकर दो कोश विस्तृत परम रमणीय वनषण्ड निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ ४९ ॥ ये वनषण्ड पनस, आम, ताड़, दाड़िम, सर्ज, अर्जुन, नारियल, कदली, उत्तम बकुल, तिलक, चंपक और अशोक, इन वृक्षोंसे व्याप्त हैं ॥ ५० ॥ वह उद्यान नाना वृक्षसमूहोंसे गहन, सुगन्धित शीतल छायासे सहित, चिंचा (इमली) की आमोदसे सुगन्धित और देव. विद्याधर एवं किन्नरोंसे सनाथ हैं ॥ ५१ ॥ उस उद्यान-वनकी दो कोश ऊंची व पांच सौ धनुष विस्तृत सुवर्ण, मणि एवं रत्नोंसे निर्मित दिव्य वेदिका है । यह वेदिका नाना तोरणसमूहोंसे सहित, मणियों एवं सुवर्णसे मंडित, अतिशय रमणीय शाश्वत, अनादि-निधन और नाना प्रकारके रूपों (मूर्तियों) से सम्पन्न है ॥ ५२–५३ ॥ उद्यान-वनकी जगतीके तोरण युक्त सब गोपुरद्वारोंमें अकृत्रिम और शाश्वत स्वभाववाली जिनेन्द्रोंकी प्रतिमायें होती हैं ॥ ५४ ॥ वहां जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र, एक मंदर शिखरी (सुमेरु) और छह उन्नत कुलगिरि हैं ॥ ५५ ॥ भिन्न भिन्न रत्नोंके परिणाम स्वरूप दो सौ कनकनग (कंचनगिरि), चार यमक पर्वत और उतने ही नाभिपर्वत भी जानना चाहिये ॥ ५६ ॥ चौंतीस वृषभनग, उतने ही वैताढ्य और नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम स्वरूप सोलह वक्षारपर्वत हैं ॥ ५७ ॥ विदेहके मध्यमें नाना मणियोंके प्रकाशमान किरणसमूहसे युक्त आठ दिग्गजेन्द्र और उतनी ही वेदिकायें कही गयी हैं ॥ ५८ ॥ पूर्व-पश्चिम लंबे वर्षधरों (पर्वतों) की नाना मणियों व रत्नोंके समूहसे युक्त सोलह उत्तम वेदिकायें जानना चाहिये ॥ ५९ ॥ जम्बूद्वीपमें क्षेत्रोंकी अठारह वेदियां हैं । मणियों व रत्नोंके स्फुरायमाण किरणोंसे

१ प ब गाउद. २ उ ताडिमसज्जज्जुण, प ताडिमसंजज्जुणा, ब ताडिमसज्जज्जुणा., श ताडिमसज्जुण. ३ उ प ब दिव्वामोयसुगंधं. ४ उ किन्नरसणाहं, प ब किंनरसनेहं. ५ प उच्छेद्धा, ब उव्विद्धा. ६ श ओ[illegible] ७ प ब अकट्टिमा. ८ उ श तित्थ. ९ उ प ब श सिहरो. १० उ जुग्मा, श जुग्गा. ११ प नाभिनगा तेत्ति[illegible] ब नाभिणगा तेहिया. १२ प ब वेदड्ढा. १३ प ब मुणेयव्वा. १४ उ प श वावखारणगा. १५ उ [illegible] प ब वीसा.

वंसाणं वेदीओ अट्ठारस होंति जंबुदीवम्हि । वेगाउदउव्विद्धो मणिरयणफुरंतकिरणोहा ॥ ६०
पुव्वावरायदाओ वंसधराणं हवंति वेदीओ । उत्तरदक्खिणदीहो वंसाणं होंति णिद्दिट्ठा ॥ ६१
बावण्णसया णेया वेदीओ होंति रयणमइयाओ । कुंडजमहाणदीणं णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥ ६२
चउदसमहाणदीणं अट्ठावीसा हवंति वेदीओ । चउवीसा विण्णेया पउमादीणं दहाणं तु ॥ ६३
कुंडाणं णिद्दिट्ठा दसूणसयवेदिया समुत्तुंगा । कंचणरयणमयाओ पंचेव य धणुसयाँ विउला ॥ ६४
सव्वाओ वेदीओ तोरणणिवद्धा हवंति णायव्वा । विक्खंभुस्सेहेहि य अवगाहेहिं हवे सरिसा ॥ ६५
तिण्णि सदा एक्कारा मणिकंचणमंडिया णगा णेया । तावदिया वेदीओ णगाण सव्वाण दीवस्स ॥ ६६
वारस चदुसहिय दहा दहाण वेदी हवंति तावदिया । चउदसमहाणदीओ छावत्तरि कुंडजणदीओ ॥ ६७
णउदी चउदसलक्खा छप्पण्ण सहस्स होदि परिमाणं । दीवस्स णदी णेया तावदिया दुगुणवेदीओ ॥ ६८
चत्तारि धणुसहस्सा उत्तुंगा धणुसहस्सअवगाढा । पंचसयदंडविउला सव्वाओ होंति वेदीओ ॥ ६९

....

युक्त ये वेदियां दो कोश ऊंची हैं ॥ ६० ॥ वर्षधरोंकी वेदियां पूर्व-पश्चिम लम्बी और क्षेत्रोंकी वेदियां उत्तर-दक्षिण लम्बी कही गयी हैं ॥ ६१ ॥ सर्वदर्शियों द्वारा निर्दिष्ट कुण्डोंसे निकली हुई महानदियोंकी रत्नमय वेदिकायें बावन सौ जानना चाहिये ॥ ६२ ॥ चौदह महानदियोंकी वेदियां अट्ठाईस और पद्मादिक द्रहोंकी चौबीस जानना चाहिये ॥ ६३ ॥ कुण्डोंकी उन्नत वेदिकायें दस कम सौ (९०) कही गयी हैं । ये सुवर्ण व रत्नमय वेदिकायें पांच सौ धनुष प्रमाण विस्तृत हैं ॥ ६४ ॥ तोरणसमूहसे संयुक्त सब वेदियोंको विष्कम्भ, उत्सेध और अवगाहमें सदृश समझना चाहिये ॥ ६५ ॥ जम्बूद्वीपमें मणियों व सुवर्णसे मण्डित तीन सौ ग्यारह पर्वत और उन सब पर्वतोंकी उतनी ही वेदियां जानना चाहिये [कुलपर्वत ६ + विजयार्ध ३४ + वक्षारगिरि १६ + गजदन्त ४ + दिग्गजेन्द्र ८ + नाभिगिरि ४ + वृषभाचल ३४ + यमक ४ + कंचनशैल २०० + मेरु १ = ३११.] ॥ ६६ ॥

चार सहित बारह अर्थात् सोलह द्रह (कुलपर्वतस्थ ६ और विदेह क्षेत्रस्थ १०) और उतनी ही द्रहोंकी वेदियां हैं । चौदह महानदियां और छयत्तर (बत्तीस विदेह सम्बन्धी ६४, विभंग नदी १२) कुण्डज नदियां हैं ॥ ६७ ॥ द्वीपकी नदियोंका प्रमाण चौदह लाख, छप्पन हजार, नब्बै जानना चाहिये । इनसे दूनी उनकी वेदियां हैं [सीता-सीतोदा २ + बत्तीस विदेहस्थ ६४ + विभंग १२ + सीता-सीतोदापरिवार १६८००० + वि. नदीपरिवार ८९६००० + छह भरतादि क्षेत्रोंकी ३९२०१२ = १४५६०९०.] ॥ ६८ ॥

सब वेदियां चार हजार धनुष प्रमाण ऊंची, एक हजार धनुष प्रमाण अवगाहवाली और पांच सौ धनुष विस्तृत होती हैं ॥ ६९ ॥ उत्तम नदियोंके किनारोंपर, पर्वतोंपर

....

१ उ श उव्वद्धा. २ उ श दक्खिणदेहा, व दक्षिणदीह. ३ प व धणसया. ४ प सव्वाओ व विं तो तोण, व सव्वाऊ व दीओ तोरण. ५ प °चढ, व चढ.

वरणद्दतडेसुं गिरिसु य उज्जाणवणेसु दिव्वभवणेसुं । संबलिजंबुदुमेसु य पउमिणिसंडेसु सव्वेसुं ॥ ७०
दिसिगयवरेसु अट्ठसु वक्खारणगेसुं णाहियणगेसुं । कंचणणगेसु रम्मा वरमंदरपव्वदे तुंगे ॥ ७१
गंगाकूडेसु तहा वेदड्ढणगेसु रिसभसेलेसुं । जलवाहिणिकुंडेसुं य विदेहवंसाइखेत्तेसुं ॥ ७२
गोउरदारेसु तहा मणिमयवरतोरणेसु रम्मेसुं । णिम्मलवरदेहधरा जिणपडिमाओ णमंसामि ॥ ७३
अण्णाणतिमिरदलणो मुणिगणधरकुमुयसंडबोहयरो । वरपउमणंदिमहिओ जिणवरचंदो दिसउ बोहिं ॥ ७४

॥ इय जंबूदीवपण्णत्तिसंगहे उवग्घायपत्थाओ णाम पढमउद्देसो समत्तो ॥ १ ॥

उद्यान-वनोंमें, दिव्य भवनोंमें, शाल्मलिवृक्ष, जम्बूवृक्ष, सब पद्मिनीषण्ड, श्रेष्ठ दिग्गज, आठ वक्षार नग, नाभिनग, कंचननग, उन्नत एवं श्रेष्ठ मन्दर पर्वत, गंगाकूट, वैताढ्यनग, ऋषभशैल, नदीकुण्ड, विदेहवर्षादि क्षेत्र, गोपुरद्वार और रम्य महा मणिमय उत्तम तोरण, इन स्थानोंमें स्थित निर्मल एवं उत्तम देहको धारण करनेवाली रमणीय जिनप्रतिमाओंको नमस्कार करता हूं ॥ ७०–७३ ॥ अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला, मुनि एवं गणधर रूपी कुमुदसमूहका विकासक और पद्मनन्दिसे पूजित जिनवररूपी चन्द्र बोधिको प्रदान करे ॥ ७४ ॥

॥ इस प्रकार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसंग्रहमें उपोद्घातप्रस्ताव नामक प्रथम उद्देश समाप्त हुआ ॥ १ ॥

---

१ उ श वरणयतडेसु, ब वरणतडेसु. २ प ब णमेसु. ३ उ श जलवाहिणि. ४ उ श दलणे. ५ उ श °पण्णत्तिसंगहे उवग्घायपत्थावो णाम पढम, प ब पण्णत्तिसंगहे उउवाघाययछ्ऊणपढम.

[बिदिओ उद्देसो]

उसभजिणिंदं पणमिय दसद्धसयचावदीहरं णाहं । जंबूदीवस्स तहा खेत्तविभागं पवक्खामि ॥ १
इह होइ भरहखेत्तो तत्तो हेमवदो[1] य हरिवंसो । तह य विदेहो रम्मग[2] हेरण्णवदो य अइरवदो ॥ २
कप्पतरुधवलछत्ता उववणससिधवलचामराडोवा । बहुकुंडरयणकंठा[3] वणकुंडलमंडियागंडा ॥ ३
वेइकडि[4]सुत्तसोहा णाणापव्वयफुरंतवरमउडा । वरणइजलच्छहारा[5] खेत्तणरिंदा विरायंति ॥ ४
पुव्वावरेण दीहा सत्त वि खेत्ता विणासपरिहीणा । कुलपव्वयकयसीमा वित्थिण्णा दक्खिणुत्तरदो ॥ ५
एक्कखंडो भरहो दुगुणो हिमवंतवित्थडो दिट्ठो । दुगुणदुगुणा दु सव्वे सत्त विभागा मुणेयव्वा ॥ ६
जाव दु विदेहवंसो पव्वदखेत्ताण होइ परिवड्ढी । तत्तो अद्धद्धखओ जाव दु एरावदो वंसो ॥ ७
कुलगिरिखेत्ताणि तहा तेरस भागा हवंति णायव्वा । एयट्ठकए सव्वे णउदि[6]सयं होंति पिंडेण ॥ ८
णउदिसएण विभत्तं जोयणलक्खं पुणो वि इच्छगुणं । विक्खंभं णायव्वं खेत्तादीणं तु जं लद्धं ॥ ९

दसके आधे अर्थात् पांच सौ धनुष लंबे स्वामी ऋषभ जिनेन्द्रको नमस्कार करके जम्बूद्वीपके क्षेत्रविभागको कहता हूं ॥ १ ॥ यहां जम्बूद्वीपमें भरतक्षेत्र, हैमवत, हरिवर्ष, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत, ये सात क्षेत्र हैं ॥ २ ॥ कल्पवृक्षरूपी धवल छत्रोंसे सहित, चन्द्रमाके समान धवल उपवनरूपी चामरोंके विस्तारसे संयुक्त, बहुत कुण्डरूपी रत्नमय कण्ठाभरणोंसे सुशोभित, वनरूपी कुण्डलोंसे अलंकृत कपोलोंवाले, वेदीरूपी कटिसूत्रोंसे शोभायमान, नाना पर्वतरूपी प्रकाशमान उत्तम मुकुटोंसे युक्त, और उत्तम नदीजलरूपी निर्मल हारोंसे विभूषित, ऐसे क्षेत्ररूपी राजा विराजमान हैं ॥ ३–४ ॥ पूर्व-पश्चिम लंबे, विनाशसे रहित और कुलपर्वतोंसे की गयी सीमासे संयुक्त ये सातों क्षेत्र दक्षिण-उत्तरमें विस्तृत हैं ॥ ५ ॥ [जम्बू द्वीपके एक सौ नव्वै भागोंमें] एक खण्ड (भाग) भरत क्षेत्र है । उससे दुगुणा विस्तृत हिमवान् पर्वत बतलाया गया है । इस प्रकार विदेह क्षेत्र तक चार क्षेत्र व तीन कुलपर्वत, ये सात विभाग उत्तरोत्तर दूने जानना चाहिये । विदेह क्षेत्र तक पर्वत और क्षेत्रोंके विस्तारमें उत्तरोत्तर वृद्धि तथा उससे आगे ऐरावत क्षेत्र तक उनके विस्तारमें उत्तरोत्तर आधी आधी हानि होती गई है ॥ ६–७ ॥ छह कुलपर्वत तथा सात क्षेत्र, ये जम्बूद्वीपके तेरह भाग जानना चाहिये । इन सबको इकट्ठा करनेपर पिण्ड रूपसे एक सौ नव्वै भाग होते हैं ॥ ८ ॥ एक लाख योजनमें एक सौ नव्वैका भाग देकर पुनः इच्छासे गुणा करनेपर जो प्राप्त हो उतना क्षेत्रादिकोंका विष्कम्भ जानना चाहिये ॥ ९ ॥

विशेषार्थ — चूंकि विदेह पर्यन्त चार क्षेत्र और तीन कुलपर्वत, ये सात विभाग

---

१ उ °खेत्तो तत्तो हेमपव्वदो, श °सेत्तो हेयमव्वदो. २ उ श रमगो, ब रमग. ३ ब कुंदारयकंत्रा, प कुंद-रयणकंठा. ४ प ब वेइक्कडि. ५ उ वरणइजलंतहोरा, प ब वरणइजलंतहारा, श वरणइजलंतहोए. ६ प ब णवदि.

पंचसया छव्वीसा विक्खंभा जोयणा समुद्दिट्ठा । उणवीसदिमे भागे छच्चेव कला दु भरहस्स ॥ १०
धरणिद्दो दुं दुगुणो धरणिधरादो दु वसुमदं दुगुणा[1] । एवं दुगुणा दुगुणा पव्वदखेत्ता मुणेयव्वा ॥ ११
जाव दु विदेहवंसो सत्त विभागा हवंति दुगुणा दु । तत्तो अद्धद्धखओ[2] जाव दु एरावदो वंसो ॥ १२
चत्तारिसदेगत्तरि चउदहजोयणसहस्स पंचकला । हिमगिरितडे वियाणसु आयामो भरहवंसस्स ॥ १३
जोयणअट्ठावीसा पंचसया तह य चउदहसहस्सा । एयारकला णेया भरहस्स दु होइ धणुपट्टं ॥ १४
खेत्तादिकला दुगुणा खेत्तजुदा तेसुं होइ हसुसंखा । धरणीधरणिधराणं जाव दु वरमंदिरे मज्झे ॥ १५
एक्कादीरूवुत्तरेअण्णोण्णगुणेहि हवइ जं लद्धं । रूवूणं आदिगुणं खेत्तादीणं कला णेया ॥ १६

उत्तरोत्तर दूने दूने तथा आगेके छह विभाग उत्तरोत्तर आधे आधे विस्तारवाले हैं; अत एव उनकी खण्डव्यवस्था इस प्रकार है— भरत क्षेत्र १ + हिमवान् २ + हैमवत ४ + महाहिमवान् ८ + हरि १६ + निषध ३२ + विदेह ६४ + नील ३२ + रम्यक १६ + रुक्मि ८ + हैरण्यवत ४ + शिखरी २ + ऐरावत १ = १९० । अब उक्त क्षेत्रों व पर्वतोंमेंसे अभीष्ट क्षेत्र या पर्वतके विस्तारको ज्ञात करनेके लिये जम्बू द्वीपके विस्तार १००००० योजनमें १९० का भाग देकर लब्धको अभीष्ट क्षेत्र या पर्वतके खण्डोंसे गुणा करना चाहिये । इस रीतिसे अभीष्ट विस्तारका प्रमाण प्राप्त हो जाता है । उदाहरण स्वरूप यदि हमें विदेह क्षेत्रका विस्तार ज्ञात करना है तो वह $\frac{१००००० \times ६४}{१९०} = ३३६८४\frac{४}{१९}$ इस प्रक्रियासे प्राप्त हो जाता है (देखिये तिलोयपण्णत्ती ४–१०२ आदि) ।

भरत क्षेत्रका विष्कम्भ पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग कहा गया है [$१००००० \div १९० \times १ = ५२६\frac{६}{१९}$ योजन ।] ॥ १० ॥ [क्षेत्रसे] दूना पर्वत और पर्वतसे दूना क्षेत्र, इस प्रकार पर्वत और क्षेत्र उत्तरोत्तर दूने दूने जानना चाहिये ॥ ११ ॥ विदेह वर्ष तक सात विभाग दूने और उसके पश्चात् ऐरावत वर्ष तक आधी आधी हानि होती गयी है ॥ १२ ॥ हिमवान् पर्वतके तटमें भरतक्षेत्रका आयाम चौदह हजार चार सौ इकत्तर योजन और पांच कला ($१४४७१\frac{५}{१९}$) प्रमाण है ॥ १३ ॥ भरत क्षेत्रका धनुषपृष्ठ चौदह हजार पांच सौ अट्ठाईस योजन और ग्यारह कला ($१४५२८\frac{११}{१९}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ १४ ॥ क्षेत्रादिककी कलाओंको दुगुणा करके उनमें क्षेत्रके मिलानेपर [भरतक्षेत्रके कम करनेपर ?] मेरुपर्वतके मध्य भाग तक क्षेत्र व पर्वतोंका बाणप्रमाण आता है ॥१५॥ उदाहरण—हरिवर्षका विस्तार $८४२१\frac{१}{१९} = \frac{१६००००}{१९}$ (कला); $\frac{१६००००}{१९} \times २ - \frac{१००००}{१९} = \frac{३१००००}{१९} = १६३१५\frac{१५}{१९}$ हरिवर्षका बाण ।

एकको आदि लेकर एक-एक अधिक अंकोंको परस्पर गुणित करनेसे जो प्राप्त हो उसमेंसे एक कम करके आदिसे गुणित करनेपर प्राप्त राशि प्रमाण क्षेत्रादिकोंकी कलाओंका प्रमाण जानना चाहिये (?) ॥ १६ ॥ द्वीप अर्थात् जम्बूद्वीपके आयामको एक सौ

---

१ प ब धरणिधरादो. २ उ वसुमइ दुगुणा, श वसमुद दुगुणा. ३ प ब अद्धद्धवखऊ. ४ खेत्तन्जुदा तोसु. ५ उ श °त्तउत्तर, प ब दुवत्तर.

णउदिसदेहि विभत्तं दीवायामं विहीण समखुण्णं[1] । खेत्तादीणं णेया कलसंखा[2] इच्छसंगुणिदा ॥ १७
इच्छागुण विण्णेया भरहादिविदेहवंसपरियंता । एक्कादिदुगुणदुगुणा सत्तेव य होंति णिद्दिट्ठा ॥ १८
उणवीसगुणं किच्चा पंचसया जोयणा य छव्वीसा । छच्चेव कलासहिया कलसंखा होइ भरहस्स ॥ १९
चदुसुण्णएक्कतियसत्तपण्णरसै[3]एक्कतीस तेसट्ठी । भरहादिकला णेया उणवीसगदेहिं[4] छेदेहिं ॥ २०

नब्बैसे विभक्त करके दोनों राशियोंमें शून्यको अपवर्तित कर इच्छासे गुणित करनेपर क्षेत्रादिकी कलाओंका प्रमाण जानना चाहिये ॥ १७ ॥ भरत क्षेत्रको आदि लेकर विदेह क्षेत्र तक क्रमसे एकको आदि लेकर दूने दूने सात ही गुणकार बतलाये गये हैं, उन्हें इच्छागुणकार जानना चाहिये ॥ १८ ॥

विशेषार्थ— भरत क्षेत्रसे दूना विस्तार हिमवान् पर्वतका, उससे दूना हैमवत क्षेत्रका, उससे दूना महाहिमवान् पर्वतका, इस प्रकार विदेह क्षेत्र तक चूंकि उत्तरोत्तर दूना दूना विस्तार होता गया है; अत एव भरत, हिमवान्, हैमवत, महाहिमवान्, हरि, निषध और विदेह, इन सात स्थानोंके विस्तारप्रमाणको लानेके लिये क्रमशः १, २, ४, ८, १६, ३२ और ६४, ये सात गुणकार बतलाये गये हैं। विदेह क्षेत्रसे आगे नील, रम्यक, रुक्मि, हैरण्यवत, शिखरी और ऐरावत, इन छह स्थानोंका विस्तार चूंकि उत्तरोत्तर आधा आधा होता गया है, अतः इन सबके विस्तारको लानेके लिये क्रमसे ३२, १६, ८, ४, २ और १ ये छह गुणकार जानना चाहिये। उक्त १३ स्थानोंके अंकोंका योग चूंकि १९० होता है, अत एव अभीष्ट स्थानके विस्तारप्रमाणको लानेके लिये जम्बूद्वीपके विस्तार (१००००० योजन) में १९० का भाग देकर लब्धको इच्छित गुणकारसे गुणित करना चाहिये। उदाहरण— हरिवर्ष क्षेत्रका विस्तार लानेके लिये $\frac{१००००\times१६}{१९} = \frac{१६००००}{१९}$ (कलाओंमें) = ८४२१ $\frac{१}{१९}$ हरिवर्षका विस्तार।

पांच सौ छब्बीस योजनोंको उन्नीससे गुणा करके उसमें छह कला और मिलानेपर भरतक्षेत्रकी कलाओंकी संख्या प्राप्त होती है ॥ १९ ॥ चार शून्योंके ऊपर एक, तीन, सात, पन्द्रह, इकतीस और तिरेसठके रखनेपर उन्नीस भागोंसे क्रमशः भरतादिककी कलाओंका प्रमाण जानना चाहिये, अर्थात् चार शून्य और एक अंक प्रमाण ($\frac{१००००}{१९}$) भरत, चार शून्य और तीन अंक प्रमाण ($\frac{३००००}{१९}$) हिमवान्पर्वत, चार शून्य और सात अंक प्रमाण ($\frac{७००००}{१९}$) हैमवत, चार शून्य और पन्द्रह अंक प्रमाण ($\frac{१५००००}{१९}$) महाहिमवान् पर्वत, चार शून्य और इकतीस अंक प्रमाण $\frac{३१००००}{१९}$ हरिवर्ष, तथा चार शून्य और तिरेसठ ($\frac{६३००००}{१९}$) अंक प्रमाण निषध पर्वतकी कलाओंका प्रमाण जानना चाहिये ॥ २० ॥

---

१ श समघुणं. २ प ब कलासंखा. ३ उ पणरस, श पणरस. ४ प ब गणेहिं.

धणुपट्ठबाहुचूलीजीवाणं इसुगणाण दीवस्स । उणवीसभागभजिदे जे लद्धा ते कला णेया ॥ २१
पणणउदा तेसट्ठा इगितीसा तिपणसत्ततियएक्का । इसु होंति विदेहादो उणवीसदिभागदससहस्सगुणा ॥ २२
इसुरहिदं[३] विक्खंभं इसुसंगुणिदं पुणो वि चदुगुणिदं । घेत्तूण वग्गमूलं लद्धा जीवा समुद्दिट्ठा ॥ २३
छहि[४] गुणिदं इसुवग्गं पक्खेवेदूण जीववग्गम्मि । धणुपट्ठं णायव्वं लद्धं तव्वग्गमूलं[५] तु ॥ २४
विक्खंभपढंचाणं[६] वग्गविसेसस्स हवइ जं मूलं । अवणिय विक्खंभादो सेसस्स दलं इसुं जाणे ॥ २५

द्वीपके धनुषपृष्ठ, चाप, चूली, जीवा और वाण समूहोंको उन्नीस भागसे भाजित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी कलायें जानना चाहिये ॥ २१ ॥ उन्नीससे भाजित और दस हजारसे गुणित पंचानबै, तिरेसठ, इकतीस, तिगुने पांच अर्थात् पन्द्रह, सात, तीन और एक अंक प्रमाण क्रमसे विदेहादिके वाण होते हैं ॥ २२ ॥ $\frac{१००००\times९५}{१९} = ५००००$ यो. विदेहका वाण, $\frac{१००००\times६३}{१९} = ३३१५७\frac{१७}{१९}$ निषधका वाण, $\frac{१००००\times३१}{१९} = १६३१५\frac{१५}{१९}$ हरिक्षेत्रका वाण, $\frac{१००००\times१५}{१९} = ७८९४\frac{१४}{१९}$ महाहिमवान्का वाण, $\frac{१००००\times७}{१९} = ३६८४\frac{४}{१९}$ हैमवत क्षेत्रका वाण, $\frac{१००००\times३}{१९} = १५७८\frac{१८}{१९}$ हिमवान्का वाण, $\frac{१००००\times१}{१९} = ५२६\frac{६}{१९}$ भरतका वाण ।

वाणसे रहित विष्कम्भको वाणसे गुणा करके पुनः चारसे गुणा करनेपर जो प्राप्त हो उसके वर्गमूल प्रमाण जीवा कही गई है ॥ २३ ॥ उदाहरण— इस प्रक्रियाके अनुसार हैमवत क्षेत्रकी जीवाका प्रमाण इस प्रकार होगा— वाण $\frac{७००००}{१९}$; विष्कम्भ $\frac{१९०००००}{१९}$; $\frac{१९०००००}{१९} - \frac{७००००}{१९} = \frac{१८३००००}{१९}$; $\frac{१८३००००}{१९} \times \frac{७००००}{१९} = \frac{१२८१०००००००}{३६१}$; $\frac{१२८१०००००००\times४}{३६१} = \frac{\quad००००००००}{३६१}$; इसका वर्गमूल $\frac{७१५८२२}{१९} = ३७६७४\frac{१६}{१९}$ हैमवत क्षेत्रकी जीवा ।

छहसे गुणित वाणके वर्गको जीवाके वर्गमें मिलाकर जो लब्ध हो उसका वर्गमूल निकालनेपर धनुषपृष्ठका प्रमाण जानना चाहिये ॥ २४ ॥ उदाहरण— हैमवत क्षेत्रका वाण $\frac{७००००}{१९}$; $\frac{७००००}{१९}^{२} \times ६ = \frac{२९४००००००००}{३६१}$, जीवावर्ग $\frac{५१२४००००००००}{३६१} + \frac{२९४००००००००}{३६१} = \frac{५४१८००००००००}{३६१}$; इसका वर्गमूल $\frac{७३६०७०}{१९} = ३८७४०\frac{१०}{१९}$ हैमवत क्षेत्रका धनुषपृष्ठ.

विष्कम्भ और प्रत्यंचा (जीवा) के वर्गको परस्पर घटाकर जो उसका वर्गमूल हो उसे विष्कम्भमेंसे घटाकर शेषको आधा करनेपर बाणका प्रमाण जानना चाहिये ॥ २५ ॥ उदाहरण— विष्कम्भ $\frac{१९०००००}{१९}$ यो., इसका वर्ग $\frac{३६१००००००००००}{३६१}$; जीवावर्ग $\frac{५१२४००००००००}{३६१}$; $\frac{३६१००००००००००-५१२४००००००००}{३६१} = \frac{३०९७६००००००००}{३६१}$ इसका वर्गमूल $\frac{१७६००००}{१९}$; $\frac{१९०००००-१७६००००}{१९} = \frac{१४००००}{१९}$; $\frac{१४००००}{१९} \div २ = \frac{७००००}{१९} = ३६८४\frac{४}{१९}$ हैमवत क्षेत्रका बाण ।

---

१ उ ब धणुपठवाहु, श धणुपठचाहु. २ प ब उणवीसविभाग. ३ उ उसुरहिदं, प ब वसरहिदं. ४ प ब छह. ५ उ प ब श तं वग्गमूलं. ६ उ श पढञ्चाणं, प ब पडंचाणं.

चदुगुणइसूहि भजिदं जीवावग्गं पुणो वि इसुसहिदं । परिमंडलखेत्तस्स दु विक्खंभं[1] होइ णायव्वं ॥ २६
उग्गाढेहि विहूणं उग्गाढचउक्कएहिं अब्भत्थं । दीवस्स दु विक्खंभं जीवाकरणी वियाणाहि ॥ २७
छच्चेव य इसुवग्गं जीवाकरणीजुदं तु जं लद्धं । णेया तं धणुकरणी उद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि[2] ॥ २८
जीवावग्गविसोधियधणुवग्गादो हवेज्ज जं सेसं । बारसदलेहिं भजिदे इसुकरणी तं वियाणाहि ॥ २९
अणुगुरुचावविसेसं सेसं दलिऊण हवइ जं लद्धं । बोद्धव्वा पस्सभुजा[3] सव्वधणूणं विणिद्दिट्ठा ॥ ३०

चौगुणे बाणसे भाजित जीवाके वर्गमें पुनः बाणके मिलानेपर वृत्त क्षेत्रका विष्कम्भ जानना चाहिये ॥२६॥ उदाहरण— (१) भरत क्षेत्रका विष्कम्भ $\frac{\text{१००००}}{\text{१९}}$; उसकी जीवाका वर्ग $\frac{\text{७५६००००००००}}{\text{३६१}}$; $\frac{\text{७५६००००००००}}{\text{३६१}} \div (\frac{\text{१००००}}{\text{१९}} \times \text{४}) + \frac{\text{१००००}}{\text{१९}} = \frac{\text{१९०००००}}{\text{१९}} = \text{१०००८०}$ यो. जम्बू द्वीपका विस्तार। (२) हैमवत क्षेत्रका विष्कम्भ $\frac{\text{७००००}}{\text{१९}}$, जीवाका वर्ग $\frac{\text{५१२४००००००००}}{\text{३६१}}$; $\frac{\text{५१२४००००००००}}{\text{३६१}} \div (\frac{\text{७००००}}{\text{१९}} \times \text{४}) + \frac{\text{७००००}}{\text{१९}} = \frac{\text{१९०००००}}{\text{१९}} = \text{१०००००}$ यो. वृत्त क्षेत्र जम्बू द्वीपका विस्तार।

अवगाह अर्थात् बाणसे रहित द्वीपके विष्कम्भको चौगुणे बाणसे गुणा करनेपर जीवाके वर्गका प्रमाण जानना चाहिये ॥ २७ ॥ उदाहरण— जम्बू द्वीपका विष्कम्भ $\frac{\text{१९०००००}}{\text{१९}}$; हैमवत क्षेत्रका बाण $\frac{\text{७००००}}{\text{१९}}$; $\frac{\text{१९०००००}}{\text{१९}} - \frac{\text{७००००}}{\text{१९}} \times (\frac{\text{७००००}}{\text{१९}} \times \text{४}) = \frac{\text{५१२४००००००००}}{\text{३६१}}$ हैमवत क्षेत्रकी जीवाका वर्ग।

छहगुणे बाणके वर्गको जीवाके वर्गमें मिलानेपर जो प्राप्त हो उतना जिनेन्द्र देवने धनुषके वर्गका प्रमाण कहा है ॥ २८ ॥ उदाहरण— हैमवत क्षेत्रकी जीवाका वर्ग $\frac{\text{५१२४००००००००}}{\text{३६१}}$; उसका बाण $\frac{\text{७००००}}{\text{१९}}$; $\frac{\text{५१२४००००००००}}{\text{३६१}} + (\frac{\text{७००००}}{\text{१९}}^{\text{२}} \times \text{६}) = \frac{\text{५४१८००००००००}}{\text{३६१}}$ हैमवत क्षेत्रके धनुषका वर्ग।

धनुषके वर्गमेंसे जीवाके वर्गको घटाकर जो शेष रहे उसमें बारहके दल अर्थात् छहका भाग देनेपर बाणके वर्गका प्रमाण जानना चाहिये ॥२९॥ उदाहरण—हैमवत क्षेत्रके धनुषका वर्ग $\frac{\text{५४१८००००००००}}{\text{३६१}}$; उसकी जीवाका वर्ग $\frac{\text{५१२४००००००००}}{\text{३६१}}$; $\frac{\text{५४१८००००००००}}{\text{३६१}} - \frac{\text{५१२४००००००००}}{\text{३६१}} \div \frac{\text{१२}}{\text{२}} = \frac{\text{४९००००००००}}{\text{३६१}}$ हैमवत क्षेत्रके बाणका वर्ग.।

अणु अर्थात् छोटे चापको बड़े चापमेंसे घटाकर शेषको आधा करनेपर जो प्राप्त हो उसे सब धनुषोंकी पार्श्वभुजा निर्दिष्ट की गई समझना चाहिये ॥ ३० ॥ उदाहरण— दक्षिण भरतका चाप $\text{९७६६}\frac{\text{१}}{\text{१९}}$; विजयार्धका चाप $\text{१०७४३}\frac{\text{१५}}{\text{१९}}$; $\text{१८७४३}\frac{\text{१५}}{\text{१९}} - \text{९७६६}\frac{\text{१}}{\text{१९}} = \text{९७७}\frac{\text{१४}}{\text{१९}}$; $\text{९७७}\frac{\text{१४}}{\text{१९}} \div \text{२} = \text{४८८}\frac{\text{३३}}{\text{३८}}$ विजयार्धकी पार्श्वभुजा।

---

१ उ श खेत्तस्स वि विक्खंभं. २ उ श जिनवरेहिंव ३ उ श पस्सज्जवा, प व पस्संभुवा.

जीवा गुरुअणुसुद्धा[1] सेसद्धं चूलिया समुद्दिट्ठा । जंबूदीवस्स तहा णायव्वा सव्वजीवाणं ॥ ३१
भरहेरावयमज्झे वेयड्ढा भूधरा समुत्तुंगा । रयदमया णायव्वा अणाइणिहणा समुद्दिट्ठा ॥ ३२
पणुवीसा उव्विद्धा[2] पण्णासा जोयणा दु वित्थिण्णा । छच्चेव य सक्कोसा अवगाढा होंति णिद्दिट्ठा ॥ ३३
अडदाला सत्तसया णवयसहस्साणि जोयणायामा । बारसकलाविसेसो वेदड्ढाणं तु दक्खिणदो ॥ ३४
बीसा सत्तसदाणि य दसयसहस्साणि[3] उत्तरे पासे । बारह किंचूणकला पुव्वावरसलिलणिहिपुट्ठा ॥ ३५
चत्तारिसया णेया अडसीदा जोयणाणि पस्सभुजा[4] । वेदड्ढाण णगाण य सुद्धा सोलस कला होंति ॥ ३६
पंचेव जोयणसदा चउदसपरिहीणचूलिया णेया । भरहस्सेरवदस्स[5] य वेदड्ढाणं समुद्दिट्ठा ॥ ३७
दसदसजोयणभागा उवरिं गंतूण गिरिवराण तहा । दो दो सेढी पवरा वित्थिण्णा दसदसा णेया ॥ ३८
दक्खिणवरसेढीए पण्णास पुरवरा समुद्दिट्ठा । णाणाविहरयणमया सट्ठी पुणु उत्तरे पासे ॥ ३९
विज्जाहराण णयरा अणाइणिहणा सहावणिप्पण्णा । रयणमया विण्णिसया सवेदिया तोरणाडोवा ॥ ४०

बड़ी जीवामेंसे छोटी जीवाको घटानेपर जो शेष रहे उसके अर्ध भाग प्रमाण जम्बू द्वीपकी सब जीवाओंका प्रमाण जानना चाहिये ॥ ३१ ॥ उदाहरण— दक्षिण भरतकी जीवा ९७४८ $\frac{१२}{१९}$, विजयार्धकी जीवा १०७२० $\frac{११}{१९}$; १०७२० $\frac{११}{१९}$ − ९७४८ $\frac{१२}{१९}$ ÷ २ = ४८५ $\frac{३७}{३८}$ विजयार्धकी चूलिका ।

भरत क्षेत्रके मध्यमें और ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें उन्नत, रजतमय, अनादिनिधन वैताढ्य पर्वत कहे गये जानना चाहिये ॥ ३२ ॥ ये वैताढ्य पर्वत पच्चीस योजन ऊंचे, पचास योजन विस्तीर्ण और एक कोश सहित छह योजन अवगाहसे सहित हैं ॥ ३३ ॥ दक्षिणकी ओर वैताढ्य पर्वतकी जीवाका प्रमाण नौ हजार सात सौ अड़तालीस योजन और बारह कला है ॥ ३४ ॥ उत्तर पार्श्वभागमें आयाम अर्थात् जीवाका प्रमाण दस हजार सात सौ बीस योजन और कुछ कम बारह कला है । उक्त पर्वत पूर्व-पश्चिम समुद्रको छूते हैं ॥ ३५ ॥ वैताढ्य पर्वतोंकी पार्श्वभुजा चार सौ अठासी योजन और सार्ध सोलह कला प्रमाण जानना चाहिये (देखिये गा. ३० का उदाहरण) ॥ ३६ ॥ भरत और ऐरावत क्षेत्रके वैताढ्योंकी चूलिका चौदह कम पांच सौ (४८६) योजन प्रमाण जानना चाहिये (देखिये गा. ३१ का उदाहरण) ॥ ३७ ॥ इन श्रेष्ठ पर्वतोंके ऊपर दस दस योजन जाकर दस दस योजन विस्तीर्ण दो दो उत्तम श्रेणियां हैं ॥ ३८ ॥ इनमेंसे दक्षिण श्रेणीमें पचास और उत्तर पार्श्वभागमें साठ श्रेष्ठ नगर कहे गये हैं । ये नगर नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित हैं ॥ ३९ ॥ ये विद्याधरोंके दो सौ नगर अनादि-निधन, स्वभावनिष्पन्न अर्थात् अकृत्रिम, वेदिकाओंसे सहित, और तोरणोंके आटोपसे युक्त हैं ॥ ४० ॥ उक्त नगर वन-

---

१ उ श सिद्धी, प ब सुधी. २ उ श उथिद्धा. ३ उ श वससयसहस्साणि. ४ उ श पस्सउजा ब पस्सहुजा. ५ उ श भरहस्स रेवदस्स, प ब भरहस्स रेवदस्स.

उववणकाणणसहिया पोक्खरिणीवाविवप्पिणसणाहा। जिणसिद्धभवणणिवहा को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥४१
तत्तो दस उप्पइया दसजोयणवित्थडा[1] मुणेयव्वा। अभिजोगाणं णयरा णाणामणिकिरणपरिणामा ॥४२
रयणमयवेदिणिवहा वरगोउरभासुरा रयणचित्ता। मणिमयवरपासादा सव्वे सोहंति ते विमला ॥४३
वरकप्परुक्खणिवहा णाणाविहतरुगणेहिं कयसोहा। वावीतडायपउरा वरचेइयभवणसंछण्णा ॥४४
सोधम्मीसाणाणं देवाणं वाहणा सुरा[3] होंति। दोसु वि सेढीसु तहा देवा वररूवसंपण्णा ॥४५
जोयणपंचुप्पइया तत्तो अभिजोगपुरवरेहिंतो[4]। दसजोयणवित्थिण्णा वेदड्ढणगाण वरसिहरा ॥४६
तियसिंदचावसरिसा णिम्मलबालिंदुभासुराडोवा। वरवेदीपरिखित्ता मणितोरणभासुरा रम्मा ॥४७
तम्मि समभूमिभागे णाणामणिविप्फुरंतकिरणम्मि। होंति णव चेव कूडा कंचणमणिमंडिया दिव्वा ॥४८
पढमा य सिद्धकूडा पुव्वेण य होंति सव्वकूडाणं। विदिया य भरहकूडा तदिया खंडप्पवादा य ॥४९
चउथा य माणिभद्दा[6] वेदड्ढकुमार[7] पंचमा कूडा। छट्ठा य पुण्णभद्दा तिमिसगुहा सत्तमा कूडा ॥५०
अट्ठम य भरहकूडा णवमं वेसमणं[8] तुंगवरकूडा। छज्जोयण सक्कोसा उच्छेहा होंति ते सव्वे ॥५१
विक्खंभायामेण य छच्चेव य जोयणा सकोसा य। मूले हवंति कूडा वेदड्ढाणं समुद्दिट्ठा ॥५२
मज्झे चत्तारि हवे अड्ढादिज्जा य कोसपरिसंखा। उवरिं तिण्णेव भवे जोयणसंखा विणिद्दिट्ठा ॥५३

उपवनोंसे सहित; पुष्करिणी, वापी एवं वप्रिणियोंसे सनाथ, तथा जिनों व सिद्धोंके भवनसमूहसे संयुक्त हैं। इनका सम्पूर्ण वर्णन करनेके लिये कौन समर्थ है? ॥ ४१ ॥ विद्याधरश्रेणियोंसे दस योजन ऊपर जाकर वन-उपवनोंसे सहित, दस योजन विस्तृत और नाना मणियोंके किरणोंके परिणाम स्वरूप आभियोग्य देवोंके नगर हैं ॥ ४२ ॥ रत्नमय वेदिसमूहसे सहित, उत्तम गोपुरोंसे भास्वर, रत्नोंसे विचित्र और मणिमय उत्तम प्रासादोंसे संयुक्त वे सब निर्मल नगर शोभायमान हैं ॥ ४३ ॥ उक्त नगर उत्तम कल्पवृक्षोंके समूहसे सहित, अनेक प्रकारके तरुगणोंसे शोभायमान, प्रचुर वापियों व तालाबोंसे संयुक्त, और उत्तम चैत्यालयोंसे व्याप्त हैं ॥ ४४ ॥ इन दोनों ही श्रेणियोंमें रहनेवाले ये देव उत्तम रूप युक्त सौधर्म एवं ईशान इन्द्रके वाहन जातिके देव हैं ॥ ४५ ॥ उन अभियोगपुरोंसे पांच योजन ऊपर जाकर दस योजन विस्तीर्ण वैताढ्य पर्वतोंके उत्तम शिखर हैं ॥ ४६ ॥ इन्द्रधनुषके सदृश रमणीय वे शिखर निर्मल बाल चन्द्रके समान भास्वर, उत्तम वेदियोंसे वेष्टित, और मणितोरणोंसे शोभायमान हैं ॥ ४७ ॥ नाना मणियोंकी प्रकाशमान किरणोंसे संयुक्त उस समभूमिभागमें सुवर्ण एवं मणियोंसे मण्डित दिव्य नौ कूट हैं ॥ ४८ ॥ उनमें सब कूटोंके पूर्वकी ओरसे प्रथम सिद्धकूट, द्वितीय भरतकूट, तृतीय खण्डप्रपात, चतुर्थ माणिभद्र, पंचम वैताढ्यकुमारकूट, छठा पूर्णभद्र, सातवां तिमिश्रगुहकूट, आठवां भरतकूट और नौवां वैश्रवण नामक उन्नत उत्तम कूट है। ये सब कूट एक कोश सहित छह योजन ऊंचे हैं ॥ ४९–५१ ॥ वैताढ्य पर्वतोंके ये कूट विष्कम्भ व आयामसे भी मूलमें एक कोश सहित छह योजन, मध्यमें अढ़ाई कोश सहित चार योजन तथा ऊपर तीन योजन प्रमाण निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ ५२-५३ ॥ उक्त कूटोंकी परिधियां

---

१ उ श उववणकाणणसहिया दस. २ उ श वित्थडा. ३ उ श सुहरा. ४ उ श पुरवरेहंतो, ब पुरवरेहिंतो. ५ उ श तियसंद. ६ उ श चउत्था य माणिभद्दा, प चउत्था य माणिभद्दा, ब चउत्था य माणिभद्दा, ७ उ श वेदड्ढ ८ उ श वेसमण. ब पण्णासा.

मूलेसु होंति वीसा पण्णारस ऊणिया दु मज्झेसु । सिहरेसु णवं विसेसा जोयणसंखा दु परिधीओ ॥ ५४
पासादवलयगोउरधवलामलवेदियापरिक्खित्ता । देवाण होंति णगरा वेदड्ढणगाण सिहरेसुं ॥ ५५
कूडेसु होंति दिव्वा जिण[3]भवणा विप्फुरंत[4]मणिकिरणा । अमराण चार[5]भवणा कीडणसाला विसाला य ॥ ५६
मरगयमुणालवण्णा गोरोयणकमलकुसुम[6]संकासा । गोखीरसंखवण्णा भिण्णंजणसच्छहा पवरा ॥ ५७
ससिकुमुदहेमवण्णा असोयपुण्णायवउलसमतेया । वरवज्जणीलविद्दुमणाणाविहरयणपरिणामा ॥ ५८
गाउअ आयामेण य गाउद[7]अद्धा हवंति विच्छिण्णा । गाउदचदुभागूणा उच्छेहा[8] दिव्वजिणभवणा ॥ ५९
कंचणमणिपायारा अट्टालयरयणतोरणाढोवा । वलहीमडंवपउरा अणोवमा रूवसंठाणा ॥ ६०
वरवज्जकवाडजुदा गोउरदारेहिं सोहिया[9] रम्मा[10] । जिणसिद्धबिंबणिवहा अकिट्टिमा रयणपरिणामा ॥ ६१
भिंगारकलसदप्पणवरचामरमंडिया परमरम्मा । घंटापडायपउरा सुगंधगंधुद्धदा[11] रम्मा ॥ ६२
लंबंतकुसुमदामा[12] णाणाकुसुमोवहारकयसोहा । चारणमुणिगणसहिया तियसिंदणमंसिया रम्मा ॥ ६३
वज्जिंदणीलमरगयकक्केयणपउमरायकयसोहा । कंचणपवालवेरुलि[13]णाणामणिरयणसंछण्णा ॥ ६४

मूलमें कुछ कम बीस योजन, मध्यमें कुछ कम पन्द्रह योजन तथा ऊपर साधिक नौ योजन प्रमाण हैं ॥ ५४ ॥ वैताढ्य पर्वतोंके शिखरोंपर प्रासादवलय, गोपुर और धवल एवं निर्मल वेदिकासे वेष्टित देवोंके नगर हैं ॥ ५५ ॥ कूटोंपर चमकते हुए मणिकिरणोंसे सहित दिव्य जिनभवन व देवोंके सुन्दर भवन और विशाल क्रीडनशालायें हैं ॥ ५६ ॥ ये जिनभवन मरकत व मृणालके सदृश वर्णवाले, गोरोचन व कमलपुष्पके सदृश; गोक्षीर व शंख जैसे वर्णवाले भिन्न अंजनके सदृश; चन्द्र, कुमुद व सुवर्णके समान वर्णवाले; अशोक, पुन्नाग व वकुलके सदृश तेजवाले [वनोंसे वेष्टित]; तथा उत्तम वज्र, नीलमणि, विद्रुम एवं नाना प्रकारके रत्नोंके परिणाम स्वरूप हैं ॥ ५७–५८ ॥ उक्त दिव्य जिनभवनोंका आयाम एक कोश, विस्तार आध कोश और उंचाई एक चतुर्थ भागसे कम एक कोश प्रमाण है ॥ ५९ ॥ उक्त जिनभवन सुवर्ण एवं मणिमय प्राकारोंसे सहित, अट्टालय व रत्नतोरणोंसे संयुक्त, प्रचुर छज्जों व मण्डपोंसे युक्त और अनुपम रूप व आकारवाले हैं ॥ ६० ॥ उक्त जिनभवन वज्रमय उत्तम कपाटोंसे युक्त, गोपुरद्वारोंसे शोभित, रमणीय, जिनबिम्ब व सिद्धबिम्बोंसे सहित, अकृत्रिम और रत्नोंके परिणाम रूप हैं ॥ ६१ ॥ ये नित्य जिनभवन भृंगार, कलश, दर्पण व उत्तम चामरोंसे मण्डित; अतिशय रमणीय, प्रचुर घंटा व पताकाओंसे सहित, सुगन्धसे व्याप्त, रमणीय, लटकती हुई पुष्पमालाओंसे संयुक्त, नाना कुसुमोंके उपहारसे शोभायमान, चारण मुनिगणोंसे सहित, इन्द्रोंसे नमस्कृत, रमणीय, वज्र, इन्द्रनील, मरकत, कर्केतन एवं पद्मराग मणियोंसे की गई शोभासे सम्पन्न सुवर्ण, प्रवाल व वैडूर्य आदि नाना प्रकारके मणियों व रत्नोंसे व्याप्त; भंभा, मृदंग, मर्दल,

१ उ श वण. २ उ श सिरेसु. ३ उ जण. ४ ब विस्फुरंत, श वि पञ्जुरंत ५ प अमरा चारू°, ब अमरा चार°. ६ ब कुसम. ७ उ श गाउद्द ८ प रइय, ब रछ. ९ उ श सोहिय. १० ब रेम. ११ गंधद्दुदा. १२ प ब दामो. १३ श वेलि

भंभामुदिंगमद्दलजयघंटाकंसतालसंजुत्ता । पडुपडहसंखकाहलवरदुंदुहिसद्दगंभीरा ॥ ६५
संगीयणट्टसाला अहिसेयसभाघरा परमरम्मा । कीडणसाला विउला णाणाविहरूवसंठाणा ॥ ६६
पुण्णागणायचंपयअसोयबउलादिदिव्वरुक्खेहिं । उज्जाणेहिं समंता सोहंता णिच्चजिणभवणा ॥ ६७
कमलोयरवण्णाभा णिम्मलससिकिरणहारसंकासा । वियसियचंपयवण्णा णीलुप्पलसच्छहा केई ॥ ६८
कमलुप्पलसंछण्णा पउमिणिसंडेहिं मंडिया दिव्वा । विज्जाहरसुरमहिया गरुडोरयजक्खकयपूया ॥ ६९
अमलियकोरंटणिभा पारावयमोरकंठसंकासा । मरगयपवालवण्णा दिणयरकिरणप्पहा य वरा ॥ ७०
वोसट्टरयणमाला मुत्तामणिहेमजालकयसोहा । गोसीसमलयचंदणकालायरुधूमगंधड्ढा ॥ ७१
सुरइयदेवच्छंदा चीणंसुयपट्टसुत्तणिवहेहिं । णाणाविहवण्णेहि य वत्थसुमालाहि सोहंता ॥ ७२
बलिगंधपुप्फपउरा मणिमयवरदीवियादिदिप्पंता । णाणाविहरूवेहि य विहाणणिवहेहि सोहंति ॥ ७३
एवं वेदड्ढेसु य जिणभवणा वण्णिदा समासेण । अवसेसाणं णगाणं एसेव कमो मुणेयव्वो ॥ ७४

जयघंटा व कंसतालोंसे संयुक्त; पटु पटह, शंख, काहल एवं उत्तम दुंदभी बाजोंके शब्दसे गम्भीर; संगीतशाला, नृत्यशाला व अभिषेकसभा गृहोंसे अतिशय रमणीय; विस्तृत क्रीडनशालाओंसे सहित, नाना प्रकारके रूप व आकारोंवाले; तथा चारों ओर पुन्नाग, नाग, चम्पक, अशोक और बकुल आदि दिव्य वृक्षोंवाले, उद्यानोंसे शोभायमान हैं ॥ ६२–६७ ॥ इनमेंसे कितने ही कमलोदरवर्णकी आभावाले, कितने ही निर्मल चन्द्रकिरण एवं हारके सदृश, कितने ही विकसित चम्पकपुष्पके समान वर्णवाले, और कितने ही नील कमलके सदृश हैं ॥ ६८ ॥ कमल व उत्पलोंसे व्याप्त, पद्मिनीसमूहोंसे मण्डित, दिव्य, विद्याधरों एवं देवोंसे पूजित; गरुड, उरग एवं यक्षों द्वारा रची गई पूजाको प्राप्त; निर्मल कोरंट वृक्षके सदृश, कबूतर व मयूरके कण्ठके सदृश, मरकत व प्रवाल जैसे वर्णवाले, सूर्यकिरणोंके सदृश प्रभावले, श्रेष्ठ, विकसित रत्नमालाओंसे सहित; मुक्ता, मणि व सुवर्णजालसे की गई शोभाको प्राप्त; गोशीर, मलय चन्दन और कालागरुके धुएंके गन्धसे व्याप्त; नाना प्रकारके वर्णवाले चीनांशुक (रेशम), पट्ट (कोश) व सूतसे रचे गये देवच्छन्दसे सहित, वस्त्र एवं मालाओंसे शोभायमान; प्रचुर बलि, गंध एवं पुष्पोंसे युक्त और मणिमय उत्तम दीपादिकोंसे दैदीप्यमान वे जिनभवन नाना प्रकारके रूपोंवाले साधनसमूहोंसे शोभायमान हैं ॥ ६९–७३ ॥ इस प्रकार वैताढ्य पर्वतोंपर स्थित जिनभवनोंका संक्षेपसे वर्णन किया गया है । यही क्रम शेष पर्वतोंपर स्थित जिनभवनोंका भी जानना चाहिये ॥ ७४ ॥

छत्तत्तयसिंहासणवरचामरकुसुमवरिससंपण्णा । भामंडलादिसहिदा जिणपडिमाओ णमंसामि ॥ ७५
वेगाउयविस्थिण्णा दोसु वि पासेसु पव्वदायामा । वेदड्ढाण णगाणं वणसंडा होंति णिद्दिट्ठा ॥ ७६
वेगाउदउव्विद्धा पंचधणुस्सयपमाणविरिथण्णा । णाणातोरणणिवहा वरवेदिविहूसिया रम्मा ॥ ७७
फणसंचतालदाडिमअसोयपुण्णायणायरुक्खेहिं । वरवउलतिलयचंपयकुंकुमकप्पूरणिवहेहिं ॥ ७८
एलातमालचंदणलवंगकक्कोलकुंदणिवहेहिं । णारंगतुंगलवलीसज्जज्जुणकुडयजादीहिं[1] ॥ ७९
पूंगफलरत्तचंदणधवधम्मणणालिकेरकदलीहिं । आसत्थतालतिंदुगणग्गोहंपलासपउरेहिं ॥ ८०
कंचणकयंबकेयइकणवीरकसायकुज्जयादीहिं । णाणावणगुंछेहिं य उज्जाणवणा विरायंति ॥ ८१
कल्हारकमलकंदलणीलुप्पलफुल्लियाहि विउलाहिं । सोहंति सरवरेहि य वप्पिणवावीहि पउराहि ॥ ८२
सव्वेसु वणेसु तहा विंतरदेवाण होंति वरणयरा । पायारगोउरजुया णाणामणिरयणपासाया ॥ ८३
सत्ततला विण्णेया कंचणमणिरयणमंडिया दिव्वा । मणिगणजलंतथंभा णीलुप्पलकमलगब्भाहा ॥ ८४

तीन छत्र, सिंहासन उत्तम चामर और कुसुमवृष्टिसे सम्पन्न तथा भामण्डलादिसे सहित जिनप्रतिमाओंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ७५ ॥ वैताढ्य पर्वतोंके दोनों ही पार्श्वभागोंमें पर्वतोंके बराबर लंबे और दो कोश विस्तीर्ण वनखण्ड निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ ७६ ॥ ये रम्य वनखण्ड दो कोश ऊंची, पांच सौ धनुष प्रमाण विस्तीर्ण, और नाना तोरणसमूहोंसे संयुक्त ऐसी उत्तम वेदिकासे विभूषित हैं ॥ ७७ ॥ ये उद्यानवन पनस, आम्र, ताल दाडिम, अशोक, पुन्नाग और नाग वृक्षोंसे; उत्तम बकुल, तिलक, चम्पक, कुंकुम और कर्पूर वृक्षोंके समूहोंसे; एला, तमाल, चन्दन, लवंग, कंकोल (शीतलचीनी) व कुंद वृक्षोंके समूहोंसे; नारंगी, तुंग (पुन्नाग), लवली, सर्ज, अर्जुन, कुटज व जाति (चमेली या जावित्र) के वृक्षोंसे; पूगफल (सुपाड़ी), रक्त चंदन, धव, धम्मण, नारियल, कदली, अश्वत्थ, ताल, तेंदू, न्यग्रोध, पलाश, कांचन (कचनार ?), कदंब, केतकी, कणवीर (कनेर), कषाय और कुज्जक आदि नाना वनवृक्षोंसे विराजमान हैं ॥ ७८–८१ ॥ ये वन कल्हार, कमल, कन्दल और नीलोत्पल फूलोंसे सहित; विपुल सरोवरों तथा प्रचुर वप्रिण (नहर) एवं वापियोंसे शोभायमान हैं ॥ ८२ ॥ सब वनोंमें प्राकार व गोपुरोंसे युक्त और नाना मणिमय एवं रत्नमय प्रासादोंसे सहित व्यन्तर देवोंके श्रेष्ठ नगर हैं ॥ ८३ ॥ उक्त व्यन्तरनगर सुवर्ण, मणि एवं रत्नोंसे मण्डित; दिव्य मणिसमूहसे चमकते हुए स्तम्भोंसे सहित, तथा नीलोत्पल व कमलगर्भके समान आभासे संयुक्त सात तलोंवाले जानना चाहिये ॥ ८४ ॥ इनमेंसे कितने ही प्रासाद कुंकुमवर्ण,

१ उ कुडयसजाहीहि, ब कुंडयजादीहिं, श कुडयजाहीहि. २ श पुंगफलरत्तयंदण. ३ उ घर, श घव. ४ उ किंदूमणलग्गोह, प किंदुमणग्गोह, ब किंदुमणगोह, श किंदूमणलग्गोह. ५ उ श गच्छेहि. ६ उ उज्जाणविणा. ७ उ श वाविहि पउरेहि. ८ उ श गोउरज्जया, प ब गोउरजुय. ९ प सब्भाहा, ब छइग्ताहा.

केई कुंकुमवण्णा कुंदेंदुतुसारहारसंकासा । केई सिंदूराहा वियसियणीलुप्पलच्छाया ॥ ८५
सयवत्तगब्भवण्णा गोरोयणकुसुदजादिसंकासा । णिद्धंतकणयवण्णा दिणयरकिरणप्पभा केई ॥ ८६
सव्वे अकिट्टिमा[1] खलु जिणिंदभवणेहिं सोहिया रम्मा । वितरणयरा दिव्वा को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥ ८७
अट्ठेव य उव्विद्धा[3] पंचासा जोयणा हुवे दीहा । बारह वित्थारेण य महागुहा होंति दो दो दु ॥ ८८
पुव्वेण होंति तिमिसा खंडपवादा य होंति पच्छिमदो[4] । वरवज्जकवाडजुदा णाणामणिरयणपरिणामा ॥ ८९
जमलकवाडा दिव्वा छच्चेव य जोयणा दु वित्थिण्णा । अट्ठेव य उव्विद्धा[5] वेदड्ढाणं विणिद्दिट्ठा ॥ ९०
गंगादी सरियाओ[6] दूरेण य संकुडित्तु दाराणं । रंधेसु पइट्ठाओ णागिणियाओ जहा[7] धरणिं ॥ ९१
पण्णास समधियेर्या[8] गंतूणं जोयणाणि तेसु पुणो । रंधमुहणिग्गदाओ णागीव जहा बिलमुहादो[9] ॥ ९२
गंगासिंधू सरिया अट्ठेव य जोयणाणि[10] वित्थिण्णा । पव्वदगुहासु दिव्वा गच्छंतीओ विरायंति ॥ ९३
वणवेदीपरिखित्ता[11] वरतोरणमंडिया परमरम्मा । पविसित्तु उत्तरेहि[12] य दक्खिणदारेहि णिग्गंति[13] ॥ ९४

कितने ही कुंद पुष्प, चन्द्र, तुषार व हारके सदृश, कितने ही सिन्दूरके समान कान्तिवाले, कितने ही विकसित नीलोत्पलके समान शोभावाले, कितने ही शतपत्र (कमल) के गर्भके समान वर्णवाले, कितने ही गोरोचन, कुमुद व जाति (चमेली) के सदृश, कितने ही निर्भ्रान्त अर्थात् निर्मल सुवर्णके समान वर्णवाले, तथा कितने ही सूर्यकिरणों जैसी प्रभासे सहित हैं। ये सब रमणीय दिव्य व्यन्तरनगर अकृत्रिम व जिनेन्द्रभवनोंसे शोभित हैं। इन नगरोंका समस्त वर्णन करनेके लिये कौन समर्थ है ? ॥ ८५-८७ ॥ वैताढ्य पर्वतोंमें आठ योजन ऊंची, पचास योजन दीर्घ और बारह योजन विस्तृत दो दो महागुफायें हैं ॥ ८८ ॥ इनमें वज्रमय उत्तम कपाटोंसे संयुक्त एवं नाना मणियों व रत्नोंके परिणामरूप तिमिस्र गुफा पूर्वमें और खंडप्रपात गुफा पश्चिममें हैं ॥ ८९ ॥ वैताढ्योंकी उन उभय गुफाओंके दिव्य युगल कपाट आठ योजन ऊंचे और छह योजन विस्तीर्ण कहे गये हैं ॥ ९० ॥ जिस प्रकार नागिनियां पृथिवीमें प्रवेश करती हैं उसी प्रकार गंगादिक नदियां दूरसे ही संकुचित होकर उन द्वारोंके छेदोंमें प्रविष्ट हुई हैं ॥ ९१ ॥ उक्त नदियां गुफाओंमें पचास योजनसे कुछ अधिक जाकर बिलमुखसे नागिनीके समान गुफामुखसे निकली हैं ॥ ९२ ॥ आठ योजन विस्तीर्ण होकर पर्वतोंकी गुफाओंमें जाती हुई वे दिव्य गंगा-सिंधू नदियां शोभायमान होती हैं ॥ ९३ ॥ वन व वेदियोंसे वेष्टित, उत्तम तोरणोंसे मण्डित और अतिशय रमणीय ये गंगा-सिंधू नदियां उत्तर द्वारोंसे प्रवेश करके दक्षिण द्वारोंसे बाहर निकलती हैं ॥ ९४ ॥ उनमेंसे प्रत्येक गुफामें दो दो योजन दीर्घ दो दो नदियां हैं, जो गंगा-सिंधूमें

१ उ णिग्धांत, श णिग्गंत. २ प ब अकट्टिमा. ३ उ उच्छिधा, श उत्थिदा. ४ उ श पश्चिमादो. ५ उ उच्छिद्धा, श उत्थिद्धा. ६ उ गंगादिसरीयाओ, प गंगादिं सरीयाओ, ब गंगादिं सरीयऊ, श गंगादिसरायाओ. ७ उ श जह. ८ उ श समिधिरया. ९ उ मुरवादो, प श सुसादो. १० उ श जोयणाण. ११ उ पखित्ता, प ब श परिक्ता. १२ उ श धुत्तेरहि, प ब बेरेहि. १३ उ णिग्गंति.

एक्केक्कम्मि[1] गुहम्मि दु दो दो दु हवंति तत्थ[2] सरिदाओ । दो दो जोयणदीहा गंगासिंधूसु पविसंति ॥ ९५
वेदड्ढवरगुहेसु य पणुवीसा[3] जोयणाणि गंतूण । पुव्वावरायदाओ सरियाओ होंति णिद्दिट्ठा ॥ ९६
णगगुहकुंडविणिग्गयमणितोरणमंडिया परमरम्मा । वड्ढइरयणविणिम्मियसंकमपहुदीहि[5] विरियण्णा ॥ ९७
वणवेदीपरिखित्ता[6] उम्मग्गणिमग्गसलिलणामाओ । सव्वेसिं णायव्वा वेदड्ढगुहाण सरिदाओ ॥ ९८
भरहस्स दु विक्खंभो विक्खंभविहूणरुप्पसेलस्स । सेसद्धं इसु जाणे वेसय अडतीसं तिण्णि कला ॥ ९९
दक्खिणभरहे णेया उत्तरभरहे य होंति तावदिया । जोयणगणणा[10] णेया पमाणगणणेहिं[11] णिद्दिट्ठा ॥ १००
अडदाला सत्तसया णवयसहस्साणि[12] होंति णिद्दिट्ठा । दक्खिणभरहे जीवा बारसभागा य सविसेसा ॥ १०१
छावट्ठा सत्तसया णवयसहस्साणि जोयणा णेया । समहियएक्ककला पुणु दक्खिणभरहस्स धणुपट्टं ॥ १०२
बावीसा सत्तसया दसयसहस्साणि[13] जोयणा णेया । बारस किंचूण कला उत्तरभरहस्स दीहत्तं[14] ॥ १०३

प्रवेश करती हैं ॥ ९५ ॥ वैताढ्य पर्वतोंकी उन उत्तम गुफाओंमें पच्चीस योजन जाकर पूर्व-पश्चिम आयत उक्त नदियां हैं, ऐसा निर्देश किया गया है ॥ ९६ ॥ पर्वतकी गुफाओंके कुण्डोंसे निकली हुई, मणितोरणोंसे मण्डित, अतिशय रमणीय, बाढ़ई रत्नसे निर्मित संक्रम (पुल) आदिसे सहित, विस्तीर्ण और वनवेदियोंसे वेष्टित उन्मग्नसलिला व निमग्नसलिला नामक नदियां सब वैताढ्य पर्वतोंकी गुफाओंमें जानना चाहिये ॥ ९७–९८ ॥ भरतक्षेत्रके विस्तारमेंसे विजयार्धके विस्तारको कम करके शेषको आधा करनेपर [($\frac{१००००}{१९} - \frac{९५०}{१९}$) ÷ $\frac{१}{२}$] = $\frac{४५२५}{१९}$ = २३८$\frac{३}{१९}$ यो.) दो सौ अड़तीस योजन और तीन कला प्रमाण दक्षिण भरतका बाण (विस्तार) जानना चाहिये। इतना ही विस्तार उत्तर भरतका भी है । यह योजनोंकी संख्या प्रमाणगणकों द्वारा निर्दिष्ट की गई है ॥ ९९–१०० ॥ दक्षिण भरतकी जीवा नौ हजार सात सौ अड़तालीस योजन और बारह भागोंसे कुछ अधिक कही गयी है [$\sqrt{\frac{१००००००}{१९} - \frac{४५२५}{१९} \times \frac{४५२५}{१९} \times ४}$ = ९७४८$\frac{१२}{१९}$] ॥ १०१ ॥ दक्षिण भरतका धनुपपृष्ठ नौ हजार सात सौ छयासठ योजन और एक कलासे कुछ अधिक जानना चाहिये [$\sqrt{\frac{१८५२२२४}{१९} + \left(\frac{४५२५^{२}}{१९} \times ६ \right)}$ = ९७६६$\frac{१}{१९}$] ॥ १०२ ॥ उत्तर भरत (विजयार्ध) की दीर्घता (जीवा) दश हजार सात सौ बाईस [बीस] योजन और बारह कला (१०७२०$\frac{१२}{१९}$) स कुछ कम जानना चाहिये ॥ १०३ ॥

१ उ श एक्कक्कम्मि. २ उ श तस्स. ३ प ब पणवीसा. ४ प ब रयणि ५ उ प ब श पहदीह. ६ उ श परिक्खित्ता, प ब परिक्खित्ता. ७ उ विक्खंभा. ८ प इंसु, ब यसु, श हसु. ९ प ब वेसइअडसीस १० उ प ब श गणणे. ११ उ प ब श गणणेहि. १२ प ब णवइ. १३ उ श दससय°, ब दसए°. १४ उ ब दीहत्वं, श दीहत.

तेदालं[1] सत्तसया दसयसहस्साणि पण्णरस भागा । किंचिविसेसेणधिया उत्तरभरहस्स धणुवट्ठं ॥ १०४
जोयणसयउव्विद्धा[2] पण्णासा वित्थडा समुद्दिट्ठा । वसहगिरिणामधेया कंचणमणिरयणपरिणामा ॥ १०५
वणवेदियपरिखित्ता णाणाविहतोरणेहि कयसोहा । उज्जाणभवणणिवहा जिणचेइयमंडिया रम्मा ॥ १०६
चक्कहरमाणमहणा णाणाचक्कीण णामसंछण्णा । उत्तरभरहद्धेसु य मज्झिमखंडेसु ते होंति ॥ १०७
भरहस्स जहा दिट्ठं[3] तहेव एरावयस्स बोधव्वा । सव्वेसिं[4] खेत्ताणं एसेव कमो मुणेयव्वो ॥ १०८
जह खेत्ताणं दिट्ठा दीवाणं तह य होइ विण्णेया । वेदीणदीणगाणं वंसाणं वण्णणा तह ये[5] ॥ १०९
सव्वभरहाण णेया मज्झिमखंडेसु कालसमयाणि । छच्चेव[6] होंति दिव्वा तहेव एरावदाणं तु ॥ ११०
सुसमसुसमा य सुसमा सुस्समदुसमा य होंति णिद्दिट्ठा । दुस्समसुसमा दुसमा दुस्समदुसमा य विण्णेया ॥ १११
चत्तारि सागरोवमकोडाकोडी हवंति[7] णिद्दिट्ठा । सुसमसुसमा य कालो बोद्धव्वो[8] आणुपुव्वीये[9] ॥ ११२
सुसमा तिण्णेव हवे सुस्समदुसमा य विण्णि णिद्दिट्ठा । दुस्समसुसमा एक्का बादालसहस्सवरिसूणा ॥ ११३
दुस्समकालो णेओ इगिवीससहस्स हवइ परिसंखा । दुस्समदुसमस्स तहा इगिवीससहस्सवासाणं-॥ ११४

उत्तर भरत (विजयार्ध) का धनुपपृष्ठ दश हजार सात सौ तेतालीस योजन और पन्द्रह भागोंसे (१०७४३ $\frac{15}{19}$) कुछ अधिक है ॥ १०४ ॥ उत्तर भरतार्धोंमें मध्यम खण्डोंके भीतर सौ योजन ऊंचे, पचास योजन विस्तृत; सुवर्ण, मणि एवं रत्नोंके परिणामरूप; वनवेदीसे वेष्टित, नाना प्रकारके तोरणोंसे शोभायमान, उद्यानों एवं भवनोंके समूहसे सहित, जिनचैत्योंसे मण्डित, चक्रवर्तियोंके अभिमानको नष्ट करनेवाले, और नाना चक्रवर्तियोंके नामोंसे व्याप्त वृषभगिरि नामक रमणीय पर्वत हैं ॥ १०५–१०७ ॥ जैसे भरत क्षेत्रकी प्ररूपणा की गई है वैसे ही ऐरावतकी भी जानना चाहिये । शेष सब क्षेत्रोंका यही क्रम समझना चाहिये । अर्थात् ऐरावतका वर्णन भरतके समान, हैरण्यवतका वर्णन हैमवतके समान, रम्यकका वर्णन हरिके समान, तथा उत्तरकुरुका वर्णन देवकुरुके समान है ॥ १०८ ॥ जिस प्रकारसे जम्बूद्वीपादिक द्वीपोंके क्षेत्रोंका वर्णन किया गया है उसी प्रकार वेदी, नदी, पर्वत और क्षेत्रोंका भी वर्णन जानना चाहिये ॥ १०९ ॥ सब भरतक्षेत्रोंके मध्यम खण्डोंमें छह ही कालसमय जानना चाहिये । उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रोंके मध्यम खण्डोंमें भी दिव्य छह ही काल होते हैं ॥ ११० ॥ सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुषमा, दुषमसुषमा, दुषमा और दुषमदुषमा, ये उन छह कालोंके नाम जानना चाहिये ॥ १११ ॥ अनुक्रमसे सुषमसुषमा काल चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम, सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम, सुषमदुषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम, दुषमसुषमा ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम, दुषमा काल इक्कीस हजार वर्ष तथा दुषमदुषमा काल भी इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण जानना चाहिये ॥ ११२–११४ ॥ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इन दोनोंमेंसे एक

१ उ श प तेदाल. २ ब उछिद्दा. ३ प-ब प्रत्योः १०८ तमगाथाया द्वितीय-तृतीय-चतुर्थचरणानि, १०९तमगाथायाश्च प्रथमचरणं नोपलभ्यते । ४ उ सव्वेसे, श प्रतौ त्रुटितं जातमेतत्. ५ उ श या. ६ उ छवेव. ७ ब वहंति. ८ उ प ब श बोधव्वा. ९ उ श आणुपुव्वीया.

सायरकोडाकोडी दससंगुण एक्ककालपरिसंखा । उवसप्पिणि अवसप्पिणि बिण्णि वि वीसा हवे कप्पो[1] ॥ ११५
सव्वविदेहेसु तहा सवरपुलिंदाण पंचखंडेसु । एक्को चउत्थसमओ विज्जाहरसव्वणयरेसु ॥ ११६
उत्तरकुरूसु पढमो कालो सव्वेसु हवइ णिद्दिट्ठो । हेमवदेसु य तदिओ तहेव हेरण्णवासेसु ॥ ११७
हरिरम्मगवरिसेसु[2] य विदिओ कालो जिणेहि पण्णत्तो । सव्वाणं खेत्ताणं एसेव कमो मुणेयव्वो ॥ ११८
पढमम्मि कालसमए छच्चेव[3] य धणुसहस्सउत्तुंगा । तिण्णिपलिदोवमाऊ णराण णारीण बोद्धव्वा ॥ ११९
जमलजमला पसूया वरलक्खणवंजणेहि संजुत्ता । बदरपमाणाहारा अट्ठमभत्तेहि पारिंति ॥ १२०
बिदियम्मि कालसमये चत्तारिसहस्स होंति चावाणि । बे पलिदोवम आऊ मणुआणं दिव्वरूवाणं ॥ १२१
हरडाफलपरिमाणं आहारं दिव्वसादसंपण्णं[4] । छट्ठमभत्तेण णरा भुंजंति य सादुकलिदाणि ॥ १२२
तदियम्मि कालसमये बे च्चेव सहस्स होंति चावाणिं । आमलपमाणहारा चउत्थभत्तेण पारिंति ॥ १२३
णरणारिगणा तइया उत्तमरूवा कसायपरिहीणा । वरवइरसुसंघडणा पलिदोवमआउगा सव्वे ॥ १२४

कालका प्रमाण दशसे गुणित एक कोड़ाकोड़ी सागर अर्थात् दश कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। इन दोनोंको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण एक कल्प होता है ॥ ११५ ॥ सब विदेहोंमें, शबर व पुलिन्दों (म्लेच्छों) के पांच खण्डोंमें, तथा विद्याधरोंके सब नगरोंमें एक चतुर्थ काल रहता है ॥ ११६ ॥ सब उत्तरकुरुओंमें प्रथम काल तथा हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रोंमें तृतीय काल निर्दिष्ट किया गया है ॥ ११७ ॥ हरिवर्ष और रम्यक वर्षोंमें जिन भगवान्‌के द्वारा द्वितीय काल कहा गया है। [अढ़ाई द्वीपोंके] सब क्षेत्रोंका यही क्रम समझना चाहिये ॥ ११८ ॥ पहिले कालके समयमें नर-नारियोंकी उंचाई छह हजार धनुष और आयु तीन पल्योपम प्रमाण जानना चाहिये ॥ ११९ ॥ इस कालमें युगल युगल स्वरूपसे उत्पन्न, उत्तम लक्षण व व्यंजनोंसे सहित, और बेरके बराबर आहार करनेवाले नर-नारी अष्टमभक्तसे अर्थात् तीन दिनके अन्तरसे भोजन करते हैं ॥ १२० ॥ द्वितीय कालके समयमें दिव्य रूपवाले मनुष्योंकी उंचाई चार हजार धनुष और आयु दो पल्योपम प्रमाण होती है ॥ १२१ ॥ इस कालमें मनुष्य हरड फलके बराबर दिव्य स्वादसे संपन्न आहारको षष्ठभक्त अर्थात् दो दिनके अन्तरसे ग्रहण करते हैं ॥ १२२ ॥ तृतीय कालके समयमें शरीरकी उंचाई दो हजार धनुष होती है। आंवलेके बराबर आहार करनेवाले मनुष्य वहां चतुर्थभक्त अर्थात् एक दिनके अन्तरसे भोजन करते हैं ॥ १२३ ॥ उस समय नर-नारियोंके सब समूह उत्तम रूपसे सहित, कषायोंसे रहित, उत्तम वज्रमय शुभ संहनन अर्थात् वज्रर्षभनाराचसंहननसे युक्त और पल्योपम प्रमाण आयुके धारक होते हैं ॥ १२४ ॥ इन तीनों ही कालोंमें मनुष्योंके पूर्वकृत पुण्य कर्मोंके

---

१ प ब कप्पे. २ उ श °वरसेसु. ३ उ कालसमपछच्चेव, ब कालसमयछच्चेव, श समपत्थचेव. ४ उ साद्धु, ब साहु, श साधु.

तीसु वि कालेसु तहा णराण तरुसंभवा विउलसोक्खा । होंति वरविउलभोगा पुव्वकियसुकयकम्मेहिं ॥ १२५
मज्जवरतुरियअंगा भूसणतेयालया परमरम्मा । भायणभोयणरुक्खा पदीववरवत्थमल्लंगा ॥ १२६
मज्जंगदुमा णेया कादंबरि[1]सीधुमज्जमादीणि । खीरदधिसप्पिपाणा सुगंधसलिलाणि ते दिंति ॥ १२७
तूरंगदुमा णेया पडुपड[2]हमुइंगझल्लरीसंखा । दुंदुभिभंभाभेरीकाहलघंटादि ते दिंति ॥ १२८
भूसणदुमा वि णेया कंठाकडिसुत्तणेउरादीया । वरहारकडयकुंडलतिरी[3]डमउडादिया दिंति ॥ १२९
जोइसदुमा वि णेया दिणयरकोडीण किरणसंकासा[4] । णक्खत्तचंदसूरा तारा[5]गहकिरणपडिवक्खा ॥ १३०
गिहअंगदुमा णेया पासाया सत्तभूमिया दिव्वा । पायारवलहिगोउररयणमया सव्वदा दिंति ॥ १३१
भायणदुमा वि णेया कंचणमणिणिम्मिया[6] थाला । भिंगारकलसगग्गरि[7]चरुपिठरादी[8] य ते दिंति ॥ १३२
भोयणदुमा वि णेया तित्तंबलकसायं[9]महुरसंजुत्ता । असणादिचदुवियप्पा अमियाहारा सया दिंति ॥ १३३
दीवंगदुमा णेया पत्ता[10]लंफलकुसुमणिच्चपज्जलिया । दीवा इव पज्जलिया णिच्चुज्जोया समुत्तुंगा ॥ १३४

उदयसे कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न व अतिशय सुखकारक प्रचुर उत्तम भोगसामग्री प्राप्त होती है ॥ १२५ ॥ उक्त कालोंमें उत्तम मद्यांग, तूर्यांग, भूषणांग, तेजांग, आलयांग, भाजनांग भोजनांग, दीपांग, उत्तम वस्त्रांग और माल्यांग ये अतिशय रमणीय कल्पवृक्ष होते हैं ॥ १२६ ॥ जो कादम्बरी व सीधु आदि मद्यविशेषोंको; दूध, दही व घी रूप पेय पदार्थोंको; तथा सुगन्धित जलको दिया करते हैं उन्हें मद्यांग जातिके वृक्ष जानना चाहिये ॥ १२७ ॥ जो पटु पटह, मृदंग, झालर, शंख, दुदुंभी, भंभा, भेरी, काहल और घंटा आदिको देते हैं उन्हें तूर्यांग वृक्ष जानना चाहिये ॥ १२८ ॥ जो कंठा, कटिसूत्र नूपुर आदिक, उत्तम हार, कटक, कुण्डल, किरीट और मुकुट आदिको देते हैं उन्हें भूषणांग वृक्ष जानना चाहिये ॥ १२९ ॥ करोड़ों सूर्योंकी किरणोंके सदृश तथा नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य, तारा और ग्रहोंकी किरणोंके प्रतिपक्षी ज्योतिषवृक्ष जानना चाहिये ॥ १३० ॥ जो सर्वदा प्राकार, वलभी एवं गोपुरोंसे सहित रत्नमय सात भूमियोंवाले प्रासादोंको देते हैं उन्हें गृहांग द्रुम जानना चाहिये ॥ १३१ ॥ जो सुवर्ण एवं मणियोंसे निर्मित थाल, भृंगार, कलश, गागर, चरु (लोटा) और पिठर आदिको देते हैं उन्हें भाजन द्रुम जानना चाहिये ॥ १३२ ॥ जो सदा तिक्त, आम्ल, कषाय एवं मधुर रससे संयुक्त अशनादि (अन्न, पान, खाद्य, लेह्य) चार प्रकारके अमृतमय आहारको देते हैं उन्हें भोजन द्रुम जानना चाहिये ॥ १३३ ॥ जो पत्र फल एवं कुसमोंसे नित्य प्रज्वलित होते हुए जलाये गये दीपकोंके समान नित्य उद्योत रूप होते हैं उन ऊंचे वृक्षोंको दीपांग द्रुम जानना चाहिये ॥ १३४ ॥ जो नेत्र, अंशुक, चीन (चीनपट्ट),

---

१ प व कादंबर. २ उ श पडय. ३ उ श वरहाखडयकुंडलातरडि. ४ प व विरससंकासा. ५ प व चंदतारा. ६ प व मणियणणिम्मिया. ७ प व गिग्गरि. ८ श पीउरादी. ९ उ श तित्तंवकलसाय, प तित्तवकसाय, व वित्तवकसायं. १० उ श पवाला.

वत्थंगदुमा णेया णेत्तंसुगचीणखोमदुगुलादिं[1] । वरपट्टसुत्तपउरा णाणावत्थाणि ते दिंति ॥ १३५
मल्लंगदुमा णेया चंपयपुण्णायणायकुसुमेहिं । वरपंचवण्णपउरा सुगंधमाला सया दिंति ॥ १३६
एवं ते कप्पदुमा णराण फलु[4] दिंति पुण्णवंताणं । देवोवणीय सव्वे दसंगभोगा समुद्दिट्ठा ॥ १३७
तीसु वि कालेसु तहा तिणाणि चउरंगुलाणि णिद्दिट्ठा । सुरहीणि कोमलाणि य दसद्धवण्णाणि[5] सोहंति ॥ १३८
धरणिधरा विण्णेया विद्दुममणिरयणकणयपरिणामा । दिव्वामोयसुगंधा[6] णाणाविहकप्पतरुणिवहा ॥ १३९
धरणी वि पंचवण्णा मरगयगल्लिंदणीलमणिणिवहा । वरपउमरायविद्दुमणिम्मलमणिकणयपरिणामा ॥ १४०
पोक्खरिणिवाविदीही वरणदियाओ य रयणसोवाणा । अमदमहुखीरपुण्णा मणिमयवालुहिं सोहंति ॥ १४१
सूवरसियालसुणहा तरच्छसीहा य सप्पसद्दूला । काका गिद्धादीया जीवा मंसासिणो णत्थि ॥ १४२
संखपिपीलियमक्कुणदंसामसया य विच्छियादीया । विगलिंदिया[8] य णत्थि हु सुसमादिएसुं[9] तिसु काले ॥ १४३
तीहि वि[10] कालेहि जुदा खेत्तेसु य बहुविहेसु रम्मेसु । जे उप्पज्जंति णरा ते संखेवेण वोच्छामि ॥ १४४

क्षौम और दुकूल आदि उत्तम रेशम और सूतके बने वस्त्रोंको देते हैं उन्हें वस्त्रांग द्रुम जानना चाहिये ॥ १३५ ॥ जो सदा चम्पक पुन्नाग एवं नाग वृक्षके पुष्पोंसे [निर्मित], उत्तम पांच वर्णोंसे युक्त सुगंधित मालाओंको देते हैं उन्हें माल्यांगद्रुम जानना चाहिये ॥ १३६ ॥ इस प्रकार दशांग भोगोंको देनेवाले वे सब देवोपुनीत कल्पवृक्ष पुण्यवान् मनुष्योंके लिये उनके पुण्यके फलको (सुख-सामग्री) देते हैं ॥ १३७ ॥ तीनों (सुषमसुषमा, सुषमा व सुषमदुषमा) ही कालोंमें चार अंगुल ऊंचे सुगंधित और दशार्ध अर्थात् पांच वर्णवाले कोमल तृण शोभायमान होते हैं ॥ १३८ ॥ उन कालोंमें विद्रुम, मणि, रत्न, एवं सुवर्णके परिणाम रूप; दिव्य आमोदसे सुगंधित और नाना प्रकारके कल्पवृक्षोंके समूहसे युक्त पर्वत होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ १३९ ॥ इन कालोंमें पांच वर्णवाली पृथिवी मरकत, गल्ल एवं इन्द्रनील मणियोंके समूहसे युक्त और उत्तम पद्मराग, विद्रुम, निर्मल मणि एवं सुवर्णके परिणाम रूप होती है ॥ १४० ॥ उस समय रत्नमय सोपानोंसे युक्त तथा अमृत, मधु व दूधसे परिपूर्ण; पुष्करिणी, वापी, दीर्घिका और उत्तम नदियां मणिमय वालुओंसे शोभायमान होती हैं ॥ १४१ ॥ इन कालोंमें शूकर, शृगाल, कुत्ता, तरक्ष, सिंह, सर्प, शार्दूल, काक और गृद्ध आदिक मांसभोजी जीव नहीं होते हैं ॥ १४२ ॥ दो बार सुषम अर्थात् सुषमसुषम आदि तीन कालोंमें शंख, पिपीलिका, मत्कुण, दंशमशक और विच्छु आदिक विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते हैं ॥ १४३ ॥ इन तीनों ही कालोंसे युक्त बहुत प्रकारके रमणीय क्षेत्रोंमें जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं उनकी संक्षेपसे प्ररूपणा करते हैं ॥ १४४ ॥ उन कालोंमें मृदुता एवं आर्जवसे

१ उ श वत्तुंग. २ श वीणखोम. ३ उ श दुगुल हि. ४ प ब णरा फलं ५ उ श दसद्धाविण्णाणि. ६ ब सुगंधी. ७ उ श पिपीणिय. ८ उ प ब श विगलंदिया. ९ प ब णत्थि दुसुमादीएसु. १० उ प ब श तीहि मि.

मिदुमज्जवसंपण्णा मंदकसाया विणीयसीला य[1]। कोधमदमायहीणा उप्पज्जंति य णरा तेसु ॥ १४५
आहारदाणणिरदा जदीसु वरविविहजोगजुत्तेसु। संजमतवोघणेसु य णिग्गंथेसु य गुणधरेसु ॥ १४६
चउविहदाणं भणियं तिविहं पत्तं जिणेहि णिद्दिट्टं। दाऊण पत्तदाणं अकम्मभूमीसु जायंति ॥ १४७
आहारअभयदाणं आगमदाणं च ओसहप्पदाणं। संखेवेणुद्दिट्टं चउविहदाणं मुणिवरेहिं ॥ १४८
साहू उत्तमपत्तं मज्झिमपत्तं तु सावया णेया। अविरदै[3]सम्मादिट्ठी जहण्णपत्तं समुद्दिट्ठं ॥ १४९
[4]उववाससोसियतणू णिस्संगो कामकोहपरिहीणो। मिच्छत्तसंसिदमणो णायव्वो सो अपत्तो त्ति ॥ १५०
उववाससोसियतणू णिस्संगो कामकोहपरिहीणो। सम्मत्तसंसिदमणो णायव्वो उत्तमो[5] पत्तो ॥ १५१
एवं पत्तविसेसं दाणं दाऊण तेसु जायंति। अणुमोदणेण केई मणुया तिरिया य विण्णेया ॥ १५२
जे कम्मभूमिजादा ते[6] तेसु हवंति भोगभूमीसु। संपुण्णचंदवयणा समचउरसरीर[7]संठाणा ॥ १५३
उववज्जिऊण जुवला उणवण्णदिणेहि जोव्वणा होंति। सव्वकलापत्तट्ठा वरलक्खणभूसियसरीरा ॥ १५४

मंदकषायी विनीत स्वभाववाले तथा क्रोध, मद व मायासे रहित मनुष्य उत्पन्न होते हैं ॥१४५॥ जो मनुष्य उत्तम व विविध योग अर्थात् समाधिसे युक्त, संयम एवं तप रूप धनसे सहित और [मूल व उत्तर] गुणोंको धारण करनेवाले ऐसे निर्ग्रन्थ यतियोंके लिये आहारदान देनेमें निरत रहते हैं वे उन भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ १४६ ॥ जिन भगवान्‌ने चार प्रकारका दान और तीन प्रकारके पात्र कहे हैं। मनुष्य पात्रदान देकर अकर्मभूमियों (भोगभूमियों) में उत्पन्न होते हैं ॥ १४७ ॥ मुनिवरोंने आहारदान, अभयदान, शास्त्रदान और औषधदान, इस प्रकार संक्षेपसे चार प्रकारका दान कहा है ॥ १४८ ॥ साधुओंको उत्तम पात्र और श्रावकोंको मध्यम पात्र जानना चाहिये। अविरतसम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहा गया है ॥ १४९ ॥ उपवासोंसे शरीरको कृष करनेवाले, परिग्रहसे रहित, काम-क्रोधसे विहीन, परन्तु मनमें मिथ्यात्व भावको धारण करनेवाले जीवको अपात्र [कुपात्र] जानना चाहिये ॥ १५० ॥ उपवासोंसे शरीरको कृष करनेवाले, परिग्रहसे रहित, काम-क्रोधसे विहीन और मनमें सम्यक्त्व भावको धारण करनेवाले जीवको उत्तम पात्र जानना चाहिये ॥ १५१ ॥ इस प्रकार कितने ही मनुष्य व तिर्यंच पात्रविशेषको दान देकर और कितने ही उसकी अनुमोदनासे उन भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ १५२ ॥ जो जीव कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए हैं वे उन भोगभूमियोंमें पूर्ण चन्द्रके समान मुखसे सहित और समचतुरस्रशरीरसंस्थानसे युक्त होते हैं ॥ १५३ ॥ भोगभूमियोंमें युगल स्वरूपसे उत्पन्न होकर ये जीव उनंचास दिनोंमें यौवनसे युक्त, सब कलाओंके रहस्यको प्राप्त और उत्तम लक्षणोंसे भूषित शरीरके धारक हो जाते हैं ॥ १५४ ॥ भिन्न इन्द्रनील मणिके समान केशोंवाले, अभिनव लावण्य-

१ उ श विदु. २ उ श या. ३ प ब अविरह. ४ प-ब प्रत्योर्नोपलभ्यते गाथेयम्। ५ उ श उत्तिमो. ६ प ब ति. ७ उ श समचउरंसासरीर.

णिरिंणदणीलकेसा अभिणवलायण्णरूवसंपण्णा । सुहसायरमज्झगया णीलुप्पलसुरहिणीसासा ॥ १५५
रोगजरापरिहीणा णवणागसहस्सविउलबलजुत्ता । आरत्तकुमुदचलणा णवचंपयकुसुमगंधड्ढा ॥ १५६
दिव्वामलमउडधरा हारंगयकडयतुडियकयसोहा । वरचंदणाणुलित्ता मणिकुंडलमंडियागंडा ॥ १५७
तिवलीतरंगमज्झा आहरणविहूसिया परमरूवा । भोत्तूणं दिव्वभोगे सव्वे देवत्तणमुविंति ॥ १५८
खुहाजिंभणेहि मणुया मरिऊणं तत्थ भोगभूमीसु । भवणवइवाणविंतरजोइसदेवेसु गच्छंति ॥ १५९
जे पुण सम्मादिट्ठी देवेहिं विबोहिया हवे तेसु । ते कप्पवासभवणे उप्पज्जंती ण अण्णत्थ ॥ १६०
तिरिया वि तेसु णेया जुवला जुवला हवंति णिद्दिट्ठा । सरला मंदकसाया णाणाविहजादिसंजुत्ता ॥ १६१
गयवरसीहतुरंगा हरिणा रोज्झा य सूवरा महिसा । वाणरगवेडजुवला वयवग्घतरच्छयाईया ॥ १६१
सुककोकिलाण जुयला पारावयहंसकुररकारंडा । किंजक्कचक्कवाया सिहिसारसकुंचयादीया ॥ १६३
जह मणुयाणं भोगा तह तिरियाणं वियाण सव्वाणं । आउबलभोगरिद्धी समासदो होइ णिद्दिट्ठा ॥ १६४

....

रूपसे सम्पन्न, सुख-समुद्रके मध्यको प्राप्त, नील उत्पल जैसी सुगंधित निश्वाससे सहित, रोग व जरासे रहित, नौ हजार हाथियोंके बराबर महान् बलसे संयुक्त, किंचित् रक्त वर्ण कमलके समान चरणोंवाले, नवीन चम्पकके फूल जैसी गंधसे युक्त, दिव्य एवं निर्मल मुकुटके धारक; हार, अंगद, कटक और त्रुटिक (हाथका आभरणविशेष) से की गई शोभाको प्राप्त, उत्तम चन्दनसे अनुलिप्त, मणिमय कुण्डलोंसे मंडित कपोलोंवाले, मध्य भागमें त्रिवली रूप तरंगोंसे संयुक्त, आभरणोंसे विभूषित और उत्तम रूपके धारक वे सब जीव दिव्य भोगोंको भोगकर देव पर्यायको प्राप्त करते हैं ॥ १५५-१५८ ॥ वहां भोगभूमियोंमें मनुष्य (नर-नारी क्रमशः) क्षुत अर्थात् छींक और जृम्भाके साथ मरकर भवनपति, वानव्यन्तर और ज्योतिष देवोंमें जाते हैं ॥ १५९ ॥ परन्तु उनमें जो जीव देवों द्वारा प्रबोधको प्राप्त होकर सम्यग्दृष्टि होते हैं वे कल्पवासी देवोंके विमानमें उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र (भवनवासी आदिकोंमें) नहीं उत्पन्न होते ॥ १६० ॥ उन भोगभूमियोंमें सरल, मन्दकषायी और नाना प्रकारकी जातियोंसे संयुक्त उत्तम गज, सिंह, तुरंग, हरिण, रोझ, शूकर, महिष, वानर, और गवेलक (भेड़) इनके युगल; वृक, व्याघ्र व तरक्ष आदिके तथा शुक व कोयलके युगल; पारावत, हंस, कुरर, कारण्ड, किंजक्क, चक्रवाक, मयूर, सारस और क्रौंच आदिक तिर्यंच भी युगल-युगल स्वरूपसे होते हैं; ऐसा जानना चाहिये ॥ १६१-१६३ ॥ वहां जैसे मनुष्योंके भोग होते हैं वैसे ही सब तिर्यंचोंके भी जानना चाहिये। इनकी आयु, बल, भोग व ऋद्धिकी संक्षेपसे प्ररूपणा की गई है ॥ १६४ ॥ सब ही

....

१ उ लायण, श लावण. २ उ श तवली. ३ उ श सोत्तूण. ४ उ बरसम श बरसग. ५ उ श कुवर. ६ श सामर. ७ उ श सघाणं.

होंति य मिच्छादिट्ठी सासणमिस्सा यं अविरदा चेव । चत्तारि गुणट्ठाणा सव्वेसु वि भोगभूमीसु ॥ १६५
तदिओ दु कालसमओ असंखदीवें य होंति णियमेण । मणुसुत्तरादु परदो णगिंदवरपव्वदो जामं ॥ १६६
भूधरणगिंदणामो सयंभुरमणम्मि दीवमज्झम्मि । हवइ मणुसोत्तरो विय पोक्खरवरदीयमज्झम्मि ॥ १६७
एदम्मि मज्झभागे जुवला जुवला तिरिक्खजादीया । लायण्णरूवकलिया हुंति हु कम्माणुभावेण ॥ १६८
पलिदोवमाउगा ते अमदाहारा कसायपरिहीणा । कप्पतरुजणियभोगा सव्वे देवत्तणमुविंति ॥ १६९
भूमितणरुक्खपव्वदसरसरिपोक्खरिणिदीहियादीणि । जइ वण्णिमं दु पुव्वं तह एत्थ वि वण्णणा सयला ॥
दीवाण समुद्दाण य पायारा अट्ठजोयणुव्विद्धा । चउगोउरसंजुत्ता णाणामणिरयणपरिणामा ॥ १७१
वणवेदियपरिखित्ता मणितोरणमंडिया परमरम्मा । उववणकाणणसहिया दीवसमुद्दा विरायंति ॥ १७२
एदेसु विणिद्दिट्ठो जिणभवणविहूसिएसु रम्मेसु । सुस्समदुसमो कालो अवट्ठिदो सयलदीवेसु ॥ १७३
जलणिहिसयंभुरवणे सयंभुरवणस्स दीवमज्झम्मि । भूहरणगिंदपरदो दुस्समकालो समुद्दिट्ठो ॥ १७४
देवेसु सुसमसुसमो णिरए अइदुस्समो हवइ कालो । छच्चेव कालसमया तिरिक्खमणुयाण णिद्दिट्ठा ॥ १७५

भोगभूमियोंमें मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत- [सम्यग्दृष्टि], ये चार गुणस्थान होते हैं ॥१६५॥ मानुषोत्तर पर्वतसे आगे नगेन्द्र (स्वयम्प्रभ) पर्वत तक असंख्यात द्वीपोंमें नियमतः तृतीय कालका समय रहता है ॥ १६६ ॥ जिस प्रकार पुष्करवर द्वीपके मध्यमें मानुषोत्तर पर्वत है, उसी प्रकार स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें नगेन्द्र नामक पर्वत है ॥ १६७ ॥ [मानुषोत्तर और नगेन्द्र पर्वतके] इस मध्यभागमें कर्मके प्रभावसे लावण्यमय रूपसे युक्त तिर्यंच जातिके अनेक युगल हैं ॥ १६८ ॥ पल्योपम प्रमाण आयुवाले, अमृतभोजी, कषायोंसे रहित और कल्प वृक्षोंसे उत्पन्न भोगोंसे युक्त वे सब तिर्यंच जीव देव पर्यायको प्राप्त होते हैं ॥१६९॥ भूमि, तृण, वृक्ष, पर्वत, तालाब, नदी, पुष्करिणी और दीर्घिका आदिकोंका जैसा पूर्वमें वर्णन किया गया है वैसा सब वर्णन यहांपर भी करना चाहिये ॥ १७० ॥ द्वीप और समुद्रोंके प्राकार (जगती) आठ योजन ऊंचे, चार गोपुरोंसे संयुक्त और नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप होते हैं ॥ १७१ ॥ वनवेदियोंसे वेष्टित, मणिमय तोरणोंसे मण्डित, अतिशय रमणीय और वन-उपवनोंसे सहित द्वीप-समुद्र विराजमान हैं ॥ १७२ ॥ जिनभवनोंसे विभूषित इन समस्त रमणीय द्वीपोंमें सुषमदुषमा काल अवस्थित कहा गया है ॥ १७३ ॥ नगेन्द्र पर्वतके परे स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्रमें दुषमा काल कहा गया है ॥ १७४ ॥ देवोंमें सुषमसुषमा, नारकियोंमें अतिदुषमा और तिर्यंच-मनुष्योंके छहों कालसमय कहे गये हैं

१ उ श सासणमिच्छा य, प व सासणमिस्सा ह. २ [असंखदीवेसु होदि]. ३ प व णगिंदपव्वदो. ४ उ श जामा. ५ उ श लायसरूव. ६ प य श कम्माणभावेण. ७ उ श अवदाहार. ८ उ श तथ. ९ प व वण्णिणा. १० उ श णिगिंद.

मणुसुत्तरादु अंतो माणुसखेत्तम्मि छव्विहो कालो । भरहेसु रेवदेसुं[1] य समासदो होइ णिद्दिट्टो ॥ १७६
चउत्थम्मि कालसमये णराण उक्कस्सदेहपरिमाणं । पंचसयदंडमेत्ता जहण्ण सत्तेव रयणीओ ॥ १७७
आऊणि पुव्वकोडी उक्कस्सं होंति ताण मणुवाणं । वीसुत्तरसयवासा जहण्णआऊ समुद्दिट्ठा ॥ १७८
एदम्मि कालसमये तित्थयरा सयलचक्कवट्टीयां[2] । बलदेववासुदेवा पडिसत्तू ताण जायंति ॥ १७९
अरहंतपरमदेवा चउवीसा पाडिहेरसंजुत्ता । पंचमहाकल्लाणा अइसयचउतीससंपण्णा ॥ १८०
बारहवरचक्कधरा चउदसरयणाहिवा महासत्ता । छक्खंडभरहणाहा णवणिहिअक्खीणवरकोसा ॥ १८१
संखिंदुकुंदवण्णा णवबलदेवा अणंतबलजुत्ता[3] । हलरयणभूसियकरा उत्तमभोगा महातेया ॥ १८२
भरहद्धखंडणाहा णव चेव य वासुदेवचक्कहरा । सत्तविहरयणणाहा णीलुप्पलसंणिभसरीरा ॥ १८३
णीलुप्पलसच्छाया तिखंडभरहाहिवा महासत्ता । णव चेव समुद्दिट्ठा पडिसत्तू वासुदेवाणं ॥ १८४
रुद्दा[4] य कामदेवा गणहरदेवा य चरमदेहधरा । दुस्समसुसमे काले उप्पत्ती ताण[5] बोद्धव्वा ॥ १८५

॥ १७५ ॥ मानुषोत्तर पर्यन्त मानुषक्षेत्रके भीतर भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें संक्षेपसे छह प्रकारका काल कहा गया है ॥ १७६ ॥ चतुर्थ कालके समयमें मनुष्योंका उत्कृष्ट देहप्रमाण पांच सौ धनुष मात्र और जघन्य सात ही रत्नि होता है ॥ १७७ ॥ चतुर्थ कालमें उन मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि और जघन्य आयु एक सौ बीस वर्ष प्रमाण कही गयी है ॥ १७८ ॥ इस कालके समयमें तीर्थंकर, सकलचक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और उनके (वासुदेवोंके) प्रतिशत्रु उत्पन्न होते हैं ॥ १७९ ॥ इसी कालमें प्रातिहार्योंसे संयुक्त, पांच महाकल्याणोंसे सहित और चौंतीस अतिशयोंसे सम्पन्न चौबीस अरहन्त परमदेव (तीर्थंकर) होते हैं ॥ १८० ॥ चौदह रत्नोंके अधिपति, महाबलवान्, छह खण्ड रूप भरतक्षेत्रके स्वामी, नौ निधियोंसे सहित और अविनश्वर उत्तम कोष (खजाना) से संयुक्त श्रेष्ठ बारह चक्रधर होते हैं ॥ १८१ ॥ शंख, चन्द्र व कुन्द पुष्पके समान वर्णवाले; अनन्त बलसे युक्त, हाथमें हल रत्नको धारण करनेवाले एवं उत्तम भोगोंसे संयुक्त महातेजस्वी नौ बलदेव होते हैं ॥१८२॥ भरत क्षेत्रके आधे (तीन) खण्डोंके अधिपति, सात प्रकारके रत्नोंके स्वामी, नील कमलके समान वर्णवाले शरीरसे सहित और चक्रको धारण करनेवाले (अर्धचक्री) नौ वासुदेव होते हैं ॥ १८३ ॥ नील कमलके समान कान्तिवाले, तीन खण्ड रूप भरतक्षेत्रके अधिपति और महाबलवान् नौ वासुदेवोंके नौ ही प्रतिशत्रु कहे गये हैं ॥ १८४ ॥ रुद्र, कामदेव, गणधरदेव और जो चरमशरीरी मनुष्य हैं उनकी उत्पत्ति दुषमसुषमा कालमें जानना चाहिये ॥ १८५ ॥ दुषमाकालके आदिमें मनुष्य सात हाथ ऊंचे

---

१ श रेवदेसु. २ उ चक्कवादीया, श चक्कवादीया. ३ उ श सरिंदु. ४ उ श णव.
५ उ श ताम.

दुस्समकालादीए माणुसया[1] सत्तहत्थउस्सेधा । वीसुत्तरसयवासा परमाऊ ताण णिद्दिट्ठा ॥ १८६
पंचमकालवसाणे आऊ सयवासं[2] होंति परिसंखा । अद्धुट्ठा[3] रयणीओ सरीरपरिमाण णिद्दिट्ठा ॥ १८७
दुस्समदुसमे मणुया अद्धुट्ठा[3] हत्थ देहउस्सेधा[4] । परमाऊ वासयया[5] कालादीए समुद्दिट्ठा ॥ १८८
छट्ठमकालवसाणे सोलसवासाणि होइ परमाऊ । एया रयणी णेया उच्छेहो[6] सव्वमणुयाणं ॥ १८९
पढमे बिदिये तदिये काले जे होंति माणुसा पवरा[7] । ते अवमिच्चुविहूणा एयंतसुहेहि संजुत्ता ॥ १९०
चउथे पंचमकाले मणुया सुहदुक्खसंजुदा णेया । छट्ठमकाले सव्वे णाणाविहदुक्खसंजुत्ता ॥ १९१
चउथे पंचमकाले केइ णरा दिव्वरूवसंपण्णा । बत्तीसलक्खणधरा णीलुप्पलसुरहिणीसासा ॥ १९२
संपुण्णचंदवयणा मत्तमहागयवरिंदमारूढा । धवलादवत्तचिण्हा सियचामरधुव्वमाणसव्वंगा[8] ॥ १९३
रंगंतवरतुरंगा वियडघडा गुलगुलंतगज्जंता । रहवरफुरंता[9] णिवहा बहुजोहणिरुद्धसंचारा ॥ १९४
हारविराइयवच्छा णाणामणिविप्फुरंतमणिमउडा । केऊरभूसियकरा वरकुंडलमंडियागंडा ॥ १९५
जररोगसोगहीणा वियसियसयवत्तगब्भसंकासा । दीसंति दिव्वमणुया पुव्वं[10] सुकएहिं कम्मेहिं ॥ १९६

होते हैं । उस समय उनकी उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष प्रमाण कही गयी है ॥ १८६ ॥ पंचम कालके अन्तमें आयु सौ [बीस ?] वर्ष और शरीरका प्रमाण साढ़े तीन रत्नि कहा गया है ॥ १८७ ॥ दुषमदुषमा कालके आदिमें मनुष्य साढ़े तीन हाथ प्रमाण शरीरोत्सेधसे सहित और सौ [बीस ?] वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयुवाले कहे गये हैं ॥ १८८ ॥ छठे कालके अन्तमें सब मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु सोलह वर्ष और उंचाई एक रत्नि प्रमाण जानना चाहिये ॥ १८९ ॥ प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालमें जो श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं वे अपमृत्युसे रहित और एकान्त सुखोंसे संयुक्त होते हैं ॥ १९० ॥ चतुर्थ और पंचम कालमें मनुष्य सुख-दुखसे संयुक्त तथा छठे कालमें सभी मनुष्य नाना प्रकारके दुःखोंसे संयुक्त होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ १९१ ॥ चतुर्थ व पंचम कालमें कुछ ही दिव्य मनुष्य पूर्वकृत पुण्य कर्मोंके उदयसे दिव्य रूपसे सम्पन्न, बत्तीस लक्षणोंके धारक, नील कमलके समान सुगन्धित निश्वाससे युक्त, सम्पूर्ण चन्द्रके समान मुखवाले, मदोन्मत्त महागजेन्द्रपर आरूढ, धवल छत्र रूप चिह्नसे सहित, सफेद चामरोंसे ढोरा जा रहा है समस्त अंग जिनका, उत्तम तुरंगोंके संचारसे सहित, गुल-गुल गर्जना करनेवाले विशाल हाथियोंकी घटासे संयुक्त, उत्तम रथोंके समूहसे स्फुरायमान, बहुतसे योद्धाओंके निरोध युक्त, संचारसे सहित, हारसे शोभायमान वक्षस्थलसे युक्त, नाना मणियोंसे प्रकाशमान मणिमय मुकुटसे विभूषित, केयूरसे भूषित हाथोंवाले, उत्तम कुण्डलोंसे मण्डित कपोलोंसे संयुक्त; जरा, रोग एवं शोकसे रहित और विकसित कमलगर्भके सदृश प्रभावाले दिखते हैं ॥ १९२–१९६ ॥ [उक्त कालोंमें]

१ उ मणुसूया, श मणुसया. २ [समवीस,] ३ उ श अट्ठुद्दा, प ब अद्धट्ठा. ४ उ श उछिधा, प ब उछेधा. ५ [वीसइया.] ६ उ व उछेहा. ७ प व पउरा. ८ उ श धुधमाण, व दुट्ठमाण. ९ उ श फुरंत. १० उ श पुब्वे.

बहिरंधकाणंमूया कोडी[1] दालिद्द रूवपरिहीणा । दीणा अणाहसरणा हीणंगविरूवसंठाणा ॥ १९७
खुज्जा वामणरूवा णाणाविहवाहिवेयणसरीरा । बहुकोहमाणपउरा लोहिट्ठा मायसंछण्णा ॥ १९८
संबंधसयणरहिया घरपुत्तकलत्तदारपरिहीणा । खप्परकरंकहत्था देसंतरगमणपरिहत्था[4] ॥ १९९
देहि त्ति[5] दीणकलुणा भिक्खं हिंडंति लाहपरिहीणा । फुडिदंग[6]केसणिवहा जूयालिक्खादि संछण्णा॥ २००
खट्टिक्कडोंबसबरा पुलिंदचंडालणाहलादीया । दीसंति णरा बहवा पुव्वक्कयपावकम्मेहिं ॥ २०१
छट्ठमकालस्संते एरावदभरहखंसणामाणं । मज्झिमअज्जवखंडा खयगामी होंति णिद्दिट्ठा ॥ २०२
दुव्विट्टियणावुट्ठीमारीपरचक्कतक्करगणेहिं । ईदीहिं समभिभूदा णासंति हु देसविसयाणि ॥ २०३
गणणातीदेहि पुणो अवसप्पिणिउस्सकालसमयेहिं । बहुएहिं अइक्कंते पासंडिधरा समुद्दिट्ठा ॥ २०४
कप्पेसु असंखेसु य एरावयभरहणामखेत्तेसु । जिणभवणा पण्णत्ता ण अण्णभवणा समुद्दिट्ठा ॥ २०५
पंचसु भरहेसु तहा पंचसु एरावदेसु खेत्तेसु । अवसप्पिणि उस्सप्पिणि अवट्ठिदा होंति णिद्दिट्ठा ॥ २०६
जह किण्हपक्खसुक्का अवट्ठिदा जह य होंति दिणरयणी। तह ते कालसहावा अवट्ठिदा होंति णियमेण ॥ २०७

बहुतसे मनुष्य पूर्वकृत पापकर्मोंसे बहरे, अंधे, काने, मूक, कोढ़ी, दरिद्र, सुन्दर रूपसे रहित, दीन, अनाथ, अशरण, हीनांग, विरूप आकृतिवाले, कुबडे, वामन (बौने) रूपसे युक्त, नाना प्रकारकी व्याधियोंसे पीड़ित शरीरवाले, बहुत व प्रचुर क्रोध-मानसे सहित, लोभी, मायासे परिपूर्ण, सम्बन्धी व स्वजनों (कुटुम्बी जनों) से रहित; घर, पुत्र, कलत्र और बच्चोंसे विहीन; खप्पर व करंकसे युक्त हाथोंवाले; देशान्तर गमनसे संतप्त 'देहि' इस प्रकार दीन एवं करुणापूर्ण वचन बोल कर भिक्षाके निमित्त इधर-उधर घूमनेवाले, परन्तु भिक्षालाभसे रहित, स्फोट-युक्त अत एव दुर्गन्धमय अंग व केशोंके समूहसे सहित, जूं व लीखोंसे व्याप्त, तथा खटीक, डोम, शबर, पुलिंद, चण्डाल व नाहल आदि जातियोंमें उत्पन्न दिखते हैं ॥ १९७-२०१ ॥ छठे कालके अन्तमें ऐरावत व भरत नामक क्षेत्रोंके मध्यम आर्यखण्ड विनाशको प्राप्त होनेवाले निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ २०२ ॥ दुर्वृष्टि (अतिवृष्टि), अनावृष्टि, मारि, परचक्र और तस्करसमूह रूप ईतियोंसे अभिभूत होकर देश-विषय नष्ट होते हैं ॥ २०३ ॥ पुनः बहुत असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप काल-समयोंके बीत जानेपर पाषण्डिधरा (पाखण्डमय पृथिवी) कही गयी है ॥ २०४ ॥ असंख्यात कल्पोंमें ऐरावत व भरत नामक क्षेत्रोंमें जिनभवन कहे गये हैं, अन्य देवताओंके भवन नहीं कहे गये हैं ॥ २०५ ॥ पांच भरत तथा पांच ऐरावत क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल स्थित रहते हैं ॥ २०६ ॥ जिस प्रकार कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष अवस्थित हैं, तथा जिस प्रकार दिन और रात्रि अवस्थित हैं, उसी प्रकार नियमसे वे कालस्वभाव अवस्थित हैं ॥ २०७ ॥

---

१ उ श कण. २ उ श कोढी. ३ प ब माण. ४ प ब दिसंतरगमणपडिहत्था. ५ उ श देहिं ति, प ब देहि ति. ६ उ पुडिम, प ब फुडिदंग, श फुडिदग. ७ प ब अरकेचेह या.

अवसप्पिणिम्मि काले तहेव उवसप्पिणिम्मि कालम्मि । उप्पज्जंति महप्पा तेसट्ठिसलागवरपुरिसा ॥ २०८
होऊण भोगभूमी अट्ठारसउवहिकोडिकोडीया । भरहक्खंडविभागं अच्छदि कालाणुभावेण[1] ॥ २०९
अजियं अजियमहप्पं अपुणब्भवं अच्चुयं[2] विमलणाणं । वरपउमणंदिणमियं वंदे अजरामरं अरुजं ॥ २१०

॥ इय जंबुदीवपण्णत्तिसंगहे भरहेरावयवंसवण्णणो णाम बिदिओ उद्देसो समत्तो ॥ २ ॥

अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी कालमें तिरेसठ शलाकामहापुरुष उत्पन्न होते हैं ॥२०८॥ अठारह कोड़ाकोड़ि सागर प्रमाण काल तक भोगभूमि होकर [शेष दो कोड़ाकोड़ि सागरोपममें] भरतखण्ड-विभाग कर्मभूमिस्वरूपसे स्थित होता है ॥ २०९ ॥ जिनका माहात्म्य अजित अर्थात् जीता नहीं गया है और जो पुनर्जन्मसे रहित, अद्भुत निर्मल ज्ञानके धारक, उत्तम पद्मनन्दि मुनिसे वन्दित, तथा अजर व अमर होकर रोगसे रहित हैं; उन अजितनाथ भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूं ॥ २१० ॥

॥ इस प्रकार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसंग्रहमें भरत-ऐरावतक्षेत्रवर्णन नामक द्वितीय उद्देश समाप्त हुआ ॥२॥

१ ब कलाणुभावेण [कम्माणुभावेण]. २ उ श अद्भुयं.



[तदिओ उद्देसो]

संभवजिणं णमंसिय सइंदसुरसंथुयं अचलणाणं । संखेवेण समग्गं सेलसहावं[1] पवक्खामि ॥ १
हिमवंतमहाहिमवं णिसहो णीलो य रुप्पसेलो य । सिहरी वि य बोधव्वा वंसधरा होंति णिद्दिट्ठा ॥ २
हिमवंतसिहरिसेला कणयमया विविहरयणसंछण्णा । जोयणसयउव्विद्धा अवगाहा होंति पणवीसा ॥ ३
बावण्णसमधियेयों सहस्स परिमाण होंति वित्थिण्णा । बारसकला वि णेया उणवीसगदेहिं छेदेहिं ॥ ४
पुव्वावरेण दीहा एयत्तरि चदुसदा य पंचकला । चउदस चेव सहस्सा कणिट्ठपासेसु णिद्दिट्ठा ॥ ५
पच्छिमपुव्वायामो बत्तीसा णवसया य पण्णत्ता । चउवीसं पि सहस्सा उक्कट्ठतमेसु पासेसु ॥ ६
चउदस चेव सहस्सा पंचेव सया हवंति अडवीसा[6] । एयार कला णेया कणिट्ठधणुपट्ठ सेलाणं ॥ ७
पणुवीसं च सहस्सा बेसयतीसा य चउकला अहिया । उक्कट्ठधणुयपट्ठा सेलाणं होंति णिद्दिट्ठा ॥ ८
पंचासा तिण्णिसया पंचसहस्सा य अद्धकलसहिया । पण्णरस कला णेया पस्सभुजा पव्वदाणं तु ॥ ९
बावण्णसया तीसा जोयणसंखापमाणमुद्दिट्ठा । अद्धट्ठमकलसंखा णगाण चूली वियाणाहि ॥ १०

इन्द्रोंके साथ देवोंके द्वारा संस्तुत तथा अविनश्वर ज्ञानवाले सम्भव जिनको नमस्कार करके संक्षेपसे समस्त पर्वतोंके स्वरूपको कहते हैं ॥ १ ॥ हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रूप्य (रुक्मि) और शिखरी, ये छह कुलाचल कहे गये हैं ॥२॥ इनमेंसे हिमवान् और शिखरी पर्वत सुवर्णमय, विविध रत्नोंसे व्याप्त, सौ योजन ऊंचे और पच्चीस योजन प्रमाण अवगाहसे सहित हैं ॥ ३ ॥ ये दोनों पर्वत एक हजार बावन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे बारह भाग प्रमाण (१०५२$\frac{१२}{१९}$) विस्तीर्ण हैं ॥ ४ ॥ उक्त दोनों कुलाचल कनिष्ठ पार्श्व भागोंमें अर्थात् भरत एवं ऐरावत क्षेत्रकी ओर चौदह हजार चार सौ इकहत्तर योजन और पांच कला (१४४७१$\frac{५}{१९}$) प्रमाण पूर्व-पश्चिम दीर्घ कहे गये हैं ॥५॥ ये दोनों कुलपर्वत उत्कृष्टतम पार्श्वभागोंमें अर्थात् हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रकी ओर चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस योजन [व एक कला] (२४९३२$\frac{१}{१९}$) प्रमाण पूर्व-पश्चिम आयत कहे गये हैं ॥ ६ ॥ इन शैलोंका कनिष्ठ धनुषपृष्ठ चौदह हजार पांच सौ अट्ठाईस योजन और ग्यारह कला (१४५२८$\frac{११}{१९}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ ७ ॥ इन शैलोंका उत्कृष्ट धनुषपृष्ठ पंच्चीस हजार दो सौ तीस योजन चार कला अधिक (२५२३० $\frac{४}{१९}$) कहा गया है ॥८॥ दोनों पर्वतोंकी पार्श्वभुजा पांच हजार तीन सौ पचास योजन और अर्ध कला सहित पन्द्रह कला (५३५०$\frac{३१}{३८}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ ९ ॥ दोनों पर्वतोंकी चूलिका बावन सौ तीस योजन और साढ़े सात कला (५२३०$\frac{१५}{३८}$) प्रमाण कही गयी हैं ॥ १० ॥

१ प ब णमंसिय इंदुसर. २ उ श अवलं. ३ उ श सोलसहावं. ४ उ प ब श समभिरेया ५ उ ब श चदुसहा ६ उ प ब श अडतीसा ७ उ प ब श अद्धफलं.

वणवेइयपरियरिया णाणाविहतोरणेहिं कयसोहा । बहुकप्परुक्खणिवहा सुगंधगंधुद्धदो[1] रम्मा ॥ ११
लवलीलवंगपउरा चंपयमंदारबउलगंधड्ढा । पुण्णागणागणिवहा अइमुत्तलयाउलसिरीया[2] ॥ १२
कप्पूरणियररुक्खा असोयफणसंबजंबिरसणाहा[3] । तालदुमणालिणिवहा[4] कयलीहिंतालसंछण्णा ॥ १३
बहुकुसुमरेणुपिंजलअलिउलगिज्जंत[5]महुरसद्दाला । पवणवसचलियपल्लवपायवणच्चंतमहिरामा ॥ १४
भूधरपमाणदीहा वेगाउदवित्थडा समुद्दिट्ठा । वरभूदराण होंति हु वणसंडा उहयपासेसु ॥ १५
तह य महाहिमवंतो अज्जुणवण्णो फुरंतमणिणिवहो । रुप्पियसेलो णेओ रुप्पमओ[6] रयणसंछण्णो ॥ १६
पण्णासा अवगाहा बे वि णगा बेसदा समुत्तुंगा । बादालसदा विउला[7] दसुत्तरा दसकला अधिया[8] ॥ १७
चउहत्तरि छच्च सया सोलसभागा हवंति णिद्दिट्ठा । सत्तत्तीससहस्सा जहण्ण आयाम सेलाणं ॥ १८
इगितीसा णव य सदा छच्चेव कला हवंति णिद्दिट्ठा । तेवण्णं च सहस्सा उक्कस्सायाम सेलाणं ॥ १९
दस चेव कला णेया चत्ताला सत्त जोयणसदाणि । अट्ठत्तीससहस्सा जहण्णधणुपट्ठ सेलाणं ॥ २०

इन उत्तम पर्वतोंके उभय पार्श्वभागोंमें वनवेदियोंसे वेष्टित, नाना प्रकारके तोरणोंसे शोभायमान, बहुतसे कल्पवृक्षोंके समूहोंसे सहित, सुगंध गंधसे व्याप्त, रमणीय, प्रचुर लवली एवं लवंग वृक्षोंसे सहित; चम्पक, मन्दार एवं वकुलकी गंधसे व्याप्त; पुन्नाग एवं नाग वृक्षोंके समूहसे सहित, अतिमुक्त लताओंसे व्याप्त शोभासे सम्पन्न, कर्पूर वृक्षोंके समूहसे संयुक्त; अशोक, पनस, आम्र एवं जंबीर वृक्षोंसे सनाथ; ताल-द्रुम व नाली (एक लता) के समूहोंसे सहित, कदली व हिंताल वृक्षोंसे आच्छन्न, बहुतसे पुष्पोंकी धूलिसे पीतवर्ण हुए भ्रमरोंके समूहसे किये जानेवाले मधुर गान (गुंजार) से शब्दायमान, वायुसे प्रेरित होकर चंचलताको प्राप्त हुए पत्तोंवाले वृक्षोंके मधुर नाचसे अभिराम, तथा पर्वतके बराबर लम्बे और दो कोश विस्तृत ऐसे वनखण्ड कहे गये हैं ॥११-१५॥ महाहिमवान् पर्वत प्रकाशमान मणियोंके समूहसे युक्त, श्वेतवर्ण तथा रत्नोंसे व्याप्त रुक्मि पर्वत रजतमय जानना चाहिये ॥ १६ ॥ दोनों ही पर्वत पचास योजन अवगाहसे युक्त, दो सौ योजन ऊंचे और दश कला अधिक ब्यालीस सौ दश योजन (४२१० $\frac{१०}{१९}$) प्रमाण विस्तृत हैं ॥ १७ ॥ इन शैलोंकी जघन्य लम्बाई सैंतीस हजार छह सौ चौहत्तर योजन और सोलह भाग (३७६७४ $\frac{१६}{१९}$) प्रमाण कही गई है ॥ १८ ॥ उक्त शैलोंकी उत्कृष्ट लम्बाई तिरेपन हजार नौ सौ इकतीस योजन और छह कला (५३९३१ $\frac{६}{१९}$) प्रमाण कही गई है ॥ १९ ॥ उक्त शैलोंका जघन्य धनुषपृष्ठ अड़तीस हजार सात सौ चालीस योजन और दश कला (३८७४० $\frac{१०}{१९}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ २० ॥ उक्त शैलोंका उत्कृष्ट धनुषपृष्ठ सत्ता-

---

१ उ सुगंधुगंधुदधुद्दा, ब सुगंधागंधुद्धदा. २ उ श लयाउलसिरिया. ३ प जंबिरणाहा, ब जंबिरणाह. ४ ब सालदुमासालिणिवह. ५ ब गिज्जंति. ६ उ श णेये ऊ रुप्पमओ ७ प ब विलुला. ८ उ श अविया.

वे चेव सदा णेया तेणउदा दसकला समुद्दिट्ठा । सत्तावण्णसहस्सा धणुपट्ठुक्कस्स सेलाणं ॥ २१
छाहत्तरि विण्णिसदा णव य सहस्साणि जोयणा णेया । णव य कला अद्धकला पासभुजा होंति सेलाणं ॥ २२
अट्ठावीसं च सदं अट्ठसहस्साणि जोयणुद्दिट्ठा । अद्ध य पंचमभागा णगाण चूली वियाणाहि ॥ २३
तवणिज्जमओ[1] णिसहो वेरुलियमओ दु णीलवण्णो दु । बे वि णगा विण्णेया णाणामणिरयणचिंचइदा ॥ २४
चत्तारिसया तुंगा सदक्खवगाढा[2] फुरंतमणिकिरणा । सोलससहस्स अट्ठसय बादाला बे कला रुंदा ॥ २५
एगुत्तरणवयसया तेहत्तरि तह सहस्स सेलाणं । सत्तरस कला णेया जहण्णजीवा समुद्दिट्ठा ॥ २६
चउणउदिं च सहस्सा सदं च छप्पण्ण बे कला अधिया । पुव्वावरेण णेया आयामा होंति उक्कस्सा ॥ २७
चत्तारि कला अधिया सोलस चुलसीदिजोयणसहस्सा । णीलणिसहाण णेया जहण्णधणुपट्ठ णिद्दिट्ठा ॥ २८
छादाला तिण्णिसदा चउवीससहस्स णीलणिसहाणं । एगं च सदसहस्सं णव भागा जेट्ठधणुपट्ठं ॥ २९
पण्णट्ठि सदा णेया वीससहस्सा य णीलणिसहाणं । पस्सभुजा णायव्वा अड्ढाइज्जा कला अहिया ॥ ३०
सत्तावीसं च सदी[3] दस य सहस्साणि बे कला[4] अधिया । णीलणिसहाण णेया चूलियसंखा समुद्दिट्ठा ॥ ३१

वन हजार दो सौ तेरानवै योजन और दश कला (५७२९३ $\frac{१०}{१९}$) प्रमाण कहा गया है ॥ २१ ॥ उक्त शैलोंकी पार्श्वभुजा नौ हजार दो सौ छयत्तर योजन और साढ़े नौ कला (९२७६ $\frac{१९}{३८}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ २२ ॥ उक्त पर्वतोंकी चूलिका साढ़े चार भागोंसे अधिक आठ हजार एक सौ अट्ठाईस योजन (८१२८ $\frac{९}{३८}$) जानना चाहिये ॥ २३ ॥ निषध पर्वत सुवर्णमय और नील पर्वत वैडूर्यमणिमय नीलवर्ण है । नाना मणियों व रत्नोंसे मण्डित ये दोनों ही पर्वत चार सौ योजन ऊंचे, सौ योजन अवगाहसे युक्त, प्रकाशमान मणिकिरणोंसे सहित, और सोलह हजार आठ सौ ब्यालीस योजन व दो कला (१६८४२ $\frac{२}{१९}$) प्रमाण विस्तारवाले हैं ॥ २४–२५ ॥ इन शैलोंकी जघन्य जीवा तिहत्तर हजार नौ सौ एक योजन और सत्तरह कला (७३९०१ $\frac{१७}{१९}$) प्रमाण कही गई जानना चाहिये ॥ २६ ॥ उक्त पर्वतोंकी उत्कृष्ट लम्बाई (जीवा) पूर्व-पश्चिममें चौरानबै हजार एक सौ छप्पन योजन और दो कला (९४१५६ $\frac{२}{१९}$) अधिक जानना चाहिये ॥ २७ ॥ नील व निषध पर्वतोंकी जघन्य धनुषपृष्ठ चौरासी हजार सोलह योजन और चार कला अधिक (८४०१६ $\frac{४}{१९}$) जानना चाहिये ॥ २८ ॥ नील और निषधका उत्कृष्ट धनुषपृष्ठ एक लाख चौबीस हजार तीन सौ छयालीस योजन और नौ भाग (१२४३४६ $\frac{९}{१९}$) प्रमाण है ॥ २९ ॥ नील व निषध पर्वतोंकी पार्श्वभुजा बीस हजार एक सौ पैंसठ योजन और अढ़ाई कला अधिक (२०१६५ $\frac{५}{३८}$) जानना चाहिये ॥ ३० ॥ नील-निषध पर्वतोंकी चूलिकाका प्रमाण दश हजार एक सौ सत्ताईस योजन और दो कला अधिक (१०१२७ $\frac{२}{१९}$) कहा गया है ॥ ३१ ॥ ये सब ही लम्बे पर्वत वेदियोंसे सहित, मणिमय

---

१ उ श तवमज्जमओ. २ ब व सदेवअवगाढा. ३ उ श सदा. ४ उ प ब श केवला.

सव्वे वि वेदिसहिदा मणिमयजिणचेइएहि संपण्णा । उववणकाणणसहिया दीहगिरिंदा मुणेयव्वा ॥ ३२
वरदहसिदादवत्ता[1] सरिचामरविज्जमाणं[2] बहुमाणा । कप्पतरुचारुचिण्हा वसुमइसिंहासणारूढा ॥ ३३
वेदिकडिसुत्तणिवहा मणिकूडफुरंत[3]दिव्ववरमउडा । णिज्झरपलंबहारा तरुकुंडलमंडियागंडा ॥ ३४
सुरघर[4]कंठाभरणा वणसंडविचित्तवत्थकयसोहा । गोउरतिरीडमाला पायारसुगंधदामड्ढा ॥ ३५
तोरणकंकणहत्था वज्जपणालीफुरंत[5]केऊरा । जिणभवणतिलयभूदा भूहरराया विरायंति ॥ ३६
अंजणदहिमुहरइयरमंदरवरकुंडलाण सेलाणं । होंति सहस्सवगाढा[6] सेसा उच्चचउभाग सेसाणं ॥ ३७
वज्जमया अवगाहा[7] गिरीण सिहरा हवंति रयणमया । दहसरिकुंडाण तहा भूमितडा वज्जपरिणामा ॥ ३८
एयारसट्ठणवणवअट्ठेयारस हवंति कूडाणि । हिमवंतादो णेया जाव दु वरसिहरिपरियंता[8] ॥ ३९
सिद्धहिमवंतभरहा इला[9] गंगा हवंति कूडाणं । सिरिरोहिदसिंधुसुरा हेमवदा वेसमणणामा ॥ ४०

जिनचैत्योंसे सम्पन्न और वन उपवनास सहित हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३२ ॥ उत्तम द्रहरूपी धवल आतपत्रसे सहित, नदीरूपी चामरोंसे वीज्यमान, बहुत प्रमाणसे सहित, कल्पवृक्षरूपी उत्तम चिह्नोंसे युक्त, पृथिवीरूपी सिंहासनपर आरूढ, वेदीरूप कटिसूत्रसमूहसे संयुक्त, मणिमय कूट रूप प्रकाशमान उत्तम दिव्य मुकुटसे सुशोभित, निर्झररूपी लम्बे हारसे अलंकृत, वृक्षरूपी कुण्डलोंसे मण्डित कपोलोंवाले, सुरगृहरूपी कण्ठाभरणसे विभूषित, वनखण्डरूपी विचित्र वस्त्रोंसे शोभायमान, गोपुररूपी किरीटमालासे रमणीय, प्राकाररूपी सुगन्धित मालासे वेष्टित, तोरणरूप कंकणसे विभूषित हाथोंवाले, वज्रमय नाली रूप प्रकाशमान केयूरसे सहित, और तिलक स्वरूप जिनभवनोंसे संयुक्त ऐसे कुलाचल रूपी राजा विराजमान हैं ॥ ३३—३६ ॥ अंजनगिरि, दधिमुख, रतिकर पर्वत, मन्दर (मेरु) और उत्तम कुण्डल नग, इन शैलोंका अवगाह हजार योजन प्रमाण तथा शेष पर्वतोंका वह अपनी उंचाईके चतुर्थ भाग प्रमाण होता है ॥ ३७ ॥ पर्वतोंके अवगाह (नीव) वज्रमय और शिखर रत्नमय होते हैं । द्रह, नदी तथा कुण्डोंके भूमितल वज्र स्वरूप होते हैं ॥ ३८ ॥ हिमवान्‌से लेकर शिखरी पर्वत पर्यन्त उक्त पर्वतोंके क्रमसे ग्यारह, आठ, नौ, नौ, आठ और ग्यारह कूट हैं ॥ ३९ ॥ सिद्धकूट, हिमवान्कूट, भरतकूट, इलाकूट, गंगाकूट, श्रीकूट, रोहित (रोहितास्या) कूट, सिन्धुकूट, सुराकूट, हैमवतकूट, और वैश्रवणकूट, ये ग्यारह कूट हिमवान् पर्वतपर स्थित हैं ॥४०॥ सिद्धकूट, [महा] हिमवान्कूट,

१ प ब वरदहसिदादिवण्णा. २ उ श विज्जुमाण. ३ उ श किरंत, प ब फुरंति. ४ उ सुरव्वर, श सुघर. ५ उ श फुरंत. ६ उ प ब श सहस्सवगाढा. ७ प ब अवणेहा. ८ उ प ब श परियत्ता. ९ प ब ईला.

सिद्धहिमवंतणामा हेमव्वदरोहिदा यं हिरिकूडा । हरिसोहणहरिवंसा वेरुलिय हवंति कूडाणं ॥ ४१
तह सिद्धणिसधहरिदौ धिदि विदेहहरिविजय तह य सीदोदा । अवरविदेहा रुजगो कूडाणं होंति णामाणि ॥ ४२
सिद्धवरणीलकूडा पुव्वविदेहा सिदा य कित्तिया । णारी अवरविदेहा रम्मग अवदंस णामाणि ॥ ४३
वरसिद्धरुप्परम्मगणरकंताबुद्धिरुप्पकूला य । हेरण्णवदा कंचण णामाणि हवंति कूडाणं ॥ ४४
तह सिद्धसिहरिणामा हिरण्णरसदेविरत्तलच्छीया । कणय तह रत्तवदिया गंधारो रयदमणिहेमा ॥ ४५
वंसहरमाणुसुत्तरकुंडलरुजगाहिवाण सेलाणं । जावदिया अवगाहा तावदिया कूडउच्छेहा ॥ ४६
पणुवीसा पण्णासा सय सय पण्णास तह य पणुवीसा । हिमवंतणगादीणं कूडाणं होंति उच्छेहा ॥ ४७
सोदयदलविच्थिण्णा आयामा होंति सव्वकूडाणं । मूलेसु समुद्दिट्ठा णाणामणिरयणपरिणामा ॥ ४८
अद्धत्तेरसजोयणं पणुवीसा तह य होंति पण्णासा । पण्णासा पणुवीसा बारस बे चेव कोसहिया ॥ ४९

हैमवतकूट, रोहितकूट, ह्रीकूट, हरिशोभन (हरिकान्ता) कूट, हरिवर्षकूट और वैडूर्यकूट, ये आठ कूट महाहिमवान् पर्वतपर स्थित हैं ॥ ४१ ॥ तथा सिद्धकूट, निषधकूट, हरित्कूट, धृतिकूट, [पूर्व] विदेहकूट, हरिविजयकूट, सीतोदाकूट, अपरविदेहकूट और रुचककूट, इस प्रकार ये निषध पर्वतपर स्थित नौ कूटोंके नाम हैं ॥ ४२ ॥ उत्तम सिद्धकूट, नीलकूट, पूर्वविदेहकूट, सीताकूट, कीर्तिकूट, नारीकूट, अपरविदेहकूट, रम्यककूट और अवतंस (अपदर्शन, उपदर्शन) कूट, ये नौ कूट नील पर्वतपर स्थित हैं ॥ ४३ ॥ उत्तम सिद्धकूट, रुप्य (रुक्मि) कूट, रम्यककूट, नरकान्ताकूट, बुद्धिकूट, रुप्यकूलाकूट, हैरण्यवतकूट और कंचनकूट, ये रुक्मि पर्वतपर स्थित आठ कूटोंके नाम हैं ॥ ४४ ॥ तथा सिद्धकूट, शिखरीकूट, हैरण्यवतकूट, रसदेवीकूट, रक्ताकूट, लक्ष्मीकूट, सुवर्ण-[कूला] कूट, रक्तवतीकूट और गान्धार (गन्धवती) कूट, रजत (ऐरावत) कूट और मणिकांचनकूट, ये ग्यारह कूट शिखरी पर्वतपर स्थित हैं ॥ ४५ ॥ मानुषोत्तर, कुण्डलगिरि, और रुचकगिरि, इन वर्षधर शैलोंका जितना अवगाह है उतना उनके कूटोंका उत्सेध है ॥ ४६ ॥ हिमवान् पर्वतादिकोंके कूटोंका उत्सेध क्रमसे पच्चीस, पचास, सौ, सौ, पचास तथा पच्चीस योजन प्रमाण है ॥४७॥ नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप ये सब कूट मूल भागोंमें अपनी उंचाईके अर्ध भाग प्रमाण विस्तीर्ण व इतने ही आयत कहे गये हैं ॥ ४८ ॥ उन कूटोंके उपर्युक्त विस्तार व आयामका प्रमाण क्रमसे साढ़े बारह योजन, पच्चीस योजन, पचास योजन, पचास योजन, पच्चीस योजन और दो कोश अधिक बारह योजन है ॥४९॥

---

१ उ श प ब हरी. २ उ श णिसिध. ३ उ श हारिद, प ब हारिदा. ४ उ प ब श धिदि. ५ उ श कित्तिय. ६ श णामाण. ७ उ श रण्ण. ८ उ प ब श रत्तविदिया. ९ ब गंधारी. १० उ श जोयण.

विरिथण्णायामेण य पण्णरसा जोयणा य वरभवणा। अड्डादिज्जा कोसा कूडाणं होंति सिहरेसु ॥ ५०
सक्कोसा इगितीसा उव्विद्धा विविहरयणपरिणामा। जोयणचउत्थभागा अवगाढा ताण णिद्दिट्टा ॥ ५१
अट्ठेव जोयणाइं तोरणदारा हवंति उत्तुंगा। चउजोयणवित्थिण्णा अणाइणिहणा वियाणाहि ॥ ५२
णाणामणिगणणिविडा कणयमया विप्फुरंतमणिकिरणा। सत्ततला पासाया सुगंधगंधुद्धदा रम्मा ॥ ५३
कालागरुगंधड्ढा संगीदमुदिंगसद्दगंभीरा। लंबंतरयणमाला बहुकुसुमकयच्चणसणाहा ॥ ५४
पजलंतरयणदीवा णाणाविहवत्थविउलकयसोहा। वरवज्जणीलमरगयकक्केयणपुस्सरागमया ॥ ५५
पायारवलहिगोउरउववणसंडेहि मंडिया दिव्वा। दीहा समचउरंसा अणेगसंठाणपरिणामा ॥ ५६
अरविंदोदरवण्णा णीलुप्पलकुमुदगब्भसंकासा। चंपयमंदारणिभा गोरोयणसच्छहा केवि ॥ ५७
वरचित्तकम्मपउरा सहस्सखंभेहि सोहिया रम्मा। पवरच्छराहिं भरिया अच्छेरयरूवसाराहि ॥ ५८
कुंदेंदुसंखवण्णा गोखीरतुसारहारसंकासा। मरगयपवालवण्णा वियसियसयवत्तसंकासा ॥ ५९
सत्तट्ठमभूमीया णवदसभूमी अणेगभूमीया। जिणसिद्धभवणणिवहा मणिकंचणरयणपरिणामा ॥ ६०

कूटोंके शिखरोंपर पन्द्रह योजन और अढ़ाई कोश विस्तार व आयामसे युक्त उत्तम भवन हैं ॥ ५० ॥ विविध रत्नोंके परिणाम रूप उन भवनोंकी उंचाई एक कोश सहित इकतीस योजन और अवगाह योजनके चतुर्थ भाग प्रमाण कहा गया है ॥ ५१ ॥ उन भवनोंमें आठ योजन ऊंचे और चार योजन विस्तीर्ण अनादिनिधन तोरणद्वार जानना चाहिये ॥ ५२ ॥ उक्त प्रासाद नाना मणिगणोंसे व्याप्त, सुवर्णसे निर्मित, प्रकाशमान मणिकिरणोंसे सहित, सात तलवाले, सुगन्ध गन्धसे व्याप्त, रमणीय, कालागरुके गन्धसे युक्त, संगीत व मृदंगके शब्दसे गम्भीर, लम्बायमान रत्नमालाओंसे संयुक्त, बहुत कुसुमों द्वारा की गई पूजासे सनाथ, प्रकाशमान रत्नदीपकोंसे सहित, नाना प्रकारके वस्त्रोंसे की गई महती शोभासे सहित; उत्तम वज्र, नील मणि, मरकत, कर्केतन और पुखराज मणियोंसे निर्मित; प्राकार, वलभी (छज्जा), गोपुर एवं उपवन समूहोंसे मण्डित; दिव्य, दीर्घ, समचतुष्कोण, अनेक आकारोंमें परिणत, कोई कमलके उदर जैसे वर्णवाले, कोई नीलोत्पल व कुमुदके गर्भ सदृश, कोई चम्पक व मन्दार पुष्पके सदृश, कोई गोरोचनके समान कान्तिवाले, उत्तम प्रचुर चित्रक्रियासे संयुक्त, हजार खंभोंसे शोभित, रम्य, आश्चर्यजनक श्रेष्ठ रूपवाली उत्तम अप्सराओंसे परिपूर्ण; कुन्दपुष्प, चन्द्रमा एवं शंखके समान वर्णवाले; गोक्षीर, तुषार एवं हारके सदृश, मरकत व प्रवाल जैसे वर्णवाले, विकसित कमलके सदृश, सात-आठ भूमियोंवाले, नौ-दश भूमियोंवाले व अनेक भूमियोंवाले, जिनभवनों व सिद्धभवनोंके समूहसे सहित; मणि, सुवर्ण एवं रत्नोंके परिणाम रूप; पुन्नाग व तिलकके सदृश वर्णवाले,

---

१ ब गंधुद्धदा. २ उ ब वठ, श वच्छ, ३ उ श पुंस. ४ श पवरत्थराहि. ५. श अत्थेरय.

पुण्णागतिलयवण्णा पारावयमोरकंठसंकासा । [1]कंदलकल्हारणिभा केदइकणवीरसंकासा ॥ ६१

मंदारतारकिरणा सत्तच्छदसालकुसुमसंकासा । किंसुय[2]मुणालवण्णा दुव्वंकुरसिरिसकुसुमसंकासा[3] ॥ ६२

पाडलअसोगवण्णा णववियसिय[4]रत्तकुसुमसंकासा । इंदीवरदलवण्णा विभिण्णसियकुसुमसंकासा ॥ ६३

पायारसंपरिउडा वरगोउरमंडिया परमरम्मा । धुव्वंतधयवडाया मणितोरणसंकुला विउला ॥ ६४

वरभूहरसंकासा णाणाविहचारुभवणसंछण्णा । दिव्वमणोवमरूवा असंखसुरसंकुला रम्मा ॥ ६५

पोक्खरणिवाविपउरा सरिसरवरदीहियाहि परिपरिया । उववणकाणणसहिया अलिउलकुलज[5]णियझंकारा ॥ ६६

गिरिवरकूडेसु तहा गिरिवरसिहरेसु गिरिवरणगेसु । होंति सुराणं पुरवर जिणभवणविहूसिया रम्मा ॥ ६७

विक्खंभायामेहि य उच्छेहेहि य हवंति जावदिया । वेदड्ढणगम्मि तहा तावदिया अंबुजेसु गिहा ॥ ६८

पउमो य महापउमो तिगिंछवरकेसरी य पुंडरिओ । तह य महापुंडरिओ महादहा होंति अचलेसु ॥ ६९

दहकुंडणगणदीण य वणदीवपुराण कूडसेढीणं । तडवेदी णिद्दिट्ठा मणितोरणमंडिया दिव्वा ॥ ७०

सेलाणं उच्छेहो दसगुणिद दहाण होइ आयामा । दसमजिदे अवगाहं पंचगुणे हवइ विक्खंभं ॥ ७१

कबूतर व मयूरके कण्ठके सदृश, कंदल व कल्हारके समान वर्णवाले, केतकी व कनेरके सदृश, मन्दारके समान निर्मल किरणोंवाले, सप्तच्छद व शाल वृक्षोंके कुसुमोंके समान, किंशुक व मृणाल जैसे वर्णवाले, दूर्वाङ्कुर व शिरीष कुसुमके सदृश, पाटल व अशोकके समान वर्णवाले, नवीन विकसित रक्त कुसुमोंके सदृश, कमलपत्रके तुल्य वर्णवाले, विकसित सित कुसुमोंके सदृश, प्राकारसे वेष्टित, उत्तम गोपुरोंसे मण्डित, अतिशय रमणीय, फहराती हुई ध्वजा-पताकाओंसे सहित, मणितोरणोंसे व्याप्त, विस्तृत, उत्तम भूधरके सदृश, नाना प्रकारके सुन्दर भवनोंसे युक्त, दिव्य व अनुपम रूपवाले, असंख्य देवोंसे व्याप्त, रम्य, प्रचुर पुष्करिणी व वापियोंसे सहित; नदी, सरोवर एवं दीर्घिकाओंसे परिपूर्ण; वन-उपवनोंसे सहित, और भ्रमरसमूहके झंकारसे युक्त हैं ॥ ५३-६६ ॥ पर्वतोंके कूटोंपर, पर्वतशिखरोंपर तथा पर्वतनगोंपर भी इसी प्रकार जिनभवनोंसे विभूषित एवं रमणीय देवोंके उत्तम भवन होते हैं ॥ ६७ ॥ जितना विष्कम्भ, आयाम और उत्सेध वैताढ्य पर्वतपर स्थित गृहोंका है उतना ही वह कमलोंपर स्थित गृहोंका भी है ॥ ६८ ॥ पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, पुण्डरीक और महापुण्डरीक, ये महा द्रह उक्त कुलाचलोंपर स्थित हैं ॥ ६९ ॥ द्रह, कुण्ड, पर्वत, नदी, वन, द्वीप, पुर, कूट और विद्याधरश्रेणियोंके मणितोरणोंसे मण्डित दिव्य तटवेदियां कही गई हैं ॥ ७० ॥ पर्वतोंके उत्सेधको दशसे गुणित करनेपर द्रहोंका आयाम, उसमें दशका भाग देनेपर उनका अवगाह, और पांचसे गुणित करनेपर उनका विस्तार होता है ॥ ७१ ॥

---

१ अप्रतौ ६१ तमगाथाया उत्तरार्द्धं ६२तमगाथायाश्च पूर्वार्द्धं नोपलभ्यते. २ प ब केसुय ३ प ब दुव्वंकुरसिरसकुसुमाभा. ४ उ श णवाविवसिय. ५ उ श जाणिय.

उच्छेहं पंचगुणं विक्खंभं हवइ दुगुण आयामं । पण्णासेण विभत्तं विक्खंभं हवइ अवगाहं ॥ ७२
आयामो दु सहस्सं विक्खंभं पंचजोयणसदाणि । हिमगिरिसिहरिदहाणं दुगुणा दुगुणा परं तत्तो ॥ ७३
मज्झे दहस्स पउमा बे कोसा उट्टिदा जलंतादो । चत्तारि य वित्थिण्णा मज्झे अंते य दो कोसा ॥ ७४
वेरुलियविमलणालं एयारसहस्सपत्तवरणिचिदं । सिरिणिलयं णवत्रियसिय दहमज्झे होइ बोद्धव्वा ॥ ७५
तस्स वरपउमकलिया वेरुलियकवाडतोरणदुवारं । कूडागारमहारिहवाघारियफुल्लवरदामं ॥ ७६
कोसं आयामेण य कोसद्धं होदि चेव वित्थिण्णं । देसूणएक्ककोसं उच्छेहो तस्स भवणस्स ॥ ७७
सिरिहिरिधिदिकित्ति तहा बुद्धी लच्छी य देवकण्णाओ । एदेसु दहेसु सदा वसंति फुल्लेसु पउमेसु ॥ ७८
दक्खिणदहपउमाणं सोहम्मिंदस्स होंति देवीओ । उत्तरदहवासिणीओ ईसाणिंदस्स बोद्धव्वा ॥ ७९

[उदाहरण— हिमवान् पर्वतका उत्सेध यो. १००; १०० × १० = १००० यो. उसके ऊपर स्थित पद्मद्रहका आयाम । १०० ÷ १० = १० यो. उक्त द्रहका अवगाह । १०० × ५ = ५०० यो. उसका विस्तार ।] उत्सेधको पांचसे गुणित करनेपर द्रहोंका विस्तार और उससे दूना उनका आयाम होता है । विस्तारप्रमाणको पचाससे विभक्त करनेपर उनके अवगाहका प्रमाण होता है ॥ ७२ ॥ [उदाहरण— हिमवान्का उत्सेध यो. १००; १०० × ५ = ५०० यो. पद्मद्रहका विस्तार । ५०० × २ = १००० यो. उसका आयाम । विस्तार यो. ५००; ५०० ÷ ५० = १० यो. उसका अवगाह ।] हिमवान् और शिखरी पर्वतोंपर स्थित द्रहोंका आयाम एक हजार योजन और विष्कम्भ पांच सौ योजन प्रमाण है । इसके आगे महाहिमवान् और रुक्मि [आदि] पर्वतोंपर स्थित द्रहोंका आयाम व विष्कम्भ उत्तरोत्तर दूना दूना है ॥ ७३ ॥ द्रहके मध्यमें जलसे दो कोश ऊंचा तथा मध्यमें दो कोश व अन्तमें दो (१ + १) कोश, इस प्रकारसे चार कोश विस्तीर्ण कमल है ॥ ७४ ॥ उक्त कमल वैडूर्यमणिमय निर्मल नाल और ग्यारह हजार उत्तम पत्रोंसे युक्त है । द्रहके मध्यमें नवविकसित [कमलके ऊपर] श्री देवीका गृह है ॥७५॥ उत्तम कमलकलिकाके ऊपर स्थित उक्त भवनका द्वार वैडूर्यमणिमय कपाटों व तोरणोंसे युक्त तथा कूटागार (शिखराकार गृह) व बहुमूल्य लम्बी उत्तम पुष्पमालाओंसे सहित है ॥ ७६ ॥ वह भवन एक कोश आयामवाला, अर्ध कोश विस्तीर्ण और देशोन (पादोन) एक कोश (¾) ऊंचा है ॥ ७७ ॥ द्रहोंमें फूले हुए इन कमलोंपर सदा श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी, ये देवकन्यायें निवास करती हैं ॥ ७८ ॥ दक्षिण द्रहोंके पद्मोंपर स्थित देवियां सौधर्म इन्द्रकी, और उत्तर द्रहोंमें निवास करनेवाली देवियां ईशान इन्द्रकी जानना चाहिये ॥ ७९ ॥ पद्मोंपर उत्पन्न ये देवियां नीलोत्पलके समान निश्वासवाली, अभिनव

---

१ उ प व मह, श मुह. २ उ श देधूण. ३ उ श फुल्लेसु. ४ प-वप्रयोरेतस्या गाथायाः पूर्वोत्तरार्द्धयोर्व्यत्ययो दृश्यते ।

णीलुप्पलणीसासा अहिणवलावण्णरूवसंपण्णा । दंसणसुहवसुहारा[1] णिम्मलेवरकणयसंकासा ॥ ८०
सुकुमारपाणिपादा आहरणविहूसिया मणभिरामा । कोइलमहुरालावा कलगुणविण्णाणसंपण्णा ॥ ८१
हंसवहुगमणदच्छी पीणोरुपओहरा धवलणेत्ता । संपुण्णचंदवयणा णववियसियकमलगंधड्ढा ॥ ८२
सुकुमारवरसरीरा भिण्णंजणणिद्धणीलवरकेसा । वियडणियंबमणोहरथणभरभज्जंतवरमज्झा ॥ ८३
पलिदोवमाउठिदिया विज्जाहरसुरणराण मणखोहा । पउमेसु समुप्पण्णा महिलाधम्मेण उप्पण्णा[4] ॥ ८४
सिरियादिदेवीणं परिवारगणाणं पउमवरभवणा । लक्खं चत्तसहस्सा सदं च पण्णरस परिसंखा ॥ ८५
सव्वाणं देवीणं तिण्णेव हवंति ताण सुरपरिसा । सत्ताणीया य तहा देवा वररूवसंपण्णा[5] ॥ ८६
अब्भंतरपरिसाणं आइच्चो सुरवरो हवे पमुहो । बहुविहदेवसमग्गो ओलग्गइ सददकालं[6] सो ॥ ८७
संणद्धबद्धकवओ उप्पीलियसारपट्टिया मज्झे । धणुफलहसत्तिहत्थो सूरसमत्थो मदिपगब्भो[7] ॥ ८८
पजलंतमहामउओ वरहारविहूसिओ विउलवच्छो । कडिसुत्तकडयकोंडलवत्थादिअलंकियसरीरो ॥ ८९

लावण्यमय रूपसे सम्पन्न, देखनेमें सुभग व सुखकर, निर्मल एवं उत्तम सुवर्णके सदृश प्रभावाली, सुकुमार हाथ-पैरोंवाली आभरणोंसे विभूषित, मनको अभिराम, कोयलके समान मधुरभाषिणी; कलाओं, गुणों एवं विज्ञानसे सम्पन्न, हंसवधू (हंसी) के समान गमनमें दक्ष, स्थूल जंघा व पयोधरोंसे सहित, धवल नेत्रोंवाली, सम्पूर्ण चन्द्रके समान मुखसे सहित, नव विकसित कमलके गन्धसे व्याप्त, सुकुमार उत्तम शरीरवाली, भिन्न अंजनके समान स्निग्ध उत्तम नीले केशोंवाली, विशाल नितम्ब एवं मनोहर स्तनोंके भारसे भंग होनेवाले मध्य भागसे संयुक्त, एक पल्योपम प्रमाण आयुस्थिति-से संयुक्त, विद्याधर, देव एवं मनुष्योंके मनको क्षोभित करनेवाली, और महिलाधर्मसे युक्त होती हैं ॥ ८०-८४ ॥ श्री आदि देवियोंके परिवारगणोंके कमलोंपर स्थित उत्तम भवन एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह (१४०११५) हैं ॥ ८५ ॥ सब देवियोंके तीन सुरपरिषत् तथा उत्तम रूपसे सम्पन्न सात अनीक देव होते हैं ॥ ८६ ॥ अभ्यन्तर पारिषदोंका प्रमुख आदित्य नामक उत्तम देव होता है । वह बहुत प्रकारके देवोंसे युक्त होकर सतत काल [श्री देवीकी] सेवा करता है ॥ ८७ ॥ वह आदित्य देव युद्धके लिये तत्पर होकर कवचको बांधे हुए, मध्यमें कसकर श्रेष्ठ पट्टिकाको बांधनेवाला, हाथमें धनुष, पटा (या धनुषफलक) एवं शक्तिको लिये हुए, शूरोंमें समर्थ, मतिप्रगल्भ (बुद्धिमान्) प्रकाशमान महा मुकुटसे सहित, उत्तम हारसे विभूषित, विशाल वक्षस्थल से संयुक्त; तथा कटिसूत्र, कटक, कुण्डल, एवं वस्त्रादिसे अलंकृत शरीरसे युक्त

---

१ प-ब दंसणसुहवसुहगारा. २ उ प ब श दच्छा. ३ उ श उप्पणा. ४ प ब गणणा. ५ उ श संपुणा. ६ प ब उलग्गइ सदकालं, ७ ब मदियगञ्जो, श मदियगम्भो.

करवालकोंतकप्परणाणाविहपहरणेहिं हत्थेहिं । तियसेहिं समाजुत्तो आणं सिरसा पडिच्छेइ ॥ ९०
बत्तीससहस्साणं देवाणं सामिओ महासत्तो । अच्छरबहुपरिवारो भिच्चो सो पउमदेवीए ॥ ९१
दक्खिणपुव्वदिसाए तस्स दु भवणाणि होंति दहमज्झे । बत्तीससहस्साइं य पउमिणिमज्झम्मि णेयाणि ॥९२
मज्झिमपरिसाण पहू चंदो णामेण णिग्गयपयाओ । चालीससहस्साणं देवाणं होइ सो राया ॥ ९३
वरमउडकुंडलधरो उत्तममणिरयणपवरपालंबो । कडिसुत्तकणयकंठावरहारविहूसियसरीरो ॥ ९४
असिपरसुकणयमुग्गरभुसुंडिमुसलादिसाउहकरेहिं । देवेहिं समाजुत्तो[2] ओलग्गइ साणुराएण ॥ ९५
दक्खिणदिसाविभागे[3] भवणाणि हवंति तस्स जलमज्झे । चालीससहस्साणि य दरवियसियकमलगब्भेसु ॥९६
बाहिरपरिसाहिवई जदु[4] त्ति णामेण णिग्गयपयावो । अडदालीससुराणं सहस्सगुणिदाण सो सामी ॥ ९७
पजलंतवरतिरीडो णाणामणिविप्फुरंतमणिमउडो । आलुलिय[5]धवलणिम्मलचलंतमणिकुंडलाभरणो ॥ ९८
कोदंडदंडसब्बलभिंडीवालादियाहि हत्थाहि । असुरेहिं समाजुत्तो[6] अच्छइ[7] आणं पडिच्छंतो ॥ ९९

होकर हाथोंमें तलवार कुन्त, खप्पर एवं अन्य नाना प्रकारके आयुधोंसे युक्त हाथोंवाले देवों (अंगरक्षकों) से युक्त होकर आज्ञाको सिरसे ग्रहण करता है ॥ ८८-९० ॥ बत्तीस हजार देवोंका स्वामी, महाबलवान् और अप्सराओंके बहुत परिवारसे सहित वह पद्मवासिनी श्री देवीका भृत्य (सेवक) है ॥ ९१ ॥ द्रहके भीतर दक्षिण-पूर्व दिशा (आग्नेय) में पद्मिनियों-के मध्यमें उसके बत्तीस हजार भवन जानना चाहिये ॥ ९२ ॥ मध्यम पारिषदोंका प्रभु प्रतापी चन्द्र नामक देव है जो चालीस हजार देवोंका स्वामी होता है ॥ ९३ ॥ उत्तम मुकुट व कुण्डलोंका धारक, उत्कृष्ट मणि एवं रत्नोंके श्रेष्ठ प्रालंब (गलेका भूषणविशेष) से सहित; कटिसूत्र, कटक, कंठा और उत्तम हारसे विभूषित शरीरवाला वह चन्द्र देव असि, परशु, बाण, मुद्गर, भुशुण्डि एवं मूसल आदि आयुधोंसे युक्त हाथोंवाले देवोंसे युक्त होकर अनुरागपूर्वक श्री देवीकी सेवा करता है ॥ ९४-९५ ॥ उसके दक्षिणदिशा भागमें जलके मध्यमें किंचित् विकसित कमलोंके मध्यमें चालीस हजार भवन हैं ॥ ९६ ॥ बाह्य परिषदोंका अधिपति जो प्रतापी जतु नामक देव है वह अड़तालीस हजार देवोंका स्वामी होता है ॥ ९७ ॥ प्रकाशमान उत्तम किरीटसे सहित, नाना मणियोंसे दैदीप्यमान उत्तम मणिमय मुकुटसे अलंकृत, आलोडित धवल निर्मल एवं चंचल मणि-मय कुण्डल रूप आभरणोंसे सुशोभित वह जतु नामक प्रधान देव कोदण्ड, दण्ड, शर्वल (कुन्त, बर्छी या सब्बल) और भिन्दिपाल आदि अस्त्रोंसे युक्त हाथोंवाले देवोंसे युक्त होकर आज्ञाकी प्रतीक्षा करता हुआ स्थित रहता है ॥ ९८-९९ ॥ सरोवरके बीच दक्षिण-

---

१ श पक्कर. २ उ समाज्जुत्तो, ब समाजुत्ता, श समाहुत्तो. ३ उ दिसाविभागो, श दिसो विभागो. ४ उ °पारिसाहिवइ जदु, प ब परिसाणहवई जदु, श पारिसाविइयावो जदु. ५ उ श आलुलिद. ६ उ समाज्जुत्तो, श समाहुत्तो. ७ श अच्छायि.

दक्खिणपच्छिमकोणे भवणाणि हवंति तस्स सरमज्झे । अडदालीसाणि तहा सहस्सगुणिदाणि कमलेसु ॥ १००
गयवरतुरयमहारहगोवइगंधव्वणट्टदासा ये[1] । सत्ताणीया णेया सत्ताहिं कछाहिं संजुत्ता ॥ १०१
उत्तुंगदंतमुसला अंजणगिरिसंणिभा[2] महाकाया । महुपिंगणयणजुयला[3] सुरिंदधणुसंणिभा[4] पट्ठा ॥ १०२
पगलंतदाणगंडा वियडघडा[5] गुलुगुलंतगज्जंता । हत्थिघडाणं सेण्णं[6] सत्तहि[7] भागेहि संजुत्तं[8] ॥ १०३
पढमे भागम्मि गया जे दिट्ठा ते हवंति दुगुणा दु । बिदिए भागे णेया गयसेण्णं होइ देवाणं ॥ १०४
एवं दुगुणा दुगुणा सत्त विभागा समासदो णेया । सत्तण्हं अणियाणं एसेव कमो मुणेयव्वो ॥ १०५
वग्गंततुरंगेहि य वरचामरमंडिएहिं दिव्वेहिं । अस्साणं[9] वरसेण्णं सत्तहि भागेहि णिद्दिट्ठं[10] ॥ १०६
मणिरयणमंडिएहि य पडायणिवहेहिं धवलछत्तेहिं[11] । सत्तहिं कच्छेहिं तहा रहवरसेण्णं वियाणाहि ॥ १०७
ककुदखुरसिंगलंगुलभासुरकाएहि[13] दिव्वरूवेहिं[14] । सत्तविभागेहि तहा गोवइसेण्णं वि णिद्दिट्ठं ॥ १०८
महुरेहि मणहरेहि य सत्तस्सरसंजुदेहि गिज्जंतं[15] । गंधव्वाणं सेण्णं सत्तहि कच्छेहि संजुत्तं ॥ १०९

पश्चिम कोणमें कमलोंपर उसके अड़तालीस हजार भवन हैं ॥ १०० ॥ उत्तम गजेन्द्र, तुरग, महा रथ, गोपति (वृषभ), गन्धर्व, नर्तक और दास, ये सात कक्षाओंसे संयुक्त सात सेनायें जानना चाहिये ॥ १०१ ॥ उपर्युक्त गजराज उन्नत दांत रूपी मूसलोंसे सहित, अंजनगिरिके सदृश, महाकाय, मधु जैसे पीतवर्ण नेत्रोंसे युक्त, इन्द्रधनुषके सदृश पृष्ठवाले, गण्डस्थलोंसे बहते हुए मदसे संयुक्त तथा विशाल हाथियोंके समूहमें गुल-गुल गर्जना करनेवाला हस्ति सैन्य सात भागोंसे युक्त होता है ॥ १०२–१०३ ॥ देवोंकी हस्तिसेनाके जितने हाथी पहिले भागमें कहे गये हैं, उनसे दूने वे द्वितीय भागमें जानना चाहिये । इस प्रकार देवोंकी गजसेना आगे आगेके भागोंमें दूनी दूनी होती जाती है ॥ १०४ ॥ इस प्रकार संक्षेपसे सात विभाग दूने-दूने जानना चाहिये । सातों अनीकोंका यही क्रम जानना चाहिये ॥ १०५ ॥ उत्तम चामरोंसे मण्डित होकर गमन करते हुये दिव्य तुरंगोंसे अश्वोंकी उत्तम सेना सात भागोंसे युक्त निर्दिष्ट की गई है ॥ १०६ ॥ मणि एवं रत्नोंसे मण्डित पताकासमूहों और धवल छत्रोंसे युक्त सात कक्षावाली रथोंकी सेना जानना चाहिये ॥ १०७ ॥ ककुद, खुर, सींग और पूंछसे शोभायमान शरीरवाले तथा दिव्य रूपसे युक्त बैलोंकी सेना भी सात विभागोंसे युक्त कही गई है ॥ १०८ ॥ मधुर व मनोहर सात स्वरोंसे संयुक्त गाती हुई गन्धर्वोंकी सेना सात कक्षाओंसे युक्त होती है ॥ १०९ ॥ अतिशय रूपवाले तथा आभरणोंसे विभूषित

---

१ उ श वासा य, प ब दासा या. २ प सणिना, ब सणिण. ३ श महुपिंगलयणहुयला. ४ उ श सन्निभा. ५ प वियडघड, ब वियडघड्डु. ६ प ब सेणा. ७ श सत्तिहिं. ८ उ संब्जुत्तं, प ब संजुत्ता, श संदुत्तं. ९ उ श आस्साण. १० श °सेण्णं वियाणाहि णिद्दिट्ठो. ११ उ मंडियपडाय, श मंडिए पडाय. १२ प ब धवलछण्णेहि. १३ उ श सिंग. १४ उ श दिघरूवेहि. १५ उ श गिज्झंतं.

अदिसयरूवाण[1] तहा आभरणविहूसिदाण देवाणं । णच्चणगायणसेण्णं सत्तहि भागेहि णिद्दिट्ठं ॥ ११०
दासीदासेहि तहा वंठादियविविहरूवभिच्चेहि । होइ तह दाससेण्णं[2] सत्तहि कच्छाहि संजुत्तं ॥ १११
पच्छिमदिसाविभागे सरवरमज्झम्मि[4] सररुहेसु तहा[5] । सत्तेव य वरगेहा सत्ताणीयाण[6] णिद्दिट्ठा ॥ ११२
सामाणिओ सुरिंदो आभरणविहूसिओ परमरूवो । चत्तारिसहस्साणं देवाणं अहिवई धीरो ॥ ११३
संपुण्णचंदवयणो पलंबबाहू य सव्वसव्वंगो । णीलुप्पलणीसासो अहिणवकणियारसंकासो ॥ ११४
पच्छिमउत्तरभागे उत्तरभागे य पुव्वउत्तरदो[8] । तह चत्तारिसहस्सा तस्स गिहा होंति पउमेसु[9] ॥ ११५
दिव्वामलदेहधरा दिव्वाभरणेहि भूसियसरीरा । मणिगणजलंतमउडा वरकुंडलमंडियागंडा ॥ ११६
सिंहासणमज्झगया वरचामरविज्जमाण बहुमाणा । धवलादवत्तचिण्हा चदुदेवसहस्सपरिवारा ॥ ११७
सिरिदेविपादरक्खा चउरो य हवंति तेजसंपण्णा । बहुविहजोहेहिं समग्गा ओलग्गंता परिचरंति ॥ ११८
भवणाणि ताण[11] हुंति हु चदुसु वि य दिसासु पउमकुलेसु[12] । पत्तेयं पत्तेयं चदुरो चदुरो सहस्साणि ॥ ११९

....

नर्तकों व गायकोंकी सेना सात भागोंसे युक्त कही गई है ॥ ११० ॥ दासी-दासों तथा वंठ (वामन या अविवाहित) आदि विविध प्रकारके स्वरूपवाले भृत्योंसे संयुक्त दासोंकी सेना सात कक्षाओंसे युक्त होती है ॥ १११ ॥ सरोवरके बीच पश्चिम दिशा-भागमें कमलोंके ऊपर सात अनीकोंके सात ही उत्तम गृह निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ ११२ ॥ आभरणोंसे विभूषित, धीर और उत्तम रूपवाला सामानिक सुरेन्द्र चार हजार देवोंका अधिपति होता है ॥ ११३ ॥ उक्त सुरेन्द्र पूर्ण चन्द्रके समान मुखवाला, लम्बे बाहुओंसे सहित, स्वस्थ सब अवयवोंसे सुशोभित, नीलोत्पलके समान निश्वाससे युक्त और नवीन कनेरपुष्पके सदृश होता है ॥ ११४ ॥ पश्चिम-उत्तर भाग (वायव्य), उत्तरभाग तथा पूर्व-उत्तर भाग (ईशान) में पद्मोंके ऊपर उसके चार हजार गृह हैं ॥११५॥ दिव्य व निर्मल देहके धारक, दिव्य आभरणोंसे भूषित शरीरवाले, मणिसमूहसे चमकते हुए मुकुटसे शोभायमान, उत्तम कुण्डलोंसे मण्डित कपोलोंसे संयुक्त, सिंहासनके मध्यमें स्थित, उत्तम चामरोंसे वीज्यमान, बहुमानी, धवल आतपत्र रूप चिह्नसे सहित, चार हजार परिवार देवोंसे संयुक्त, श्री देवीके चरणोंकी रक्षा करनेवाले, तेजस्वी, तथा बहुत प्रकारके योद्धाओंसे सहित वे देव श्री देवीकी सेवा करते हुए परिचर्या करते हैं ॥११६-१८॥ उनमेंसे प्रत्येकके चारों दिशाओंमें कमलपुष्पोंके ऊपर चार चार हजार भवन हैं ॥ ११९ ॥

....

१ उ श अदियसतूवाण. २ अतोऽग्रे बगतो ' रूवासिक्केहिं । होइहदाहा सत्तेव पवरगेहा सत्ताणायाणि णिद्दिट्ठा ॥ ' एवंविधः पाठः । ३ श होइ सदाइसेणं. ४ बप्रतावतोऽग्रे ' सररुहेसु तहा सत्ताणीयाणि णिद्दिट्ठा ॥ ' इति पाठः । ५ श सररुहेसत्तहेसत्ता. ६ उ प ब श सत्ताणीयाणि. ७ उ प ब श वणियारि. ८ उ श पच्छिमउत्तरभागे य पुव्वउत्तरदो. ९ प ब तस्स हि गिहा होंति णियमेसु. १० ब जोग. ११ उ प ब श ताणि. १२ उ पउमकुलेसु, श पउपकुलेसु.

कुंदेंदुसंखहिमचयणिम्मलवरहारभूसियावच्छा[1] । मणिगणकरओहामियदिणयरकरकुंडलाभरणा ॥ १२०
अट्ठोत्तरसयसंखा पडिहारा मंतिणो य दूदा य[2] । बहुपरिवारा धीरा उत्तमरूवा विणीदा य ॥ १२१
भवणाणि ताणं[3] दिट्ठा दहमज्झे हुंति पउमगब्भेसु । अट्ठोत्तराणि णेया सदाणि दिसविदिसभागेसु ॥ १२२
सव्वाणि वरघराणि[4] य तोरणपायारसरवरादीणि । पउमिणिसंडाणि तहा अणाइणिहणाणि जाणाहि ॥ १२३
भवणाणि वि णायव्वा[5] कंचणमणिरयणवज्जमइयाणि । गहिंदणीलमरगयदिणयरससिकिरणणिवहाणि ॥ १२४
भवणेसु तेसु णेया पुव्वक्कयसुकयकम्मजोगेण । उप्पज्जंति हु देवा देवीओ दिव्वरूवाओ ॥ १२५
एयं[7] च सयसहस्सा[8] चालीससहस्स हुंति णिद्दिट्ठा[9] । एयं च सयं णेया सोलस कमलाण परिसंखा ॥ १२६
विक्खंभुच्छेहादी पउमाणं दुगुणदुगुणवड्ढी दु । हिमवंतादो णेया जाव दु णिसहो गिरिंदो य ॥ १२७
जंबूदुमेसुं[10] एवं परिसंखा होंति जंबुगेहाणं । णवरि विसेसो जाणे चत्तारिदुमाहिया जंबू ॥ १२८
जंबूदुमाहिवस्स[11] दु चत्तारि हवंति तस्स महिसीओ । चत्तारि जंबुगेहा देवीणं होंति णिद्दिट्ठा ॥ १२९

कुन्दपुष्प, चन्द्रमा एवं हिमसमूहके समान स्वच्छ उत्तम हारसे भूषित वक्षस्थलवाले, मणिसमूहकी किरणोंसे सूर्यकिरणोंको तिरस्कृत करनेवाले कुण्डलोंसे अलंकृत, बहुत परिवारवाले, धीर, उत्तम रूपसे युक्त और विनयको प्राप्त हुए ऐसे एक सौ आठ प्रतीहार, मंत्री व दूत होते हैं ॥१२०-१२१॥ द्रहके मध्यमें दिशा-विदिशा भागोंमें पद्मोंके बीचमें उनके एक सौ आठ भवन निर्दिष्ट किये गये जानना चाहिये ॥ १२२ ॥ सब उत्तम घर, तोरण, प्राकार, सरोवरादिक तथा पद्मिनी-खण्ड अनादि निधन हैं, ऐसा जानिये ॥ १२३ ॥ ये भवन सुवर्ण, मणि, रत्न एवं वज्रसे निर्मित और इन्द्रनील, मरकत, सूर्यकान्त व चन्द्रकान्त मणियोंके समूहसे संयुक्त हैं ॥ १२४ ॥ उन भवनोंमें पूर्वकृत पुण्य कर्मके योगसे दिव्य रूपवाले देव और देवियां उत्पन्न होतीं हैं ॥ १२५ ॥ उन कमलोंकी संख्या एक लाख चालीस हजार एक सौ सोलह (१ + ३२००० + ४०००० + ४८००० + ७ + ४००० + १६००० + १०८ = १४०११६) जानना चाहिये ॥ १२६ ॥ हिमवान्‌से लेकर निषध पर्वत पर्यन्त कमलोंके विष्कम्भ व उत्सेधादिकोंमें दुगुणी दुगुणी वृद्धि जानना चाहिये ॥ १२७ ॥ इसी प्रकार जम्बू वृक्षोंके ऊपर जम्बूगृहोंकी भी संख्या है । यहां केवल इतना विशेष जानना चाहिये कि जम्बू वृक्ष चार वृक्षोंसे अधिक हैं ॥ १२८ ॥ जो देव जम्बू वृक्षका अधिपति है उसकी चार पट्टदेवियां हैं । उन देवियोंके चार जम्बू वृक्ष निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ १२९ ॥ इस

---

१ उ हिम्मरयणिम्मल, श हिम्मरयणिमाल. २ उ प ब य पहुदा य, श य पहुदा या. ३ ब श ताणि. ४ उ सधाणि वरव्वराणि, श सयाणि वरव्वराणि. ५ श वियाणव्वा. ६ उ मज्ज, श मग्ग. ७ प ब एवं. ८ श सहसहस्सा. ९ उ श होंति ति णिदिट्ठा. १० उ श जंबूदुमेष. ११ उ प ब श जंबूदुमाविवस.

एदेण कारणेण य चदुसहिया[1] होंति जंबुगेहाणि । जह वण्णणा सरस्स[2] दु तह जंबुदुमस्स[3] णिद्दिट्ठा ॥ १३०
उणवीसा एयसयं चालीससहस्स तह य जंबुघरा[4] । एयं च सयसहस्सं जंबुस्स दु होंति परिवारा ॥ १३१
वीसहियसयं णेया चालीससहस्स एगलक्खं च । जंबूदुमपरिसंखा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥ १३२
जावदिय जंबुभवणा जावदिया तह य पउमवरभवणा । तावदिया णिद्दिट्ठा जिणभवणा होंति रयणमया ॥ १३३
जावदिय जंबुगेहा णाणाविहकणयरयणपरिणामा । तावदिया णायव्वा सामलिरुक्खाण परिगेहा ॥ १३४
णवएगएग सुण्णं चत्तारि य एग होंति परिसंखा[5] । थाणक्कमेण णेया सामलिरुक्खस्स परिवारा ॥ १३५
सुण्णदुगएक्कसुण्णं चत्तारि य एय होंति णिद्दिट्ठा । सामलितरुवर सव्वा थाणाणुक्कमेण जाणाहि ॥ १३६
एवं महाघराणं[6] परिसंखा ताण होंति णिद्दिट्ठा । खुल्लयघरणिवहाणं को वण्णइ ताण परिसंखा ॥ १३७
पुव्वाभिमुहा णेया उत्तमगेहा हवंति णिद्दिट्ठा । ताणाभिमुहा सेसा जहण्णगेहा वियाणाहि ॥ १३८
पउमेसु सामलीसु य जंबूरुक्खे य रयणपरिणामा । जिणभवणा णिद्दिट्ठा[7] अकिट्टिमा सासदसभावा ॥ १३९
भिंगारकलसदप्पणबुब्बुदघंटादिधयवडाएहिं । सोहंति जिणाण घरा मणिकंचणमंडिया दिव्वा ॥ १४०

कारण पद्मगृहोंकी अपेक्षा जम्बू वृक्ष चार अधिक हैं । जैसा वर्णन सरोवरका किया गया है वैसा ही जम्बू वृक्षका भी बतलाया गया है ॥ १३० ॥ जम्बू वृक्षके उत्तम परिवारवृक्ष एक लाख चालीस हजार एक सौ उन्नीस हैं ॥ १३१ ॥ जम्बू वृक्षोंकी संख्या सर्वदर्शियों द्वारा निर्दिष्ट एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस जानना चाहिये ॥ १३२ ॥ जितने जम्बूभवन और जितने पद्मभवन हैं उतने ही रत्नमय जिनभवन भी कहे गये हैं ॥ १३३ ॥ नाना प्रकारके सुवर्ण एवं रत्नोंके परिणाम रूप जितने जम्बूगृह हैं उतने ही शाल्मलिवृक्षोंके भी गृह जानना चाहिये ॥ १३४ ॥ नौ, एक, एक, शून्य, चार और एक (१४०११९) इस प्रकार स्थान (अंक-) क्रमसे शाल्मलिवृक्षके परिवारवृक्षोंकी संख्या जानना चाहिये ॥ १३५ ॥ शून्य, दो, एक, शून्य, चार और एक, (१४०१२०) इस प्रकार स्थान (अंक) क्रमसे सब शाल्मलिवृक्षोंकी संख्या निर्दिष्ट की गई जानना चाहिये ॥ १३६ ॥ इस प्रकार इन महागृहोंकी संख्या निर्दिष्ट की है । उनके क्षुद्र घरोंके समूहोंकी संख्याका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ १३७ ॥ उत्तम गृह पूर्वाभिमुख निर्दिष्ट किये गये हैं । शेष जघन्य गृह उनके सम्मुख जानना चाहिये ॥ १३८ ॥ पद्मों, शाल्मलिवृक्षों और जम्बूवृक्षोंके ऊपर रत्नोंके परिणाम रूप अकृत्रिम और शाश्वत स्वभाववाले जिनभवन निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ १३९ ॥ मणियों और सुवर्णसे मण्डित ये दिव्य जिनभवन भृंगार, कलश, दर्पण, बुद्बुद, घंटादिक एवं ध्वजा-पताकाओंसे शोभायमान होते हैं ॥ १४० ॥ उन जिनभवनोंमें सब उपकरणोंसे सहित जिनप्रतिमायें

१ प ब या चवुसिया. २ उ जह वण्णणा सरस्स, ब जह वण्णणा सहस्स, श जह म वण्णणा सहस्स. ३ उ जंबुसरस्स, ब जंब्बुदुमस्स. ४ उ प ब जबुघरा, श जंबुघरा. ५ उ श य एगाइग परिसंखा. ६ उ श महाव्वराणं. ७ उ श णद्दिट्ठा, ब णिद्दिट्ठा.

वरचामरभामंडलछत्तत्तयकुसुमवरिसणिवहेहिं । सव्वोवकरणसहिया जिणपडिमाओ विरायंति ॥ १४१
उववादघरा णेया अहिसेयघरा य मंडणघरा य । अत्थाणघरा विउला गब्भघरा[1] कीडणघरा य ॥ १४२
णाडयघरा विचित्ता वरतूरमुइंगसद्दगंभीरा । मोहणघरा विसाला कालागरुसुरहिगंधड्ढा ॥ १४३
डोलाघरा य रम्मा णाणामणिविप्फुरंतकिरणोहा । संगीयघरा तुंगा सभाघरा होंति रमणीया ॥ १४४
एवं अवसेसाणं दीवाणं सुरवराण[2] पउमेसु । जंबूसु सामलीसु य संखापरिमाण णिद्दिट्ठा ॥ १४५
पउमस्स सिहरिजस्स य[3] तिण्णेव महाणदी समुद्दिट्ठा । अवसेसाण दहाणं सरियाओ होंति दो दो दु ॥ १४६
गंगा पउमदहादो णिस्सरिदूणं तु तोरणदुवारे । पुव्वाभिमुहेण गया[4] पंचेव य जोयणसदाणि ॥ १४७
गंगाकूडमपत्ता जोयणअद्धेण[5] दक्खिणे वलिया । पंचेव जोयणसया तेवीसा अद्धकोसधिया ॥ १४८
हिमवंतअंतमणिमयवरकूडमुहम्मि वसहरूवम्मि[6] । पविसित्तु पडइ धारा सयजोयणतुंगससिधवला ॥ १४९

उत्तम चामर, भामंडल, तीन छत्र और कुसुमवृष्टिके समूहोंसे विराजमान हैं ॥ १४१ ॥ उक्त जिनभवनोंमें विशाल उपपादगृह, अभिषेकगृह, मण्डनगृह, आस्थानगृह, गर्भगृह और विस्तृत क्रीडागृह जानना चाहिये । इनके अतिरिक्त उत्तम तूर्य एवं मृदंगके शब्दसे गंभीर विचित्र नाटक गृह, कालागरुकी सुगन्धसे व्याप्त विशाल मोहनगृह (मैथुनगृह), नाना मणिओंके प्रकाशमान किरणसमूहसे युक्त रमणीय दोलागृह, उन्नत संगीतगृह और रमणीय सभागृह भी होते हैं ॥ १४२–१४४ ॥ इसी प्रकार अवशेष द्वीपोंके पद्मों, जम्बूवृक्षों और शाल्मलिवृक्षोंपर स्थित उत्तम देवोंकी संख्याका प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है ॥ १४५ ॥ पद्म द्रह और शिखरी पर्वत पर स्थित महापुण्डरीक द्रहसे निकली हुई तीन तीन महानदियां तथा शेष द्रहोंसे निकली हुई दो दो नदियां कही गई हैं ॥ १४६ ॥ गंगानदी पद्म द्रहके पूर्व तोरणद्वारसे निकलकर पांच सौ योजन प्रमाण पूर्वकी ओर जाकर गंगाकूटको न पाकर अर्ध योजन पूर्वसे दक्षिणकी ओर मुड़ जाती है । पुनः पांच सौ तेईस योजन और अर्ध कोशसे अधिक आगे जाकर हिमवान्पर्वतके अन्तमें वृषभाकार मणिमय उत्तम कूट (नालि) के मुखमें प्रवेश करके सौ योजन ऊंचेसे चन्द्रके समान धवल गंगानदीकी धारा नीचे गिरती है ॥ १४७–१४९ ॥

विशेषार्थ— यहां पर्वतके ऊपर दक्षिणकी ओर जो गंगा नदीका $५२३\frac{१}{२}$ योजन प्रमाण जाना बतलाया गया है उसका कारण यह है कि गंगा नदी पर्वतके ठीक मध्यमेंसे जाती है । अत एव पर्वतके विस्तार ($१०५२\frac{१२}{१९}$ यो.) मेंसे नदीके विस्तार ($६\frac{१}{४}$ यो.) को घटाकर शेषको आधा करनेपर दक्षिणकी ओर जानेका उपर्युक्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है—
$१०५२\frac{१२}{१९} - ६\frac{१}{४} \div २ = ५२३\frac{२९}{१५२}$ ।

१ उ प ब श गुज्झघरा. २ प ब सरवराण. ३ उ श सिहरिजस-य. ४ श पुव्वाभिमुहे पगया. ५ उ ब श अद्व. ६ उ श तूवसवहम्मि.

छज्जोयण सक्कोसा पणालिया वित्थडा मुणेयव्वा । आयामेण य णेया वे कोसा तेत्तिया बहला ॥ १५०
सिंगमुहकण्णजीहाणयणाभूयादिएहि गोसरिसा । वसह त्ति तेण णामा णाणामणिरयणपरिणामा ॥ १५१
तत्तो दुगुणा दुगुणा पणालिया वसहरूवसंठाणा । ताव गया णायव्वा जाव दु णिसहगिरिसिहरे ॥ १५२
तत्तो अद्धद्धखया वज्जपणालीण रयणणिवहाणं । विक्खंभा आयामा बहलपमाणा समुद्दिट्ठा ॥ १५३
गंगा जम्हि दु पडिदा वंसधरादो तहिं हवे कुंडं[1] । दसजोयणावगाहं धरणितले सव्वदो वट्टं[2] ॥ १५४
सरिमुखदसगुणाविउला तस्स दु बहुदेसमज्झभागम्मि । दीवो रयणविचित्तो वित्थिण्णो जोयणा अट्ठ ॥ १५५
वज्जमयमहादीवे बेकोससमुट्ठिदे सिदंजलादो[3] । तम्हि बहुमज्झभागे णगोत्तमो होइ णिद्दिट्ठो ॥ १५६
दसजोयणउव्विद्धो[4] मूले चत्तारि जोयणायामो[5] । वे जोयण मज्झम्मि य उवरिं एगो समुद्दिट्ठो ॥ १५७
तस्स दु मज्झे दिव्वो पासादो कणयरयणपरिणामो । मणिगणजलंतखंभो गंगाकूडो त्ति णामेण ॥ १५८
बेधणुसहस्सतुंगो अड्ढादिज्जा धणूणि वित्थिण्णो । णवचंपयगंधड्ढो संपुण्णमियंककिरणोहो[7] ॥ १५९

नालीका विस्तार छह योजन एक कोश, आयाम दो कोश और इतना ही उसका बाहल्य भी जानना चाहिये ॥ १५० ॥ नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप यह नाली चूंकि सींग, मुख, कान, जिह्वा, नयन और भ्रू आदिकोंसे गौके सदृश है, इस कारण उसका नाम 'वृषभ' है ॥ १५१ ॥ इसके आगे निषध पर्वत पर्यन्त उक्त वृषभाकार नालीका विस्तारादि उत्तरोत्तर दुगुणा दुगुणा जानना चाहिये ॥ १५२ ॥ निषध पर्वतसे आगे रत्नसमूहसे निर्मित उक्त नालियोंके विष्कम्भ, आयाम और बाहल्यका प्रमाण उत्तरोत्तर आधा आधा हीन कहा गया है ॥ १५३ ॥ गंगानदी हिमवान् पर्वतसे जहां गिरी है वहां पृथ्वीतलपर सब ओरसे गोल दश योजन गहरा कुण्ड है ॥ १५४ ॥ गंगा नदीकी धारासे दशगुणे ($6\frac{1}{4} \times 10 = 62\frac{1}{2}$ यो.) विस्तारवाले उक्त कुण्डके ठीक बीचमें रत्नोंसे विचित्र आठ योजन विस्तृत द्वीप है ॥ १५५ ॥ धवल जलसे ऊपर दो कोश ऊंचे उस महा द्वीपके बहुमध्य भागमें उत्तम वज्रमय पर्वत कहा गया है ॥ १५६ ॥ यह पर्वत दश योजन ऊंचा और मूलमें चार योजन, मध्यमें दो योजन तथा ऊपर एक योजन आयाम (विस्तार) वाला कहा गया है ॥ १५७ ॥ उसके मध्य भागमें सुवर्ण व रत्नोंके परिणाम स्वरूप एवं मणिगणोंसे प्रकाशमान खम्भोंसे सहित गंगाकूट नामक दिव्य प्रासाद है ॥ १५८ ॥ नवीन चम्पककी गन्धसे व्याप्त और सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान किरणसमूहसे सहित वह प्रासाद दो हजार धनुष ऊंचा व अढ़ाई [हजार] धनुष विस्तीर्ण है [ति. प. ४-२२५ और त्रि. सा. ५८८ में इसका विस्तार मूलमें ३००० मध्यमें २००० और ऊपर १००० धनुष प्रमाण बतलाया गया है] ॥ १५९ ॥ सूर्यमण्डलके

---

१ उ कूडा, प व कूंडो, श कूडं. २ उ प वट्ठं, प व वट्ट ३ प ब समुट्ठिदो सिद°, श कोससमुट्ठिदे सिद° ४ उ उविद्धो, श विरुद्धो. ५ श जोयणायामे. ६ श ते. ७ प ब किरणेहो.

रयणमय वरदुवारो चालीसधणुप्पमाणविच्छिण्णो । आइच्चमंडलणिभो असीदिधणुउण्णओ दिव्वो ॥ १६०
वरवेदियपरिखित्ते[1] चउगोउरमंडिए परमरम्मे । दिव्ववणसंडजुत्ते गंगादेवी तहिं वसई[2] ॥ १६१
जिणपडिमासंछण्णो भवणोवरि तुंगै[3]कूडसिहरम्मि । पणुवीसविच्छडा सा गंगाधारा तहिं पडइ ॥ १६२
वरकुंडकुंडदीवा कुंडणगा कुंडविउलपासादा । दुगुणा दुगुणा णेया णिसधो त्ति धराचलो जाम[4] ॥ १६३
बे कोसा बासट्ठा पणवीस सदं दुअड्ढपंचसदं[5] । गंगादियकुंडाणं विण्णेया जोयणा होंति ॥ १६४
अट सोला बत्तीसा चउसट्ठा जोयणा हवे दीवा । दस वीसा चालीसा असीदि तुंगा तहा सेला ॥ १६५
चत्तारि अट्ठ सोलस बत्तीसा विच्छडा य मूलेसु । दोण्णि चदुरट्ठ सोलस मज्झेसु हवंति सेलाणं ॥ १६६
एय दुय चदुर अट्ठ[6] य विच्छारा होंति तुंगसिहरेसु । सरिकुंडणगाण तहा णिद्दिट्ठा होंति णियमेण ॥ १६७
पणुवीसा पण्णासा जोयणसदं[7] बेसदा समुद्दिट्ठा । गंगादीसरियाणं णेया धारा हवे रुंदा ॥ १६८
जोयणसदेक्क बे चउ हिमकुंदमुणालसंखसंकासा । दीहा धारावडणा गंगादीणं सरीणं तु ॥ १६९
सव्वे त्ति वेदिणिवहा वरतोरणमंडिया परमरम्मा । पवरच्छरेहिं[8] भरिया अच्छेरयरूवसाराहि ॥ १७०

सदृश उसका रत्नमय उत्तम दिव्य द्वार चालीस धनुष प्रमाण विस्तीर्ण और अस्सी धनुष उन्नत है ॥ १६० ॥ उत्तम वेदीसे वेष्टित, चार गोपुरोंसे मण्डित और दिव्य वनखण्डोंसे युक्त उस अतिशय रमणीय प्रासादमें गंगादेवी निवास करती है ॥ १६१ ॥ वहां भवनके ऊपर स्थित जिनप्रतिमासे युक्त उन्नत कूटशिखरपर वह गंगानदीकी धारा पच्चीस योजन विस्तृत होकर गिरती है ॥ १६२ ॥ निषधपर्वत पर्यन्त उत्तम कुण्ड, कुण्डद्वीप, कुण्डनग और विशाल कुण्डप्रासाद, ये सब दूने दूने जानने चाहिये ॥ १६३ ॥ उक्त गंगादिक कुण्डोंका विस्तार क्रमसे बासठ योजन दो कोश, एक सौ पच्चीस योजन, दो सौ व अर्ध सौ (अढ़ाई सौ) तथा पांच सौ योजन प्रमाण जानना चाहिये ॥ १६४ ॥ कुण्डस्थ द्वीपोंका विस्तार क्रमशः आठ, सोलह, बत्तीस और चौंसठ योजन; तथा उनमें स्थित शैलोंकी उंचाई क्रमशः दश, बीस, चालीस और अस्सी योजन प्रमाण है ॥ १६५ ॥ उक्त शैलोंका मूलविस्तार क्रमसे चार, आठ, सोलह और बत्तीस योजन; तथा मध्यविस्तार दो, चार, आठ और सोलह योजन है ॥ १६६ ॥ नदीकुण्डस्थ उक्त पर्वतोंका विस्तार उन्नत शिखरोंपर नियमसे एक, दो, चार और आठ योजन प्रमाण कहा गया है ॥ १६७ ॥ गंगादिक नदियोंकी धाराका विस्तार क्रमसे पच्चीस, पचास, सौ और दो सौ योजन प्रमाण जानना चाहिये ॥ १६८ ॥ हिम, कुन्दपुष्प, मृणाल और शंख जैसे वर्णवाले गंगादिक नदियोंके धारापतनोंकी दीर्घता उत्तरोत्तर एक सौ, दो सौ और चार सौ योजन प्रमाण है ॥ १६९ ॥ नदीकुण्डस्थ पर्वतोंके ऊपर स्थित सब ही प्रासाद वेदीसमूहसे सहित, उत्तम तोरणोंसे मण्डित, अतिशय रमणीय,

---

१ उ श परिखिते. २ उ श तहिं इ वसइ. ३ उ श तुरंग. ४ उ श णिसधो त्ति धराचलो जामा, प ब णिसधधराचलो जाम. ५ उ श सदं दुअद्धसदा, ब सदंद्धपंचसदा. ६ उ एय दुय चदु अट्ठ, श एय ष दुय चदु अट्ठ. ७ प ब दस. ८ उ प ब श पवरंछरेहिं.

णिच्चं मणोहिरामा अच्छेरयरूवसारसंठाणा । पुप्फोवयारपउरा वंदणमालुज्जलसिरीया ॥ १७१
णिवडंतसलिलपउरा सियचामरहारतारसंकासा । लंबंतरयणमाला मणिकमलकदच्चणसणाहा ॥ १७२
घंटोकिंकिणिणिवहा जलधारापायजणियझंकारा । जिणसिद्धबिंबणिवहा सरिकुंडणगाण पासाया ॥ १७३
णीसरिदूण य गंगा कुंडदुवारेण दक्खिणाभिमुही । वेदड्ढगुहामज्झे पुव्वसमुद्दे अणुप्पत्ता[1] ॥ १७४
मणिमंडियाण णेया वइंजदमसारगल्लमइयाणं । वरतोरणाणं हेट्ठा[7] बिलेण पइसंति सरियाओ[8] ॥ १७५
तेणउदिजोयणाइं उत्तुंगो विविहरयणसंछण्णो । तिण्णेव हवे कोसा परिसंखा तस्स जाणीहि ॥ १७६
बे कोसा बासट्ठा विस्थारो तोरणे[10] समुद्दिट्ठो । बे कोसा अवगाढो बे कोसा[11] होइ बहुलेण ॥ १७७
अवसेसतोरणाणं णिम्मलमणिकणयरयणणिवहाणं । दुगुणा दुगुणा णेया वित्थारो जाम सीदोदा[12] ॥ १७८
गंगासिंधूतोरण बासट्ठी जोयणा दु बे कोसा । भरहम्मि समुद्दिट्ठा लवणसमुद्दप्पवेसेसु[13] ॥ १७९
रोहीरोहिदतोरण पणुवीस सदाणि जोयणपमाणा । हेमवदे वित्थिण्णा सायरसलिलप्पवेसेसु ॥ १८०

आश्चर्यजनक उत्तम रूपवाली अप्सराओंसे परिपूर्ण, सदा मनको रमानेवाले, आश्चर्यजनक श्रेष्ठ रूप व आकृतिसे सहित, प्रचुर पुष्पोंके उपचारसे सहित, वन्दनमालाओंसे उज्ज्वल शोभाको प्राप्त, गिरते हुए प्रचुर जलसे संयुक्त; धवल चामर, हार व मोती (या तारा) के सदृश; लम्बायमान रत्नमालाओंसे युक्त, मणिमय कमलोंसे की गई पूजासे सनाथ, घंटा व किंकिणियोंके समूहसे सहित, जलधाराके पातसे उत्पन्न हुए झंकारसे परिपूर्ण, तथा जिन एवं सिद्धोंकी प्रतिमाओंके समूहसे युक्त हैं ॥ १७०-१७३ ॥ गंगानदी गंगाकुण्ड-द्वारसे निकलकर दक्षिणाभिमुख होती हुई वैताढ्य पर्वतकी गुफाके मध्यमेंसे पूर्व समुद्रको प्राप्त होती है ॥ १७४ ॥ गंगादिक नदियां मणियोंसे मण्डित और वज्र, इन्द्र [-नील] एवं मसारगल्ल (एक रत्नजाति) से निर्मित उत्तम तोरणोंके नीचे बिलमेंसे समुद्रमें प्रवेश करती हैं ॥ १७५ ॥ विविध रत्नोंसे व्याप्त उस तोरणकी ऊंचाईका प्रमाण तेरानबै योजन और तीन कोश जानना चाहिये ॥ १७६ ॥ उक्त तोरणका विस्तार बासठ योजन दो कोश, अवगाह दो कोश और बाहल्य दो कोश प्रमाण है ॥१७७॥ सीतोदा पर्यन्त निर्मल मणि, सुवर्ण एवं रत्नोंके समूह रूप सेस तोरणोंका विस्तार उत्तरोत्तर दूना दूना जानना चाहिये ॥७८॥ भरत-क्षेत्रमें गंगा और सिन्धुके तोरण लवणसमुद्रके प्रवेशमें बासठ योजन और दो कोश प्रमाण विस्तीर्ण कहे गये हैं ॥ १७९ ॥ हैमवतक्षेत्रमें रोहित् व रोहितास्याके तोरण लवणसमुद्रके प्रवेशमें एक सौ पच्चीस योजन प्रमाण विस्तीर्ण हैं ॥ १८० ॥ हरिवर्ष क्षेत्रमें हरित् व हरि-

---

१ उ प ब श पवरच्छेरेहि. २ उ व्वंटा, श व्वंबा. ३ उ श धाराधाय, प ब धाराधाय. ४ उ श सिरि. ५ ब अणुपत्ता, श अणुप्पत्त. ६ प तोरणेण, ब तोरणण. ७ उ श हिट्ठा. ८ श परियाओ. ९ उ श °जोयणाइं विविह, ब °जोयणाइं उत्तंगो विविह. १० प ब तोरणो. ११ श अवगादो सा. १२ ब श सीदोदा. १३ उ प ब श समुद्दापवेसेसु.

हरिहरिकंतातोरण वेसदपण्णासजोयणपमाणा । हरिवरिसे वित्थिण्णा लवणसमुद्दप्पवेसेसु ॥ १८१
सीदासीदोदाणं तोरणदारा हवंति वित्थिण्णा । पंचेव जोयणसदा विदेहमज्झम्मि लवणंते ॥ १८२
लंबंतरयणपउरा मुत्तादामेहि मंडिया दिव्वा । णाणापडायमाला पवणपणच्चंतसोहाहिं[1] ॥ १८३
चामरघंटाकिंकिणि[2]वंदणमालाहिं सोहिया पवरा । भिंगारकलसदप्पणचामीयरकमलकयसोहा ॥ १८४
मणिसालहंजिगपवरकणयमया[3]सीहवालयसणाहा । वरचामरादि[4]सहिया जिणपडिदविहूसिया रम्मा ॥ १८५
वज्जिदणीलमरगयकक्केयणपुस्सरागपरिणामा । कंचणपवालणिवहा तोरणदारा समुद्दिट्ठा ॥ १८६
मेहलकला[5]वमणिगणकरणियरविभिण्ण[6]अंधयाराओ । कडिसुत्तकडयकुंडलवरहारविहूसियंगीओ ॥ १८७
लायण्णरूवजोव्वणबहुगुणसंदोहसुव्वहंतीओ । कलरडिदमिदु[7]पजंपियदसणुज्जलचंदधवलाओ ॥ १८८
दिणयरकरणियराहयविभिण्णसयवत्तगब्भगउराओ । सरसमयमेघविरहियसंपुण्णमियंकवयणाओ ॥ १८९
उण्णयपीणपओहर[8]उवरिविरायंतचारुहाराओ । ससिदलिदकुमुदकुवलयवियसियसयवत्तणेत्ताओ ॥ १९०
धम्मेण होंति ताओ देवीओ तोरणाण रम्माओ । मणिमयपासादेसु य णाणामणिविप्फुरंतकिरणेसु ॥ १९१

कान्ताके तोरण लवणसमुद्रके प्रवेशमें दो सौ पचास योजन प्रमाण विस्तीर्ण हैं ॥ १८१ ॥ विदेहके मध्यमें सीता-सीतोदाके तोरणद्वार लवणसमुद्रके समीप पांच सौ योजन प्रमाण विस्तीर्ण हैं ॥ १८२ ॥ उक्त तोरणद्वार लम्बायमान प्रचुर रत्नोंसे सहित, मुक्तामालाओंसे मण्डित, दिव्य, पवनसे प्रेरित होकर आकाशमें नाचनेवाली नाना पताकाओंके समूहों और चामर, घंटा, किंकिणी व वन्दनवारोंसे शोभित; श्रेष्ठ; भृंगार, कलश, दर्पण व सुवर्णकमलोंसे शोभायमान; मणिमय शालभंजिका (पुतली) एवं श्रेष्ठ सुवर्णमय सिंहव्यालकोंसे सनाथ, उत्तम चामरादिकोंसे सहित जिनप्रतिमाओंसे विभूषित, रमणीय; वज्र, इन्द्रनील, मरकत, कर्केतन एवं पुखराज मणियोंके परिणाम रूप और सुवर्ण एवं मूगाओंके समूहसे युक्त कहे गये हैं ॥ १८३-१८६ ॥ इन तोरणोंपर स्थित नाना मणियोंकी प्रकाशमान किरणोंसे सहित मणिमय प्रासादोंमें मेखलाकलापमें जड़ी हुई मणियोंके किरणसमूहसे अन्धकारको नष्ट करनेवाली; कटिसूत्र, कटक, कुण्डल एवं उत्तम हारसे विभूषित शरीरवाली; लावण्यमय रूप, यौवन एवं बहुतसे गुणोंके समुदायको धारण करनेवालीं; कलरटित व मृदु प्रजल्पनमें [प्रगट होनेवाले] दांतोंसे उज्ज्वल एवं चन्द्रके समान धवल, सूर्यके किरणसमूहसे आहत होकर विकासको प्राप्त हुए कमलके मध्य भागके समान गौर वर्णवाली, शरत्कालीन मेघोंसे रहित सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवालीं, उन्नत एवं स्थूल पयोधरोंके ऊपर विराजमान सुन्दर हारसे अलंकृत, तथा चन्द्रसे विकासको प्राप्त हुए कुमुद, कुवलय व विकसित कमलके समान नेत्रोंवाली वे रमणीय देवियां धर्मके प्रभावसे उत्पन्न होती हैं ॥ १८७-१९१ ॥ गंगा, रोहित्, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता, ये

---

१ ब °सोहाहिं. २ उ किंकिण, श किंकण. ३ उ प ब श सालहंजिगयवरकणयलया. ४ उ प ब श चामराहि. ५ उ कलाब, श कलाण. ६ उ विहिण्ण, श विहिण. ७ उ श कलरिमिदमहु°, प ब कलिरिडिदामिहु° ८ उ श उवर ९ उ श दनिद.

गंगा य रोहिदा सा पुणे हरि सीदा य होंति णारी य । वंसे सुवण्णकूला रत्ता वि य पुव्वगा सरिदा ॥ १९२
सिंधू य रोहिदासा हरिकंता चेव होइ सीदोदा । अवरेण य णरकंता रुप्पक्कूला य रत्तवदिगा य ॥ १९३
छज्जोयण सक्कोसा पवहो[2] अंते य दसगुणो[3] वासे । भरहेरवदणदीणं वंसे वंसे हवे दुगुणा ॥ १९४
कोसद्धं उच्छेदो पवहो[4] अंते य दसगुणो होदि । भरहेरवदणदीणं वंसे वंसे हवे दुगुणा ॥ १९५
भरहेरावदएक्के[5] अट्ठावीसा णदीसहस्साणि । दुगुणा दुगुणा परदो वंसे वंसेसु णादव्वा ॥ १९६
वंसे महाविदेहे सरिदसहस्साणि होंति चउसट्ठी । दस चेव सदसहस्सा कुरुवंसेगं च चुलसीदि ॥ १९७
चोद्दसगसदसहस्सा छप्पण्णा तह सहस्स णउदी य । परिमाणं णादव्वं जंबूदीवस्स सरिदाओ ॥ १९८

नदियां [अपने अपने] वर्षमें पूर्व समुद्रको जानेवाली हैं ॥ १९२ ॥ सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तवती (रक्तोदा), ये नदियां अपर समुद्रको जानेवाली हैं ॥ १९३ ॥ भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी नदियोंका प्रवाह प्रारम्भमें छह योजन और एक कोश प्रमाण होता है । वही अन्तमें इससे दशगुणे विस्तारवाला हो जाता है । यह नदीप्रवाह [विदेह वर्ष तक] एक वर्षसे दूसरे वर्षमें दुगुणा होता गया है ॥ १९४ ॥ भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी नदियोंका अर्ध कोश ऊंचा प्रवाह अन्तमें दशगुणा (५ को.) हो जाता है । यह प्रवाह आगे प्रत्येक क्षेत्रमें दुगुणा समझना चाहिये ॥ १९५ ॥ भरत और ऐरावतमेंसे प्रत्येक क्षेत्रमें अट्ठाईस हजार नदियां हैं । इससे आगे क्षेत्र-क्षेत्रमें उनका प्रमाण दुगुणा जानना चाहिये ॥ १९६ ॥ महाविदेह क्षेत्रमें दस लाख चौंसठ हजार (३२ विदेहोंकी गंगा-सिन्धू आदि ६४ नदियोंकी सहायक नदी १४००० × ६४ = ८९६०००, दोनों कुरु क्षेत्रोंकी ८४००० × २ = १६८०००; १६८००० + ८९६००० = १०६४०००.) और प्रत्येक कुरु क्षेत्रमें चौरासी हजार नदियां हैं ॥ १९७ ॥ जम्बूद्वीपकी समस्त नदियोंका प्रमाण चौदह लाख छप्पन हजार नब्बै जानना चाहिये (गंगा-सिन्धूकी सहायक नदी १४००० × २ = २८०००, रोहित्-रोहितास्या ५६०००, हरित्-हरिकान्ता ११२०००, देव व उत्तर कुरुमें सीता-सीतोदाकी सहायक नदी ८४००० × २ = १६८०००, विदेहक्षेत्रस्थ गंगा व सिन्धू आदि ६४ नदियोंकी सहायक नदी ६४ × १४००० = ८९६०००; गंगादि १४ बत्तीस विदेहस्थ गंगा-सिन्धू आदि ६४, विभंगा १२; २८००० + ५६००० + ११२००० + १६८००० + ८९६००० + ११२००० + ५६००० + २८००० + १४ + ६४ १२ = १४५६०९०; यहां विभंगा नदियोंकी सहायक ३३६००० नदियोंकी विवक्षा नहीं की गई है) ॥ १९८ ॥ नदियोंके उभय तटोंपर मणिमय तोरणोंसे मण्डित, दो गव्यूति ऊंची

---

१ श गंगा य दिसा पुण. २ उ प ब पवहे, श पवहो. ३ उ श दसगुणा वासो, प ब दसगुणो भोसो. ४ उ प ब श पवहे. ५ प एको, ब येको.

उभयतडेसु णदीणं मणितोरणमंडिया मणभिरामा[2] । वरवेदी णिद्दिट्ठा वेगाउदउण्णया दिव्वा ॥ १९९
ससिकंतरयणणिवहा मणिगणकरणियरणासियतमोहा । वज्जिंदणीलमरगयकक्केयणपउमरायमया ॥ २००
वरइंदीवरवण्णा कुंदेंदुतुसारहारसंकासा । गयगवलकज्जलणिहा गोरोयणसच्छहा पवरा ॥ २०१
चंपयअसोयवण्णा पुण्णागपियंगुकुसुमसंकासा । किंसुयपवालवण्णा पप्फुल्लियकमलसंकासा ॥ २०२
सव्वणईणं णेया रमणीया विविहरयणसंछण्णा । सोवाणा णिद्दिट्ठा णवचंपयसुरहिगंधड्ढा ॥ २०३
फणसंबताडदाडिमपियंगुणारंगचीवरसणाहा । बहुणालिकेरकदलीसज्जज्जुणकुडयसंछण्णा ॥ २०४
गोसीसमलयचंदणकप्पूरकयंबसालतरुपउरा । पुण्णागणागचंपयवियसियकणवीरवणणिवहा ॥ २०५
पवणवसचलियपल्लवअसोयहिंतालपाडलसणाहा । गुंजंतमत्तमहुयरिअलिउलंकुरुझणियझंकारा ॥ २०६
बहुजादिजूहिकुज्जयतंबूलमिरीइवेल्लिसंछण्णा । मंदारकुंदकेदगिअइमुत्तलयाउलसिरीया ॥ २०७
दिव्वामोयसुयंधा णाणाफलफुल्लणिवहसंछण्णा । दोसु वि तडेसु होंति हु सव्वाण णदीण वणसंडा ॥ २०८

मनोहर दिव्य उत्तम वेदियां निर्दिष्ट की गई हैं ॥१९९॥ सब नदियों [की उक्त वेदियों] के चन्द्रकान्त रत्नोंके समूहसे युक्त, मणिगणोंके किरणसमूहसे अन्धकारसमूहको नष्ट करनेवाले; वज्र, इन्द्रनील, मरकत, कर्केतन और पद्मराग मणियोंसे निर्मित; कोई उत्तम इन्दीवरके समान वर्णवाले; कोई कुन्दपुष्प, तुषार एवं हारके सदृश; कोई गज, गवल (जंगली पशुविशेष) अथवा कज्जलके सदृश, कोई गोरोचनके सदृश कान्तिवाले, कोई चम्पक व अशोकके समान वर्णवाले, कोई पुन्नाग व प्रियंगु कुसुमके सदृश, कोई किंशुक (पलाश) के कोमल पत्र जैसे वर्णवाले, तथा कोई विकसित कमलके सदृश, ऐसे नाना प्रकारके रत्नोंसे व नवीन चम्पक जैसी सुगन्धमय गन्धसे व्याप्त रमणीय उत्तम सोपान कहे गये हैं ॥ २००–२०३ ॥ सब नदियोंके दोनों ही किनारोंपर पनस, आम्र, ताड़, दाड़िम, प्रियंगु, नारंग और चीवर वृक्षोंसे सनाथ; बहुतसे नालिकेर, कदली, सर्ज, अर्जुन और कुटज वृक्षोंसे व्याप्त; गोशीस, मलय चन्दन, कर्पूर, कदम्ब और शाल वृक्षोंकी प्रचुरतासे सहित; पुन्नाग, नाग, चम्पक, विकसित कनेर और वन (वृक्षविशेष) वृक्षोंके समूहसे सहित; वायुके वश होकर हिलते हुए पत्तोंवाले अशोक, हिंताल और पाटल तरुओंसे सनाथ; गुंजार करती हुई मधुकरी (भ्रमरी) और भ्रमरोंके समूहोंसे उत्पन्न हुए झंकारसे सहित; बहुतसी जाति (मालती), जूही, कुब्जक, ताम्बूल और मिरिचकी बेलोंसे व्याप्त; मंदार, कुन्द, केतकी और अतिमुक्त (माधवी लता) लताओंके समूहकी शोभासे सम्पन्न, दिव्य सुगन्धसे सुगन्धित, तथा नाना फल-फूलोंके समूहसे व्याप्त वनखण्ड हैं ॥ २०४–२०८ ॥ भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रको छोड़कर शेष

१ उ श सवितोरण २ श माणिभिरामा. ३ उ श किंसुयपवाल, प ब केसुयपवाल. ४ श वीयर. ५ उ महुयरिअलिउल, प ब महुअरअलिउल, श महुयरिउल. ६ प ब मरीचिवल्लि. ७ उ श कुल्ल.

सद्धावदि विगडावदि[1] गंधावदि मालवंतपरियंता । वंसेसु चदुसु एदे णादव्वा वट्टवेदड्ढा ॥ २०९
जोयणसहस्स एदे विित्थिण्णा तेत्तियं च उव्विद्धा । सव्वत्थ समा णेया पल्लगसंठाण कंचणमया य ॥ २१०
तिण्णेव[2] सहस्साणं बासट्ठिं चेव होंति सदमेगं । वेदड्ढाणं[3] परिरओ वट्टाणं[4] जंबुदीवम्हि ॥ २११
ते गिरिवरे अपत्ता सरिदाओ अद्धं[5]जोयणपमाणं । पुव्वावरेण गंगा लवणसमुद्दं समुपयंति ॥ २१२
मुहभूमिविसेसेण[6] य उच्छयभजिदं तु सा हवे वड्ढी । वड्ढी इच्छागुणिदं मुहपक्खित्ते[7] य होइ वट्टफलं[8] ॥
वयणखिदिरहियउच्छयहिदइच्छगुणम्मि वयणपक्खित्ते । सायरणदीणगाणं[9] पदेसवड्ढी समुद्दिट्ठा ॥ २१४

चार क्षेत्रोंमें श्रद्धावती, विकटावती, गन्धवती और अन्तिम माल्यवान् ये चार वृत्त वैताढ्य जानना चाहिये ॥ २०९ ॥ ये सुवर्णमय वृत्त वैताढ्य एक हजार योजन विस्तीर्ण, इतने ही ऊंचे, सर्वत्र समान विस्तारवाले व पल्यके (कुशूल) के आकार जानना चाहिये ॥ २१० ॥ जम्बूद्वीपमें वृत्त वैताढ्योंकी परिधि तीन हजार एक सौ बासठ (३१६२) योजन प्रमाण है ॥ २११ ॥ गंगादिक नदियां अर्ध योजन प्रमाणसे उन वृत्त वैताढ्योंको प्राप्त न होकर अर्थात् उनसे अर्ध योजन इधर रहकर ही पूर्व व पश्चिमकी ओरसे लवणसमुद्रको प्राप्त होती हैं ॥ २१२ ॥ भूमिमेंसे मुखको घटाकर शेषमें उत्सेधका भाग देनेपर वृद्धिका प्रमाण आता है । इस वृद्धिको इच्छासे गुणित कर मुखमें मिला देनेपर अभीष्ट स्थानमें विवक्षित क्षेत्रका विस्तार जाना जाता है ॥ २१३ ॥

उदाहरण— श्रद्धावान् नामक वृत्त वैताड्य १००० यो. ऊंचा है । इसका विस्तार मूलमें १००० यो. और ऊपर ५०० यो. है । इसका मध्यविस्तार प्रकृत करणसूत्रके अनुसार निम्न प्रकार होगा— भूमि १००० यो., मुख ५००, उत्सेध १०००; $\frac{१०००-५००}{१०००} = \frac{१}{२}$ वृद्धि । इच्छा ५०० यो.; $५०० \times \frac{१}{२} = २५०$ यो.; $५०० + २५० = ७५०$ यो. मध्यविस्तार ।

वदन (मुख) और क्षिति (भूमि) को परस्परमें घटाकर शेषमें उंचाईका भाग देकर जो लब्ध हो उसे इच्छासे गुणित कर मुखमें मिला देनेपर सागर, नदी व नगोंमें होनेवाली प्रदेशवृद्धिका प्रमाण होता है ॥ २१४ ॥

उदाहरण — लवणसमुद्रमें पूर्णिमाके दिन १६००० यो. और अमावस्याके दिन ११००० यो. प्रमाण जलकी उंचाई समभूमितलसे होती है । १६००० यो. की उंचाईपर उसका विस्तार १०००० यो. रहता है । अत एव भूमिका प्रमाण २ ला. यो. और मुखका प्रमाण १०००० यो. है । १६००० यो. नीचे जाकर यदि १९०००० यो. की वृद्धि होती है तो ११००० यो. नीचे जाकर कितनी वृद्धि होगी— $\frac{२०००००-१००००}{१६०००} = \frac{१९०}{१६}$ वृद्धिप्रमाण, $\frac{१९० \times ११०००}{१६} = १३०६२५$; $१३०६२५ + १०००० = १४०६२५$ यो. ।

१ प व सद्धावदिविगडावदि. २ उ श विणेव. ३ प व वेदड्डाणं. ४ उ श वट्ठणं, प ब वाड्ढाणं. ५ उ प व श अद्द. ६ श मुहनोभूमिविसेसेण. ७ श भूहयखित्ते. ८ प ब नट्टिफलं. ९ श पगाणं.

हेमवदस्स य मज्झे[1] णाहिगिरिंदो विचित्तमणिणिवहो । वणवेदीपरिखित्तो मणितोरणमंडिओ रम्मो ॥ २
तस्स णगस्स दु सिहरे वणवेदीपरिउडो परमरम्मो । वरतोरणछज्जंतो सुरणयरो उत्तमो होइ ॥ २१६
मणिकंचणपरिणामा पासादा सत्तभूमिया दिव्वा । ससिकंतसूरकंताकक्केयणपुस्सरायमया ॥ २१७
बहुविविहभवणणिवहो वावीपुक्खरिणिउववणसमग्गो । सुरसुंदरिपरिइण्णो जिणभवणविहूसिओ दिव्वो ॥
वरमउडकुंडलधरो पलंबबाहू पसत्थसव्वंगो । सादी णामेण सुरो अणंतबलरूवसंपण्णो ॥ २१९
तस्स णगरस्स राया पलिदोवमआउगो महासत्तो । सिंहासणमज्झगदो सेविज्जइ सुरसहस्सेहिं ॥ २२०
एवं अवसेसाणं देवाण हवंति णाभिसेलेसु । णगराणि विचित्ताणि दु जह पुव्वं वण्णिया सयला ॥ २२१
हरिवंसस्स दु मज्झे णाभिगिरिंदस्स पुरवरे विउले । अरुणप्पभो त्ति णामो देवो सो तत्थ[3] णिद्दिट्ठो ॥ २२
पउमप्पभो त्ति णामो रम्मगवंसस्स वट्टवेदड्ढे । सुरणगरम्मि य राया णिद्दिट्ठो सव्वदरिसीहिं ॥ २२३
णामेणं[4] पभासो त्ति य हेरण्णवदस्स णाभिगिरिसिहरे । सुरपट्टणम्मि राया अच्छइ सुहसायरे[5] धीरो ॥ २२४
सव्वाणं च णगाणं णगणगराणं[6] तु णगवणाणं च । एसेव[7] कमो णेयो समासदो होइ णिद्दिट्ठो ॥ २२५

हैमवत क्षेत्रके मध्यमें विचित्र मणियोंके समूहोंसे सहित, वनवेदीसे वेष्टित और मणिमय तोरणोंसे मण्डित रम्य नाभि गिरीन्द्र स्थित है ॥ २१५ ॥ उस पर्वतके शिखरपर वनवेदीसे वेष्टित और उत्तम तोरणसे सुशोभित अतिशय रमणीय श्रेष्ठ सुरनगर है ॥ २१६ ॥ उपर्युक्त नगरके सात भूमियोंवाले, मणियों एवं सुवर्णके परिणाम रूप दिव्य प्रासाद चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, कर्केतन एवं पुखराज मणियोंसे निर्मित हैं ॥ २१७ ॥ उक्त नगरमें वापी, पुष्करिणी एवं उपवनोंसे सहित; सुरसुन्दरियोंसे व्याप्त व जिनभवनोंसे विभूषित विविध प्रकारके बहुतसे दिव्य भवन हैं ॥ २१८ ॥ उत्तम मुकुट एवं कुण्डलोंका धारक, लम्बे बाहुओंसे संयुक्त, प्रशस्त सब अवयवोंसे सहित और अनन्त बल व रूपसे सम्पन्न स्वाति नामक देव उस नगरका राजा है। पल्योपम प्रमाण आयुके धारक, महाबलवान् और सिंहासनके मध्यको प्राप्त इस देवकी हजारों देव सेवा करते हैं ॥ २१९-२२० ॥ इसी प्रकार शेष नाभि शैलोंपर भी देवोंके जो विचित्र नगर हैं उनका सब वर्णन पूर्व वर्णनके समान है ॥ २२१ ॥ हरिवर्ष क्षेत्रके मध्यमें स्थित नाभि गिरीन्द्रके विशाल एवं श्रेष्ठ पुरमें अरुणप्रभ नामका वह अधिपति देव है, ऐसा निर्दिष्ट किया गया है ॥ २२२ ॥ सर्वदर्शियों द्वारा रम्यक क्षेत्रके वृत्त वैताढ्यपर स्थित सुरनगरका राजा पद्मप्रभ नामक देव बतलाया गया है ॥ २२३ ॥ हैरण्यवतक्षेत्रस्थ नाभि गिरिके शिखरपर स्थित सुखके सागर स्वरूप सुरपुरमें प्रभास नामक साहसी देव रहता है ॥२२४॥ समस्त पर्वतों, पर्वतस्थ नगरों एवं वनोंके वर्णनका संक्षेपसे यही क्रम जानना चाहिये

१ उ श हेमव्वदस्स मज्झे. २ उ प ब श विवह. ३ उ श सेतत्तु. ४ उ श णामेणि. ५ उ श सुय. ६ उ श णगाणं णगराणं. ७ उ श एसोव.

सव्वाण भूहराणं वणवेदी तोरणा मुणेयव्वा । देवणगराण वि तहा वणसंडाणं तहा चेय ॥ २२६
सव्वेसु भूहरेसु य सुरवरणगेरसु उववणवणेसु । जिणभवणा णायव्वा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं । २२७
हिमवंतस्स दु मूले जा जीवा उत्तरेण णिद्दिट्ठा । हेमवदस्स य सा खलु दक्खिणजीवा[1] वियाणाहि ॥ २२८
हिमवंतमहंतस्स दु जा जीवा दक्खिणेण णिद्दिट्ठा । हेमवदस्स य सा खलु उत्तरजीवा वियाणाहि ॥ २२९
हिमवंतमहंतस्स दु जा जीवा उत्तरेण णिद्दिट्ठा । हरिवंसस्स दु सा खलु दक्खिणजीवा वियाणाहि ॥ २३०
णिसधगिरिस्स दु मूले जा जीवा दक्खिणेण णिद्दिट्ठा । हरिवंसस्स दु सा खलु उत्तरजीवा वियाणाहि ॥
जह दक्खिणम्मि भागे तह चेव य उत्तरेसु णायव्वा । आयामा विक्खंभा समासदो होंति सव्वाणं ॥ २३२
सोहम्मिंदो सामी दक्खिणभागस्स होदि णिद्दिट्ठो । ईसाणिंदो सामी उत्तरभागस्स दीवस्स ॥ २३३
हेरण्णवदे खेत्ते तहेव हेमव्वदम्मि वंसम्मि । सुस्समदुसमो कालो अवट्ठिदो सव्वदा होइ ॥ २३४
हरिवरिसम्मि य खेत्ते रम्मगवंसम्मि होइ णायव्वा । सुसमो कालो एक्को अवट्ठिदो सव्वकालं तु ॥ २३५
बे चउ चउ दुसहस्सा धणुप्पमाणा हवंति उच्छेहा । एगदुगबिण्णि[3]एगापल्लाऊ ते मुणेयव्वा ॥ २३६
जे कम्मभूमिमणुया दाणं दाऊण उत्तमे पत्ते । अणुमोदणेण तिरिया ते होंति इमासु भूमीसु ॥ २३७

॥ २२५ ॥ समस्त पर्वतों, देवनगरों तथा वनखण्डोंके वनवेदी और तोरण उसी प्रकार जानना चाहिये ॥ २२६ ॥ सब पर्वत, श्रेष्ठ सुरपुर और वन-उपवनोंमें जिनेन्द्रों द्वारा निर्दिष्ट जिनभवन जानना चाहिये ॥ २२७ ॥ हिमवान् पर्वतके मूलमें जो उत्तरजीवा कही गई है वह निश्चयसे हैमवत क्षेत्रकी दक्षिणजीवा जानना चाहिये ॥ २२८ ॥ महाहिमवान् पर्वतकी जो दक्षिणजीवा कही गई है वह निश्चयसे हैमवत क्षेत्रकी उत्तरजीवा समझना चाहिये ॥ २२९ ॥ महाहिमवान् पर्वतकी जो उत्तरजीवा निर्दिष्ट की गई है वह निश्चयतः हरिवर्ष क्षेत्रकी दक्षिणजीवा जानना चाहिये ॥ २३० ॥ निषधगिरिके मूलमें जो दक्षिण-जीवा कही गई है वह निश्चयतः हरिवर्षकी उत्तरजीवा जानना चाहिये ॥ २३१ ॥ जिस प्रकार दक्षिण भागमें क्षेत्रों व पर्वतोंका संक्षेपसे आयाम व विस्तार बतलाया गया है उसी प्रकार उत्तर भागोंमें भी सब क्षेत्रों व पर्वतोंका आयाम व विस्तार जानना चाहिये ॥२३२॥ द्वीपके दक्षिण भागका स्वामी सौधर्म इन्द्र और उत्तर भागका स्वामी ईशान इन्द्र कहा गया है ॥ २३३ ॥ हैरण्यवत क्षेत्रमें तथा हैमवत क्षेत्रमें सर्वदा सुषमदुषमा काल अवस्थित है ॥ २३४ ॥ हरिवर्ष क्षेत्रमें और रम्यक क्षेत्रमें सर्वदा एक सुषमाकाल अवस्थित है [देवकुरुमें सदा सुषमसुषमा काल अवस्थित है] ॥ २३५ ॥ [हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रोंमें] शरीरकी उंचाई क्रमशः दो हजार, चार हजार, चार हजार और दो हजार धनुष प्रमाण तथा आयु एक, दो, दो और एक पल्य प्रमाण जानना चाहिये ॥ २३६ ॥ जो कर्मभूमिज मनुष्य हैं वे उत्तम पात्रको दान देकर तथा जो कर्मभूमिज तिर्यंच हैं वे दानदाताकी अनुमोदनासे इन क्षेत्रोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २३७ ॥ वहां मरणको भी

---

१ उ श उत्तरजीवा. २ प ब श प्रतिषु २२९ तमगाथाया उत्तरार्द्धं २३० तमगाथायाश्च पूर्वार्द्धं नोपलभ्यते. ३ उ श बिण्ण

हेमवदस्स य मज्झे[1] णाहिगिरिंदो विचित्तमणिणिवहो । वणवेदीपक्खित्तो मणितोरणमंडिओ रम्मो ॥ २१५
तस्स णगस्स दु सिहरे वणवेदीपरिउडो परमरम्मो । वरतोरणछज्जंतो सुरणयरो उत्तमो होइ ॥ २१६
मणिकंचणपरिणामा पासादा सत्तभूमिया दिव्वा । ससिकंतसूरकंताकक्केयणपुस्सरायमया ॥ २१७
बहुविविह[2]भवणणिवहो वावीपुक्खरिणिउववणसमग्गो । सुरसुंदरिपरिछण्णो जिणभवणविहूसिओ दिव्वो ॥
वरमउडकुंडलधरो पलंबबाहू पसत्थसव्वंगो । सादी णामेण सुरो अणंतबलरूवसंपण्णो ॥ २१९
तस्स णगरस्स राया पलिदोवमआउगो महासत्तो । सिंहासणमज्झगदो सेविज्जइ सुरसहस्सेहिं ॥ २२०
एवं अवसेसाणं देवाण हवंति णाभिसेलेसु । णगराणि विचित्ताणि दु जह पुव्वं वण्णिया सयला ॥ २२१
हरिवंसस्स दु मज्झे णाभिगिरिंदस्स पुरवरे विउले । अरुणप्पभो त्ति णामो देवो सो तत्थ[3] णिदिट्ठो ॥ २२२
पउमप्पभो त्ति णामो रम्मगवंसस्स वट्टवेदड्ढे । सुरणगरम्मि य राया णिद्दिट्ठो सव्वदरिसीहिं ॥ २२३
णामेणं[4] पभासो त्ति य हेरण्णवदस्स णाभिगिरिसिहरे । सुरपट्टणम्मि राया अच्छइ सुह[5]सायरे धीरो ॥ २२४
सव्वाणं च णगाणं णगणगराणं[6] तु णगवणाणं च । एसेव[7] कमो णेओ समासदो होइ णिद्दिट्ठो ॥ २२५

हैमवत क्षेत्रके मध्यमें विचित्र मणियोंके समूहोंसे सहित, वनवेदीसे वेष्टित और मणिमय तोरणोंसे मण्डित रम्य नाभि गिरीन्द्र स्थित है ॥ २१५ ॥ उस पर्वतके शिखरपर वनवेदीसे वेष्टित और उत्तम तोरणसे सुशोभित अतिशय रमणीय श्रेष्ठ सुरनगर है ॥ २१६ ॥ उपर्युक्त नगरके सात भूमियोंवाले, मणियों एवं सुवर्णके परिणाम रूप दिव्य प्रासाद चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, कर्केतन एवं पुखराज मणियोंसे निर्मित हैं ॥ २१७ ॥ उक्त नगरमें वापी, पुष्करिणी एवं उपवनोंसे सहित; सुरसुन्दरियोंसे व्याप्त व जिनभवनोंसे विभूषित विविध प्रकारके बहुतसे दिव्य भवन हैं ॥ २१८ ॥ उत्तम मुकुट एवं कुण्डलोंका धारक, लम्बे बाहुओंसे संयुक्त, प्रशस्त सब अवयवोंसे सहित और अनन्त बल व रूपसे सम्पन्न स्वाति नामक देव उस नगरका राजा है । पल्योपम प्रमाण आयुके धारक, महाबलवान् और सिंहासनके मध्यको प्राप्त इस देवकी हजारों देव सेवा करते हैं ॥ २१९–२२० ॥ इसी प्रकार शेष नाभि शैलोंपर भी देवोंके जो विचित्र नगर हैं उनका सब वर्णन पूर्व वर्णनके समान है ॥ २२१ ॥ हरिवर्ष क्षेत्रके मध्यमें स्थित नाभि गिरीन्द्रके विशाल एवं श्रेष्ठ पुरमें अरुणप्रभ नामका वह अधिपति देव है, ऐसा निर्दिष्ट किया गया है ॥ २२२ ॥ सर्वदर्शियों द्वारा रम्यक क्षेत्रके वृत्त वैताढ्यपर स्थित सुरनगरका राजा पद्मप्रभ नामक देव बतलाया गया है ॥ २२३ ॥ हैरण्यवतक्षेत्रस्थ नाभि गिरिके शिखरपर स्थित सुखके सागर स्वरूप सुरपुरमें प्रभास नामक साहसी देव रहता है ॥२२४॥ समस्त पर्वतों, पर्वतस्थ नगरों एवं वनोंके वर्णनका संक्षेपसे यही क्रम जानना चाहिये

---

१ उ श हेमव्वदस्स मज्झे. २ उ प ब श विवह. ३ उ श सेसतु. ४ उ श णामेणि. ५ उ श हुय. ६ उ श णगाणं णगराणं. ७ उ श एसोव.

सव्वाण भूहराणं वणवेदी तोरणा मुणेयव्वा । देवणगराण वि तहा वणसंडाणं तहा चेय ॥ २२६
सव्वेसु भूहरेसु य सुरवरणगेरसु उववणवणेसु । जिणभवणा णायव्वा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं । २२७
हिमवंतस्स दु मूले जा जीवा उत्तरेण णिद्दिट्ठा । हेमवदस्स य सा खलु दक्खिणजीवा[1] वियाणाहि ॥ २२८
हिमवंतमहंतस्स दु जा जीवा दक्खिणेण णिद्दिट्ठा । हेमवदस्स य सा खलु उत्तरजीवा वियाणाहि ॥ २२९
हिमवंतमहंतस्स दु जा जीवा उत्तरेण णिद्दिट्ठा । हरिवंसस्स दु सा खलु दक्खिणजीवा वियाणाहि ॥ २३०
णिसधगिरिस्स दु मूले जा जीवा दक्खिणेण णिद्दिट्ठा । हरिवंसस्स दु सा खलु उत्तरजीवा वियाणाहि ॥
जह दक्खिणम्मि भागे तह चेव य उत्तरेसु णायव्वा । आयामा विक्खंभा समासदो होंति सव्वाणं ॥ २३२
सोहम्मिंदो सामी दक्खिणभागस्स होदि णिद्दिट्ठो । ईसाणिंदो सामी उत्तरभागस्स दीवस्स ॥ २३३
हेरण्णवदे खेत्ते तहेव हेमव्वदम्मि वंसम्मि । सुस्समदुसमो कालो अवट्ठिदो सव्वदा होइ ॥ २३४
हरिवरिसम्मि य खेत्ते रम्मगवंसम्मि होइ णायव्वा । सुसमो कालो एक्को अवट्ठिदो सव्वकालं तु ॥ २३५
बे चउ चउ दुसहस्सा धणुप्पमाणा हवंति उच्छेहा । एगदुगबिण्णिएगापल्लाऊ ते मुणेयव्वा ॥ २३६
जे कम्मभूमिमणुया दाणं दाऊण उत्तमे पत्ते । अणुमोदणेण तिरिया ते होंति इमासु भूमीसु ॥ २३७

॥ २२५ ॥ समस्त पर्वतों, देवनगरों तथा वनखण्डोंके वनवेदी और तोरण उसी प्रकार जानना चाहिये ॥ २२६ ॥ सब पर्वत, श्रेष्ठ सुरपुर और वन-उपवनोंमें जिनेन्द्रों द्वारा निर्दिष्ट जिनभवन जानना चाहिये ॥ २२७ ॥ हिमवान् पर्वतके मूलमें जो उत्तरजीवा कही गई है वह निश्चयसे हैमवत क्षेत्रकी दक्षिणजीवा जानना चाहिये ॥ २२८ ॥ महाहिमवान् पर्वतकी जो दक्षिणजीवा कही गई है वह निश्चयसे हैमवत क्षेत्रकी उत्तरजीवा समझना चाहिये ॥ २२९ ॥ महाहिमवान् पर्वतकी जो उत्तरजीवा निर्दिष्ट की गई है वह निश्चयतः हरिवर्ष क्षेत्रकी दक्षिणजीवा जानना चाहिये ॥ २३० ॥ निषधगिरिके मूलमें जो दक्षिण-जीवा कही गई है वह निश्चयतः हरिवर्षकी उत्तरजीवा जानना चाहिये ॥ २३१ ॥ जिस प्रकार दक्षिण भागमें क्षेत्रों व पर्वतोंका संक्षेपसे आयाम व विस्तार बतलाया गया है उसी प्रकार उत्तर भागोंमें भी सब क्षेत्रों व पर्वतोंका आयाम व विस्तार जानना चाहिये ॥२३२॥ द्वीपके दक्षिण भागका स्वामी सौधर्म इन्द्र और उत्तर भागका स्वामी ईशान इन्द्र कहा गया है ॥ २३३ ॥ हैरण्यवत क्षेत्रमें तथा हैमवत क्षेत्रमें सर्वदा सुषमदुषमा काल अवस्थित है ॥ २३४ ॥ हरिवर्ष क्षेत्रमें और रम्यक क्षेत्रमें सर्वदा एक सुषमाकाल अवस्थित है [देवकुरुमें सदा सुषमसुषमा काल अवस्थित है] ॥ २३५ ॥ [हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रोंमें] शरीरकी उंचाई क्रमशः दो हजार, चार हजार, चार हजार और दो हजार धनुष प्रमाण तथा आयु एक, दो, दो और एक पल्य प्रमाण जानना चाहिये ॥ २३६ ॥ जो कर्मभूमिज मनुष्य हैं वे उत्तम पात्रको दान देकर तथा जो कर्मभूमिज तिर्यंच हैं वे दानदाताकी अनुमोदनासे इन क्षेत्रोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २३७ ॥ वहां मरणको भी

---

१ उ श उत्तरजीवा. २ प ब श प्रतिषु २२९ तमगाथाया उत्तरार्द्धं २३० तमगाथायाश्च पूर्वार्द्धं नोपलभ्यते. ३ उ श वणि.

कालगदा वि य संता विमाणवासेसु ताण उप्पत्ती । ण य अण्णत्थुप्पत्ती अकालमरणेहि ण मरंति ॥ २३८
मज्जवरतूरभूसणजोदिसगिहभायणाण कप्पदुमा । भोयणपदीववत्था दुमाण वि हवंति दस भेया ॥ २३९
बहुविहमणिकिरणाहयघणतिमिरजलंततुंगवरमउडा । सरसमयघणविणिग्गयरविभासुरकुंडलाभरणा ॥ २४०
घणसमयजणियभासुरविज्जुज्जलतेयमेहलकलावा । बहलघणपंकवियलियससिधवलपलंबवरहारा ॥ २४१
मरगयरयणविणिग्गयकिरणसमुच्छलियमेरुगिरिधीरा । परिइण्णरयणबहुविहसायरगंभीरमज्जाया ॥ २४२
पगलंतदाणणिज्झरभूहरसमसरसमत्तगयगमणा । तरुणससिधवलखरणहकरिदारणसीहविक्कंता ॥ २४३
मियमयकप्पूरायरुहरियंदणबहलपरिमलामोया । णाणागुणगणकलिया दाणफलाभोगसंपण्णा ॥ २४४
हलमुसलकलसचामररविससिभवणादिलक्खणोवेदा । दीसंति पवरपुरिसा सव्वासु वि भोगभूमीसु ॥ २४५
अइसयअसेसणिवहं अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्तं । वरपउमणंदिणमियं अभिणंदणजिणवरं वंदे ॥ २४६

॥ इय जंबूदीवपण्णत्तिसंगहे पव्वदणदीभोगभूमिवण्णणो णाम तदिओ उद्देसो समत्तो ॥ ३ ॥

प्राप्त होनेपर उनकी उत्पत्ति विमानवासी देवोंमें होती है, अन्यत्र उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। तथा वे अकालमरणोंसे नहीं मरते हैं ॥ २३८ ॥ वहां मद्यांग, उत्तम तूर्यांग, भूषणांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भाजनांग, भोजनांग, प्रदीपांग और वस्त्रांग, इस प्रकार दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं ॥ २३९ ॥ इन सभी भोगभूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुष बहुत प्रकारके मणियोंकी किरणोंसे सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाले चमकते हुए उन्नत उत्तम मुकुटको धारण करनेवाले, शरत्कालीन मेघोंसे निकले हुए सूर्यके समान देदीप्यमान कुण्डलोंसे भूषित, वर्षाकालमें उत्पन्न हुई प्रकाशमान विजलीके समान उज्ज्वल तेजवाले मेखलाकलापसे संयुक्त, सान्द्र घन (बादल) रूपी पंकसे रहित चन्द्रके समान धवल लम्बे उत्तम हारसे सुशोभित, मरकत रत्नोंसे निकली हुई किरणोंसे विस्तारको प्राप्त हुए मेरु पर्वतके समान धैर्यशाली, बहुत प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त सागरके समान गम्भीर मर्यादावाले, बहते हुए मदरूपी झरनेसे युक्त होकर पर्वतकी उपमाको धारण करनेवाले सरस मत्त गजके समान गमन करनेवाले, तरुण चन्द्रके समान धवल तीक्ष्ण नखोंसे हाथीको विदारण करनेवाले सिंहके समान पराक्रमके धारक, मृगमद (कस्तूरी), कपूर, अगरु और हरित् चन्दनके समान सघन परिमलसे सुगन्धित, नाना गुणगणोंसे सहित, दानफलके आभोगोंसे सम्पन्न; तथा हल, मूसल, कलश, चामर, सूर्य, चन्द्र और भवन आदि रूप चिह्नोंसे युक्त दिखते हैं ॥ २४०–२४५ ॥ समस्त अतिशयोंके समूहसे सहित, आठ महा प्रातिहार्योंसे संयुक्त, और पद्मनन्दिसे नमस्कृत, ऐसे अभिनन्दन जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूं ॥ २४६ ॥

॥ इस प्रकार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसंग्रहमें पर्वत, नदी व भोगभूमि वर्णन नामक तृतीय उद्देश समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

---

१ प ब दुमाण हवंति. २ उ प ब श णाणिय. ३ उ श कंप. ४ उ श धरिस. ५ उ श णहर. ६ प ब संपण्णा.

[चउत्थो उद्देसो]

सुमइजिणिंदं पणमिय सुविसुद्धचरित्तणाणसंपण्णं । सुपहुत्तरयणसिहरं सुदंसणं संपवक्खामि ॥ १
सव्वागासस्स तहा तस्स दु बहुमज्झदेसंभागम्मि[1] । लोगो अणाइणिहणो णिद्दिट्ठो सव्वदरिसीहिं ॥ २
लोयस्स ठिदी णेया वलहीआयार होइ णिद्दिट्ठा । पुव्वावरेण दीहो उत्तर तह दक्खिणे[2] रहस्सो ॥ ३
पुव्वावरेण लोगो मूले मज्झे तहेव उवरिम्मि । वरवेत्तासण[3]झल्लरिमुदिंगसंठाणपरिणामो ॥ ४
उत्तरदक्खिणपासे संठाणो टंकछिण्णगिरिसरिसो । अहवा कुलगिरिसरिसो आयदचउरंसदरणमिओ ॥ ५
उवरीदो णीसरिदो पइट्ठो[4] पुण चेव होइ णिस्सरिदो[5] । उत्तरदक्खिणपासे[6] णिद्दिट्ठो सव्वदरिसीहिं ॥ ६
देवच्छंद[7]समाणो[8] छज्जासरिसो[9] य तणघरसमाणो[10] । पक्खीपक्खसमाणो हेट्ठिमभागस्स संठाणो ॥ ७
छज्जाए जह अंते छज्जो घडिदो व्व मज्झसंठाणो । बोहित्थतल[11]समाणो कवड्डि[12]यापुट्ठिसरिसो वा ॥ ८

अतिशय विशुद्ध चारित्र एवं ज्ञानसे सम्पन्न सुमति जिनेन्द्रको नमस्कार करके प्रभूत (बहुतसे) रत्नशिखरोंसे संयुक्त सुदर्शन मेरुका वर्णन करता हूं ॥ १ ॥ सर्वदर्शियोंने सर्व आकाशके बहुमध्यदेश भागमें अर्थात् ठीक बीचमें अनादि-निधन लोक निर्दिष्ट किया है ॥ २ ॥ लोककी स्थिति वलभी अर्थात् ढालू छतके आकार कही गई जानना चाहिये । यह लोक पूर्व-पश्चिममें दीर्घ और उत्तर तथा दक्षिणमें ह्रस्व है ॥ ३ ॥ यह लोक पूर्व-पश्चिममें मूलमें उत्तम वेत्रासन, मध्यमें झालर, तथा उपरिम भागमें मृदंगके आकारसे परिणत है ॥ ४ ॥ लोकका आकार उत्तर-दक्षिण पार्श्व भागमें टांकीसे उकेरे हुए पर्वतके सदृश है । अथवा आयतचतुरस्र व किंचित् नमित वह लोक कुलपर्वतके समान है ॥ ५ ॥ सर्वदर्शियों द्वारा वह लोक उत्तर-दक्षिण पार्श्व भागमें ऊपरकी ओरसे निःसृत अर्थात् बाहर निकला हुआ, फिर संकुचित हुआ, तथा फिरसे भी निःसृत बतलाया गया है ॥ ६ ॥ उक्त लोकके अधस्तन भागका आकार देवच्छंद (जिन भगवान्का आसन) के सदृश, छज्जाके सदृश, तृणघरके सदृश, अथवा पक्षीके पंख समान है ॥ ७ ॥ जिस प्रकार छज्जाके अन्तमें अर्थात् छज्जाकी [समतल] घटना होती है वैसा मध्य लोकका आकार है । तथा ऊर्ध्व लोकका आकार बहित्र अर्थात् नावके तल सदृश, कपर्दिका (कौड़ी) के पृष्ठ भागके समान, अथवा शिखरपर उलटा किये

१ प ब बहुमज्झदेस. २ उ उत्तर दह दक्खिणे, श उत्तर दहक्खिणे. ३ उ श वेत्तासणि. ४ प ब पइठो. ५ उ श णिस्सरिदे ६ प ब पासो. ७ ब देवछेद. ८ श समो. ९ प ब छज्जयिससरिसो. १० ब सबाणेण. ११ प वोहित्थतल, उ श बोहिक्कतल. १२ उ कवडियापुट्ठि, प कवलीयापुठि, ब कवलीया-पुट्ठि, श केवलियापुट्ठि.

उब्बुद्धेसरावसिहरो उवविट्ठसरावसंपुडायारो[3] । णिच्चो अणाइणिहणो तसथावरअसुगणावासो[4] ॥ ९
पुव्वावरेण णेया सत्तेव य तस्स होंति रज्जूणि । दक्खिणउत्तरपासे एओ रज्जू समुद्दिट्ठो ॥ १०
मज्झे सिहरे य पुणो एया रज्जू य होइ वित्थिण्णा । मूले[5] य बंभलोए सत्त दु तह पंच रज्जूणि ॥ ११
उच्छेहेण य णेया चउदसरज्जू जिणेहि पण्णत्ता । सत्तेव य आयामो विक्खंभो होइ एक्को दु ॥ १२
तस्स दु मज्झे णेयो लोगो पंचेंदियाण णिद्दिट्ठो । झल्लरि[6]आयारो खलु णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि ॥ १३
तसजीवाणं लोगो चउदहरज्जूणि होइ उच्छेहो । विक्खंभायामेण य एया रज्जू मुणेयव्वा ॥ १४
पंचेंदियाण लोगे[7] बादरसुहुमा जिणेहि[8] पण्णत्ता । परदो बादररहिदो सुहुमा सव्वत्थ विण्णेया ॥ १५
पच्छिमपुव्वदिसाए विक्खंभो तस्स होइ लोयस्स । सत्तेगपंचएया मूलादो होंति रज्जूणि ॥ १६
दक्खिणउत्तरदो पुण विक्खंभो होइ सत्त रज्जूणि । चदुसु वि दिसाविभागे[9] चउदस रज्जूणि उत्तुंगो ॥ १७
लोयस्स तस्स णेया अणेयसंठाणरूवजुत्तस्स । उवमादीदस्स[10] तहा बहुभेदपयत्थगब्भस्स[11] ॥ १८

हुए सकोरेके शिखरके सदृश; एवं समस्त आकार शरावसंपुट अर्थात् दो सकोरोंको एकके ऊपर दूसरा उलटा कर रखे हुए सकोरोंके आकारका है । यह लोक अनादि-निधन तथा त्रस और स्थावर जीवोंका निवासस्थान है ॥ ८-९ ॥ यह लोक पूर्व-पश्चिममें सात राजु और दक्षिण-उत्तर पार्श्वमें एक राजु (?) कहा गया है ॥ १० ॥ उक्त लोक मध्यमें व शिखरपर एक राजु, मूलमें सात राजु, और ब्रह्म-लोकमें पांच राजु विस्तीर्ण है ॥ ११ ॥ जिनभगवान्ने उक्त लोकका उत्सेध चौदह राजु, आयाम सात राजु और विष्कम्भ एक राजु (?) प्रमाण कहा है ॥ १२ ॥ जिनेन्द्र भगवान्ने उसके मध्यमें झालरके आकार पंचेन्द्रियोंका लोक कहा है ॥ १३ ॥ त्रस जीवोंका लोक (त्रसनाली) चौदह राजु ऊंचा और एक राजु प्रमाण विष्काम्भ व आयामसे युक्त जानना चाहिये ॥ १४ ॥ जिन भगवान्ने पंचेन्द्रियोंके लोकमें बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीव बतलाये हैं । इसके परे वह बादर जीवोंसे रहित है । सूक्ष्म जीव सर्वत्र जानने चाहिये ॥ १५ ॥ उस लोकका विष्कम्भ पूर्व-पश्चिम दिशामें नीचेसे क्रमशः सात, एक, पांच और एक राजु प्रमाण है ॥ १६ ॥ उक्त लोकका विष्कम्भ दक्षिण-उत्तर दिशामें सात राजु है । ऊंचाई उसकी चारों ही दिशाविभागमें चौदह राजु प्रमाण है ॥ १७ ॥ बहुत प्रकारके पदार्थोंको गर्भमें धारण करनेवाले और अनेक आकार व रूपसे संयुक्त उस उपमातीत (अनुपम) लोकके बहुमध्य देशमें दूने दूने

---

१ ब उब्बुद्ध, श उब्बुड. २ उ श उवदिट्ठसाराव. प ब उवविट्ठसराव ३ प ब संपुडयारो. ४ उ श असगुणावासो, प ब असुगणावासो. ५ उ प ब श मूलो. ६ श झल्लय, ७ उ प ब श लोगो. ८ उ श सुहुमाए जिणेहि, प ब सुहुम जिणेहि. ९ प ब दिसाए भागे. १० उ श उवमादीतस्स. ११ प ब गयस्स.

तस्स बहुमज्झदेसे दुगुणा दुगुणा हवंति वित्थिण्णा । बहुविहदीवसमुद्दा णाणामणिकणयसंछण्णा ॥ १९

गणणादीदाण[1] तहा सायरदीवाण मज्झभागम्मि । होदि हु जंबूदीवो तस्स हु मज्झे विदेहो हु ॥ २०

मंदरमहाचलिंदो विदेहमज्झम्मि होइ णिद्दिट्ठो । जम्माभिसेयपीढो जिणिंदचंदाण[3] णायव्वो ॥ २१

ओगाढो[4] वज्जमओ सहस्स तह जोयणा समुद्दिट्ठो । णवणवदिं उच्छेहो णाणामणिरयणपरिणामो ॥ २२

पायालतले णेया विक्खंभायाम तस्स मेरुस्स । दस य सहस्सा णउदि य दस चेव कला मुणेयव्वा ॥ २३

धरणीपट्ठे णेया दस[5] चेव सहस्स भद्दसालवणे । सिहरे एयसहस्सा वित्थिण्णो[6] पंडुकवणम्मि ॥ २४

मूले मज्झे उवरिं वज्जमओ मणिमओ य कणयमओ । तह एयं च सहस्सा इगिसट्ठिसहस्स अडतीसा ॥ २५

घणसमयघणविणिग्गयरविकिरणफुरंतभासुरो दिव्वो[7] । बहुविविहरयणमंडियवसुमइमउडो व्व उत्तुंगो ॥ २६

तियसिंदसहियसुरवरकयजम्मणमहिमंतूरणिग्घोसो[11] । जिणमहिमजणियविक्कमसुरवइणच्चंतरमणीओ ॥ २७

ससिधवलहारसंणिभखीरोवहिउच्छलंतसलिलोहो । सुररायसहस्ससंकुलकोलाहलरावरमणीओ ॥ २८

विस्तारवाले तथा नाना मणियों व सुवर्णसे व्याप्त बहुत प्रकारके द्वीप-समुद्र जानना चाहिये ॥ १८-१९ ॥ उन असंख्यात द्वीप समुद्रोंके मध्य भागमें जम्बू द्वीप और उसके भी मध्यमें विदेह क्षेत्र है ॥ २० ॥ विदेहके मध्यमें जिनेन्द्र-चन्द्रोंके जन्माभिषेकका पीठ (आसन) स्वरूप मन्दर महाचलेन्द्र (मेरु) कहा गया है ॥ २१ ॥ नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप उक्त पर्वतका वज्रमय अवगाढ (नींव) एक हजार योजन और उंचाई निन्यानबै हजार योजन प्रमाण कही गई है ॥ २२ ॥ उस मेरुका विष्कम्भ व आयाम पातालतलमें दश हजार नब्बै योजन और दश कला (१००९०$\frac{१०}{११}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ २३ ॥ उक्त मेरु पृथिवीपृष्ठपर भद्रशाल वनमें दश हजार योजन प्रमाण तथा शिखरपर पाण्डुक वनमें एक हजार योजन प्रमाण विस्तीर्ण है ॥ २४ ॥ मेरु पर्वत मूलमें एक हजार योजन प्रमाण वज्रमय, मध्यमें इकसठ हजार योजन प्रमाण मणिमय, और ऊपर अड़तीस हजार योजन प्रमाण सुवर्णमय है ॥ २५ ॥ मणि, सुवर्ण, रत्न एवं मरकत रूप पृथिवीको धारण करनेवाला वह सुमेरु रूप नरपति वर्षाकालमें मेघोंसे निकले हुए सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशमान, दिव्य, विविध प्रकारके बहुतसे रत्नोंसे मण्डित पृथिवीके मुकुटके समान उन्नत, इन्द्र सहित उत्तम देवों द्वारा की गई जन्ममहिमा (जन्मकल्याणक) के समय वादित्रोंके शब्दसे संयुक्त, जिनमाहात्म्यसे उत्पन्न हुए पराक्रमसे युक्त इन्द्रके नृत्यसे रमणीक, चन्द्र अथवा धवल हारके सदृश क्षीरोदधिके उछलते हुए जलसमूहसे

१ उ श बहुबहु. २ उ गणणादीदण. ३ उ श जिणिंदइंदाण. ४ उ उगादो, ए ब उगाढो, श उगाढो. ५ उ श दस्स. ६ उ श वित्थिण्णा. ७ उ श भासणाडोवा, ब प्रतौ 'भासुराडोवा' इत्येवं लिखित्वा तदनन्तरं 'भासुरो दिव्वो' एवं संशोधितश्च पाठोऽस्ति. ८ श तियसिंद. ९ श कर. १० उ श महिय. ११ उ श णिग्घोसा, ब णिग्घोसे.

उब्बुद्धसरावसिहरो उवविट्ठसरावसंपुडायारो[3] । णिच्चो अणाइणिहणो तसथावरअसुगणावासो[4] ॥ ९
पुव्वावरेण णेया सत्तेव य तस्स होंति रज्जूणि । दक्खिणउत्तरपासे एओ रज्जू समुद्दिट्ठो ॥ १०
मज्झे सिहरे य पुणो एया रज्जू य होइ विथिण्णा । मूले[5] य बंभलोए सत्त दु तह पंच रज्जूणि ॥ ११
उच्छेहेण य णेया चउदसरज्जू जिणेहि पण्णत्ता । सत्तेव य आयामो विक्खंभो होइ एक्को दु ॥ १२
तस्स दु मज्झे णेयो लोगो पंचेंदियाण णिद्दिट्ठो । झल्लरि[6]आयारो खलु णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि ॥ १३
तसजीवाणं लोगो चउदहरज्जूणि होइ उच्छेहो । विक्खंभायामेण य एया रज्जू मुणेयव्वा ॥ १४
पंचेंदियाण लोगे[7] बादरसुहुमा जिणेहि[8] पण्णत्ता । परदो बादररहिदो सुहुमा सव्वत्थ विण्णेया ॥ १५
पच्छिमपुव्वदिसाए विक्खंभो तस्स होइ लोयस्स । सत्तेगपंचएया मूलादो होंति रज्जूणि ॥ १६
दक्खिणउत्तरदो पुण विक्खंभो होइ सत्त रज्जूणि । चदुसु वि दिसाविभागे[9] चउदस रज्जूणि उत्तुंगो ॥ १७
लोयस्स तस्स णेया अणेयसंठाणरूवजुत्तस्स । उवमादीदस्स[10] तहा बहुभेदपयत्थगब्भस्स[11] ॥ १८

हुए सकोरेके शिखरके सदृश; एवं समस्त आकार शरावसंपुट अर्थात् दो सकोरोंको एकके ऊपर दूसरा उलटा कर रखे हुए सकोरोंके आकारका है । यह लोक अनादि-निधन तथा त्रस और स्थावर जीवोंका निवासस्थान है ॥ ८-९ ॥ यह लोक पूर्व-पश्चिममें सात राजु और दक्षिण-उत्तर पार्श्वमें एक राजु (?) कहा गया है ॥ १० ॥ उक्त लोक मध्यमें व शिखरपर एक राजु, मूलमें सात राजु, और ब्रह्म-लोकमें पांच राजु विस्तीर्ण है ॥ ११ ॥ जिनभगवान्‌ने उक्त लोकका उत्सेध चौदह राजु, आयाम सात राजु और विष्कम्भ एक राजु (?) प्रमाण कहा है ॥ १२ ॥ जिनेन्द्र भगवान्‌ने उसके मध्यमें झालरके आकार पंचेन्द्रियोंका लोक कहा है ॥ १३ ॥ त्रस जीवोंका लोक (त्रसनाली) चौदह राजु ऊंचा और एक राजु प्रमाण विष्कम्भ व आयामसे युक्त जानना चाहिये ॥ १४ ॥ जिन भगवान्‌ने पंचेन्द्रियोंके लोकमें बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीव बतलाये हैं । इसके परे वह बादर जीवोंसे रहित है । सूक्ष्म जीव सर्वत्र जानने चाहिये ॥ १५ ॥ उस लोकका विष्कम्भ पूर्व-पश्चिम दिशामें नीचेसे क्रमशः सात, एक, पांच और एक राजु प्रमाण है ॥ १६ ॥ उक्त लोकका विष्कम्भ दक्षिण-उत्तर दिशामें सात राजु है । ऊंचाई उसकी चारों ही दिशाविभागमें चौदह राजु प्रमाण है ॥ १७ ॥ बहुत प्रकारके पदार्थोंको गर्भमें धारण करनेवाले और अनेक आकार व रूपसे संयुक्त उस उपमातीत (अनुपम) लोकके बहुमध्य देशमें दूने दूने

---

१ ब उब्बुद्दु, श उबुड. २ उ श उवदिट्ठसाराव. प ब उवविट्ठसराव ३ प ब संपुडयारो. ४ उ श असगुणावासो, प ब अणुगणावासो. ५ उ प ब श मूलो. ६ श झल्लय, ७ उ प ब श लोगो. ८ उ श सहुमाए जिणेहि, प ब सुहुम जिणहि. ९ प ब दिसासु भागे. १० उ श उवमादीतस्स. ११ प ब गब्भस्स.

तस्स बहुमज्झदेसे दुगुणा दुगुणा हवंति वित्थिण्णा । बहुविहदीवसमुद्दा णाणामणिकणयसंछण्णा ॥ १९
गणणादीदाण[2] तहा सायरदीवाण मज्झभागम्मि । होदि हु जंबूदीवो तस्स दु मज्झे विदेहो दु ॥ २०
मंदरमहाचलिंदो विदेहमज्झम्मि होइ णिद्दिट्ठो । जम्माभिसेयपीढो जिणिंदयंदाण[3] णायव्वो ॥ २१
ओगाढो[4] वज्जमओ सहस्स तह जोयणो समुद्दिट्ठो । णवणवदिं उच्छेहो णाणामणिरयणपरिणामो ॥ २२
पायालतले णेया विक्खंभायाम तस्स मेरुस्स । दस य सहस्सा णउदिं य दस चेव कला मुणेयव्वा ॥ २३
धरणीपट्ठे णेया दस[5] चेव सहस्स भद्दसालवणे । सिहरे एयसहस्सा वित्थिण्णो[6] पंडुकवणम्मि ॥ २४
मूले मज्झे उवरिं वज्जमओ मणिमओ य कणयमओ । तह एयं च सहस्सा इगिसट्ठिसहस्स अडतीसा ॥२५
घणसमयघणविणिग्गयरविकिरणफुरंतभासुरो दिव्वो[7] । बहुविविहरयणमंडियवसुमइमउडो व्व उत्तुंगो ॥ २६
तियसिंदसहियसुरवरकयजम्मणमहिमंतूरणिग्घोसो[11] । जिणमहिमजणियविक्कमसुरवइणच्चंतरमणीओ ॥२७
ससिधवलहारसंणिभखीरोवहिउच्छलंतसलिलोहो । सुररायसहस्ससंकुलकोलाहलरावरमणीओ ॥ २८

....

विस्तारवाले तथा नाना मणियों व सुवर्णसे व्याप्त बहुत प्रकारके द्वीप-समुद्र जानना चाहिये ॥ १८-१९ ॥ उन असंख्यात द्वीप समुद्रोंके मध्य भागमें जम्बू द्वीप और उसके भी मध्यमें विदेह क्षेत्र है ॥ २० ॥ विदेहके मध्यमें जिनेन्द्र-चन्द्रोंके जन्माभिषेकका पीठ (आसन) स्वरूप मन्दर महाचलेन्द्र (मेरु) कहा गया है ॥ २१ ॥ नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप उक्त पर्वतका वज्रमय अवगाढ (नीव) एक हजार योजन और उंचाई निन्यानवै हजार योजन प्रमाण कही गई है ॥ २२ ॥ उस मेरुका विष्कम्भ व आयाम पातालतलमें दश हजार नव्वै योजन और दश कला ($१००९०\frac{१०}{११}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ २३ ॥ उक्त मेरु पृथिवीपृष्ठपर भद्रशाल वनमें दश हजार योजन प्रमाण तथा शिखरपर पाण्डुक वनमें एक हजार योजन प्रमाण विस्तीर्ण है ॥ २४ ॥ मेरु पर्वत मूलमें एक हजार योजन प्रमाण वज्रमय, मध्यमें इकसठ हजार योजन प्रमाण मणिमय, और ऊपर अड़तीस हजार योजन प्रमाण सुवर्णमय है ॥ २५ ॥ मणि, सुवर्ण, रत्न एवं मरकत रूप पृथिवीको धारण करनेवाला वह सुमेरु रूप नरपति वर्षाकालमें मेघोंसे निकले हुए सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशमान, दिव्य, विविध प्रकारके बहुतसे रत्नोंसे मण्डित पृथिवीके मुकुटके समान उन्नत, इन्द्र सहित उत्तम देवों द्वारा की गई जन्ममहिमा (जन्मकल्याणक) के समय वादित्रोंके शब्दसे संयुक्त, जिनमाहात्म्यसे उत्पन्न हुए पराक्रमसे युक्त इन्द्रके नृत्यसे रमणीक, चन्द्र अथवा धवल हारके सदृश क्षीरोदधिके उछलते हुए जलसमूहसे

....

१ उ श बहुबहु. २ उ गणणादीदण. ३ उ श जिणिदइंदाण. ४ उ उगादो, प ब उगाहो, श उगाढो. ५ उ श दस्स. ६ उ श वित्थिण्णा. ७ उ श भासणाडोत्रा, प्रतौ ' भासुराडोश ' इत्येवं लिखित्वा तदनन्तरं ' भासुरो दिव्वो ' एवं संशोधितश्च पाठोऽस्ति. ८ श तियसिंद. ९ श कर. १० उ श महिय. ११ उ श णिग्घोसा, ब णिग्घोसे.

कप्पतरुजणियबहुविहपवणवसुच्छलियकुसुमगंधड्ढो । मयरंदरेणुवासियसाणुसिलाविउलतडरम्मो[1] ॥ २९
कम्मघणबहलकक्खडसिलचूरणजिणवरिंदभवणोघो । मणिकणयरयणमरगयधरणीहरणरवई मेरू[4] ॥ ३०
जो बहुचो सो हु कडी[5] जो लहुभागो सिरो त्ति णिद्दिट्ठो । जो उच्चो सो काओ लक्खणगाणं समुद्दिट्ठो ॥३१
कडिसिरविसुद्धसेसं सयकायविभाजिदं तु इच्छगुणं । सिरसहियं णिद्दिट्ठो इच्छायामं हवे णेया ॥ ३२
[6]दस विक्खंभेण गुणं विक्खंभं तस्स लद्ध जं मूलं । वट्टाण दीवसायरगिरीण परिधी हवे तं तु ॥ ३३
विक्खंभवग्गदसगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ । विक्खंभचदुब्भागे परिरयगुणिदे हवे गणिदं ॥ ३४

सहित, लाखों देवोंसे व्याप्त होनेपर उनके कोलाहल शब्दसे रमणीक, कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुई बहुत प्रकारकी वायुके प्रभावसे उछलते हुए कुसुमोंकी गन्धसे व्याप्त, परागकी धूलिसे सुगन्धित सानुशिला युक्त विशाल तटोंसे रमणीय, तथा कर्म रूपी अतिशय सघन कठोर शिलाओंको चूर्ण करनेवाले जिनेन्द्रभवनोंके समूहसे सहित है ॥ २९–३० ॥ सब पर्वतोंका जो बहुभाग है वह कटि, जो लघु भाग है वह शिर, और जो उच्च भाग है वह काय कहा गया है ॥ ३१ ॥ कटि और शिरको परस्पर घटाकर शेषमें अपनी कायका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे इच्छासे गुणा करके शिरमें मिला देनेपर इच्छित आयामका प्रमाण जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

उदाहरण— मेरु पर्वतकी चूलिकाका विस्तार मूलमें १२ यो. और ऊपर ४ यो. है। उंचाई उसकी ४० यो. है। अत एव उसका विस्तार इच्छित २० यो. की उंचाईपर इस करणसूत्रके अनुसार इस प्रकार होगा— कटि १२, शिर ४, काय ४०; $\frac{१२-४}{४०} = \frac{१}{५}$; $\frac{१}{५} \times २० = ४$, $४ + ४ = ८$ यो. ।

विष्कम्भसे गुणित विष्कम्भको दशसे गुणा करनेपर जो प्राप्त हो उसके वर्गमूल प्रमाण वृत्त द्वीप, सागर और पर्वतोंकी परिधि होती है ॥ ३३ ॥

उदाहरण— मेरुका तलविस्तार $१००९० \frac{१०}{११} = \frac{१११०००}{११}$; $\sqrt{(\frac{१११०००}{११})^2 \times १०}$ $= ३१९१० \frac{२}{११}$ यो. (कुछ अधिक) तलविस्तारकी परिधि ।

विष्कम्भके वर्गको दशगुणा करके उसका वर्गमूल निकालनेपर वृत्त क्षेत्रकी परिधिका प्रमाण होता है । इस परिधिको विष्कम्भके चतुर्थ भागसे गुणा करनेपर उसका क्षेत्रफल प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

उदाहरण— इस करणसूत्रके अनुसार पृथिवीतलपर १०००० यो. विस्तृत मेरुका क्षेत्रफल इस प्रकार होगा — $\sqrt{१००००^2 \times १०} = ३१६२३$ यो. (कुछ कम) परिधि । $३१६२३ \times \frac{१००००}{४} = ७९०५७५००$ वर्ग यो. क्षेत्रफळ ।

१ उ श पवणवसुछलिय, प ब पवणवछुरिय. २ उ प ब श रम्मे. ३ उ कम्मघणबहलक्खड, श कम्मघहनणलक्खड. ४ श णरवरपीमेत. ५ उ श जो बहुवो हु कडी. ६ गाथेयं नोपलभ्यते प-बप्रत्योः ।

मेरुस्स इच्छपरिधी[1] इच्छायामं च इच्छखेत्तफलं । एयग्गेण मणेण य आणिज्जो करणगाहाहिं ॥ ३५
इगितीसं च सहस्सा णव य सया जोयणा य दस चेव । वे य कला साहीया अहोतले परिरओ तस्स ॥ ३६
इगितीसं च सहस्सा छच्च सदा जोयणा य तेवीसा । किंचिविसेसेणूणा उवरितले परिरयं[2] तस्स ॥ ३७
इगितीसं च सदाइं बासट्ठि जोयणा य साधीया । मंदरसिहरे परिधी णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥ ३८
कडिसिरविसेसअद्धम्हि वग्गिदे[3] कायवग्गपक्खित्ते । जं तस्स वग्गमूलं तं खलु बाहं वियाणाहि ॥ ३९
णवणउदिं च सहस्सा सदं च वे चेव जोयणाणं तु । सविसेसो[4] बोद्धव्वा रज्जू मेरुस्स पस्सभुजा ॥ ४०
वज्जिंदणीलमरगयकक्केयणरयणकणयपरिणामो[5] । अचलो[6] अणाइणिहणो चदुकाणणमंडिओ मेरू ॥ ४१
णामेण भद्दसालो सुरखेयर[7]गरुडकिण्णरावासो । मेरुस्स पढमकाणण णाणातरुगहणरमणीओ ॥ ४२
बावीसं च सहस्सा पुव्वावरवित्थडो परमरम्मो । आयामेण वियाणह विदेहविक्खंभपरिमाणो ॥ ४३
चंपयकअंबपउरो असोयपुण्णायणायसंछण्णो । मंदारसालणिवहो सत्तच्छयचूयवण्णणिचिओ[8] ॥ ४४

इन करणगाथाओंके द्वारा मेरुकी इच्छित परिधि, इच्छित आयाम और इच्छित क्षेत्रफलको एकाग्रमन होकर लाना चाहिये ॥ ३५ ॥ मेरुके नीचे परिधिका प्रमाण इकतीस हजार नौ सौ दश योजन और साधिक दो कला है ॥ ३६ ॥ उपरिम भागमें उसकी परिधिका प्रमाण इकतीस हजार छह सौ तेईस योजनसे कुछ कम है— $\sqrt{10000^2 \times 10} = 31623$ यो. से कुछ कम ॥ ३७ ॥ मेरुशिखरपर परिधिका प्रमाण सर्वदर्शियोंने इकतीस सौ बासठ योजनसे कुछ अधिक कहा है $\sqrt{1000^2 \times 10} = 3162$ यो. से कुछ अधिक ॥ ३८ ॥ कटि और शिरको परस्परमें घटाकर जो शेष रहे उसके वर्गमें कायके वर्गको मिला देनेपर जो उसका वर्गमूल हो उतना बाहु (पार्श्वभुजा) का प्रमाण जानना चाहिये ॥ ३९ ॥ मेरुकी पार्श्वभुजाका प्रमाण निन्यानबै हजार एक सौ दो योजनसे कुछ अधिक है— $\sqrt{(\frac{10000 - 1000}{2})^2 + 99000^2}$ $= \sqrt{20250000 + 9801000000} = 99102$ यो. (कुछ अधिक) ॥ ४० ॥ वज्र, इन्द्रनील, मरकत, कर्केतन रत्न एवं सुवर्णके परिणाम रूप वह अनादि-निधन मेरु पर्वत चार वनोंसे मण्डित है ॥ ४१ ॥ देव, विद्याधर, गरुड (देवविशेष) और किन्नरोंके आवास रूप मेरुका भद्रशाल नामक प्रथम वन नाना वृक्षोंके वनोंसे रमणीय है ॥ ४२ ॥ अतिशय रमणीय वह भद्रशाल वन पूर्व-पश्चिममें बाईस हजार योजन प्रमाण विस्तृत है । उसका आयाम विदेह क्षेत्रके विस्तारके बराबर जानना चाहिये ॥ ४३ ॥ उक्त वन प्रचुर चम्पक एवं कदम्ब वृक्षोंसे सहित; अशोक, पुन्नाग व नाग वृक्षोंसे व्याप्त, मन्दार व शाल वृक्षोंके समूहसे संयुक्त, सप्तच्छद व

१ प ब मेरुस्स इह परिधी, श मेरुस्स परिधी. २ उ °तले परिओ तस्स, श °तले रुस्स ३ ब °अद्धंहि मग्गदे. ४ उ श अविसेसो. ५ श ककेरणकणय. ६ प ब मचो. ७ श खेयल. ८ उ सत्तछयचूयव्वण, प ब सत्तछयपण, श मत्तच्छयच्चूयव्वण.

कप्पूरणियररुक्खो तमालहिंतालतालवाउलिदो[1] । लवलीलवंगकलिदो अइमुत्तलयाउलसिरीओ ॥ ४५
णारंगफणसपउरो कदलीवणमंडिओ परमरम्मो । बहुजादिमल्लिखचिओ कुंदज्जुणकुडयपरियरिओ ॥ ४६
वरणालिएररइओ पूगप्फलतरुवरेहि रमणीओ । तंबूलवल्लिगहणो[2] कुंकुमवच्छेहि चिंचइओ[3] ॥ ४७
एलामिरीइणिवहो कक्कोलाजादिफलसमिद्धो[4] य । चंदणपायवणिचिओ अगरुलयाकथुरियसमग्गो ॥ ४८
तस्स वणस्स दु मज्झे जिणिंदयंदाण[7] विगयमोहाणं । कंचणमणिरयणमया चत्तारि हवंति भवणाणि ॥ ४९
जोयणसयआयामा पण्णासा वित्थडा समुद्दिट्ठा । पण्णत्तरि उच्छेहा णाणामणिरयणपरिणामा ॥ ५०
अट्ठेव जोयणाइं[8] उच्छेहा होंति ताण दाराणि[9] । चउजोयणविच्छिण्णा वित्थिण्णसमप्पवेसा[10] दु ॥ ५१
सोलसजोयणदीहा पीढाओ होंति ताण णिद्दिट्ठा । अट्ठेव य उव्विद्धा मणिकिरणदलंततिमिराओ ॥ ५२
तेसु[11] जिणाणं पडिमा पंचधणुस्सयपमाणउच्छेहा । होंति सुरासुरमहिया णाणामणिकणयपरिणामा ॥ ५३
एवं चेव दु णेया णंदीसर चेय णाम दीवस्स । बावण्णजिणवराणं[12] विक्खंभायामउच्छेहा ॥ ५४

आम्र वृक्षोंके वनोंसे व्याप्त, कर्पूर वृक्षोंके समूहसे युक्त; तमाल, हिंताल एवं ताड वृक्षोंसे व्याकुलित; लवली व लवंग वृक्षोंसे कलित, अतिमुक्त लताओंके समूहसे सुशोभित, नारंग व पनस वृक्षोंसे प्रचुर, कदलीवनसे मण्डित, अतिशय रमणीय, बहुत जातिके मल्लि वृक्षोंसे खचित, कुंद, अर्जुन एवं कुटज वृक्षोंसे वेष्टित; उत्तम नालिकेर वृक्षोंसे निर्मित, सुपारीके उत्तम वृक्षोंसे रमणीय, ताम्बूल बेलोंसे गहन, कुंकुम वृक्षोंसे मण्डित, इलायची व मिरिचके वृक्षसमूहसे युक्त, कंकोल व जातिफलोंसे समृद्ध, चन्दन वृक्षोंसे निचित, तथा अगरुलता व कस्तूरीसे समग्र है ॥ ४४–४८ ॥ उस वनके मध्यमें मोहसे रहित हुए जिनेन्द्र रूप चन्द्रोंके सुवर्ण, मणि एवं रत्नोंसे निर्मित चार भवन हैं ॥ ४९ ॥ नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप वे जिनभवन सौ योजन आयत, पचास योजन विस्तृत और पचत्तर योजन ऊंचे कहे गये हैं ॥ ५० ॥ उक्त जिनभवनोंके द्वार आठ योजन ऊंचे, चार योजन विस्तृत और विस्तारके समान प्रवेशवाले होते हैं ॥ ५१ ॥ मणिकिरणोंसे अन्धकारको नष्ट करनेवाले उनके पीठ सोलह योजन दीर्घ और आठ योजन ऊंचे होते हैं ॥ ५२ ॥ उनके ऊपर सुर व असुरोंसे पूजित नाना मणियों एवं सुवर्णके परिणाम रूप पांच सौ धनुष ऊंची जिनप्रतिमायें होती हैं ॥ ५३ ॥ इसी प्रकार ही नन्दीश्वर नामक द्वीपके बावन जिनगृहोंके भी विष्कम्भ, आयाम और उंचाईका प्रमाण जानना चाहिये ॥ ५४ ॥ सब ही भद्रशालोंमें स्थित जिनगृह तीन छत्र, सिंहा-

---

१ उ हिंतालतालवाउलदो, श हिंतालताळदो. २ प ब गहणे. ३ उ श कुंकुमगोछेच्छेहि सिंचइओ, प ब कुंकुमगछहि चिंचिइयं ४ ब समधो. ५ उ पावय, श पाव. ६ प ब श अगुरु. ७ उ श णिणिंदइंदाण. ८ उ जोवणाए, श जोयणाए य. ९ प ब होंति ताणि दूराणि, श होंति सुरासुरताराणि. १० प ब °पवेसो. ११ प ब दलिद. १२ श तेसि. १३ श जिणभ्वताणं.

छत्तत्तयसीहासणभामंडलचामरादिसंजुत्ता । बहुकुसुमवरिसदुंदुहि[1]असोयरुक्खेहि अहिरामा[2] ॥ ५५
भिंगारकलसदप्पणबुब्बुदबहुधवलचामरसणाहा । घंटापडायपउरा मंगलकलसेहिं संछण्णा ॥ ५६
बहुविविहपुप्फमाला[3]मुत्तादामेहि सोहिया[4] रम्मा । दज्झंतधूमणिवहा बहुकुसुमकयच्चणसणाहा ॥ ५७
सिदहरिकसणसामलरत्तंसुयपट्टसुत्तणिवहेहिं[5] । बहुविहधयमालाउलपवणपणच्चंतसोहंता ॥ ५८
वरपडहभेरिमद्दलझंभावीणादिकंसतालेहिं । वज्जंततूरपउरा काहलकोलाहलरवेहिं ॥ ५९
संगीयसद्दबहिरियअच्छरणच्चंतमणहरालोया[12] । पवरच्छराहि भरिया सुरवरणिवहेहिं सोहंता ॥ ६०
[13]रयणमयवेदिणिवहा मणितोरणबहुविहेहि छज्जंता[14] । वरणट्टसालपउरा अहिसेयघरेहिं रमणीया ॥ ६१
पोक्खरणिवाविवप्पिणबहुभवणविचित्तकप्परुक्खेहिं । सोहंति जिणाण घरा सव्वेसु वि भद्दसालेसु ॥ ६२
एवं जे जिणभवणा णिद्दिट्ठा भद्दसालवणसंडे । चउसु वि अवसेसु वि वणेसु ते होंति अद्धद्धा ॥ ६३

सन, भामण्डल और चामरादिसे संयुक्त; बहुत कुसुमवृष्टि, दुंदुभि और अशोक वृक्षोंसे रमणीय; भृंगार, कलश, दर्पण, बुद्बुद और बहुतसे धवल चामरोंसे सनाथ; घंटा एवं पताकाओंसे प्रचुर, मंगलकलशोंसे व्याप्त, बहुतसी पुष्पमालाओं एवं मुक्तामालाओंसे शोभित, रमणीय, ऊपर उठते हुए धुंएके समूहसे सहित, बहुतसे फूलों द्वारा की गई पूजासे सनाथ; धवल, हरित, कृष्ण, श्यामल और रक्त वस्त्रों व रेशमी वस्त्रोंके समूहोंसे शोभायमान; वायुसे प्रेरित होकर नाचनेवाली बहुत प्रकारकी ध्वजाओंके समूहसे रमणीय, उत्तम पटह, भेरी, मर्दल, झंझा, वीणादि एवं कांस्यतालों तथा काहलके कोलाहल शब्दोंके साथ बजते हुए प्रचुर बाजोंसे सहित; संगीतके शब्दसे बहिरी हुई अप्सराओंके नृत्यसे मनोहर दिखनेवाले, श्रेष्ठ अप्सराओंसे परिपूर्ण, उत्तम देवोंके समूहोंसे शोभायमान, रत्नमय वेदियोंके समूहसे युक्त, बहुत प्रकारके मणितोरणोंसे सुशोभित, उत्तम एवं प्रचुर नाट्यशालाओंसे सहित, अभिषेकगृहोंसे रमणीय; तथा पुष्करिणी, वापियों एवं वप्रिणियोंसे सहित, बहुत प्रकारके भवनोंसे व विचित्र कल्पवृक्षोंसे शोभायमान हैं ॥ ५५-६२ ॥ इस प्रकार जो जिनभवन भद्रशाल वन-खंडमें कहे गये हैं उनसे आधे आधे वे शेष चारों ही वनोंमें हैं ॥ ६३ ॥ उनका उत्सेध,

१ उ श दुंदहि. २ उ अहिराम, प ब असिरामा, श आराम. ३ श बुब्बध. ४ श विविहमंडमाला. ५ उ सोसिया, श सोहया. ६ उ श उज्झंत, प उज्झंत, ब (अस्पष्टम्). ७ उ श सुत्ताणिवेहिं, प ब सुत्तणेवेहिं. ८ श विहुविह. ९ उ पवणपणअंत, श पवलपणच्चंत. १० उ श संगीय. ११ प ब बहिरिया. १२ ब मणहरालोया. १३ प-बप्रत्योः ६१-६२तमगाथयोर्व्यत्ययो दृश्यते। १४ श सोहंता १५ उ प ब श °पट्ठा

उच्छेहा आयामा विक्खंभा जोयणा य जे दिट्ठा[1] । णंदणसोमणपंडुववणेसु[2] ते होंति अद्धद्धा ॥ ६४
जंबूदीवस्स जहा मेरुस्स हवंति दिव्वजिणभवणा । सेसाणं मेरूणं तह एव हवंति जिणभवणा ॥ ६५
जह भद्दसालवणे जिणभवणा वण्णिदा समासेण । तह वण्णणा य सेसा सोमणसादीसु वि वणेसु ॥ ६६
एक्केक्कवरणगाणं वणसंडा सोलसा समुद्दिट्ठा । सव्वेसु वणेसु तहा जिणभवणा होंति णायव्वा ॥ ६७
मंदरवणेसु णेया जिणभवणाणं पमाणपरिसंखा । असिदी हवंति दिट्ठा उत्तमणाणप्पदीवेहि ॥ ६८
एवं उत्तमभवणा[4] सव्वे वि हवंति कंचणमयाणि । णाणारयणविचित्ता णिच्चुज्जोवा[5] सुगंधड्ढा ॥ ६९
सव्वे अणाइणिहणा सव्वे वरदिव्वरूवसंपण्णा । सव्वे आचिंतरूया सव्वे बहुदेवदेविसंपण्णा[6] ॥ ७०
सव्वे तोरणणिवहा सव्वे वरवेदिएहि संजुत्ता[7] । सव्वे सणट्टसाला[8] सव्वे सोहंति जिणभवणा ॥ ७१
मंदरमहागिरीणं जिणभवणावण्णणा जहा[10] चेव । अवसेसाण गिरीणं जिणभवणावण्णणा तह य ॥ ७२
सव्वाण गिरिवराणं जिणवरभवणा जहा समुद्दिट्ठा । सव्वाणं दीवाणं[11] जिणवरभवणा तहा चेव ॥ ७३

आयाम और विष्कम्भ जितने योजन प्रमाण भद्रशाल वनमें कहा गया है, उससे वह उत्तरोत्तर आधा आधा होता हुआ नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वनमें है ॥ ६४ ॥ जिस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरुके दिव्य जिनभवन हैं, उसी प्रकार शेष मेरुओंके भी जिनभवन होते हैं ॥ ६५ ॥ जिस प्रकार भद्रशाल वनके जिनभवनोंका संक्षेपसे वर्णन किया है, उसी प्रकार शेष सौमनसादिक वनोंमें भी स्थित जिनभवनोंका वर्णन करना चाहिये ॥ ६६ ॥ एक एक उत्तम पर्वतके सोलह वन-खंड कहे गये हैं। तथा इन सब वनोंमें जिन-भवन भी होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६७ ॥ मन्दर पर्वत सम्बन्धी वनोंमें जिन-भवनोंके प्रमाणकी संख्या अस्सी है, ऐसा उत्तम ज्ञानरूपी दीपकसे संयुक्त जिन भगवान्ने कहा है ॥ ६८ ॥ इस प्रकार सब ही उत्तम भवन सुवर्णसे निर्मित, नाना रत्नोंसे विचित्र, नित्य प्रकाशमान, सुगन्ध गन्धसे व्याप्त, सब ही अनादि-निधन, सब ही उत्तम दिव्य रूपसे सम्पन्न, सब ही अचिन्त्य रूपसे सहित, सब ही बहुतसे देव-देवियोंसे व्याप्त, सब ही तोरणसमूहसे संयुक्त, सब ही उत्तम वेदियोंसे सहित, तथा सब ही जिनभवन नाट्यशालाओंसे सहित होते हुए शोभायमान हैं ॥ ६९–७१ ॥ जिस प्रकार मन्दर महापर्वतों सम्बन्धी जिनभवनोंका वर्णन किया गया है, उसी प्रकार शेष पर्वतोंके जिनभवनोंका वर्णन समझना चाहिये ॥ ७२ ॥ जिस प्रकार [जम्बूद्वीप] सम्बन्धी सब श्रेष्ठ पर्वतोंके जिनेन्द्रभवन कहे गये हैं, उसी प्रकार सब द्वीपोंके [पर्वतोंपर] जिनेन्द्रभवन समझना चाहिये ॥ ७३ ॥ भद्रशाल वनमें मेरुके प्रदक्षिण क्रमसे

---

१ उ जोयणाण णिद्दिट्ठा, श जोयणा णिद्दिट्ठा. २ उ णंदसणसोमग, श णंदशणसोमण. ३ ब पंडुवणेसु. ४ प ब भुवणा. ५ उ णिछजोवा, श णिच्छजोवा. ६ प ब बहुदेवासछण्णा. ७ प ब संजुत्ता. ८ उ श सपट्टसाला, प ब सुपट्टसाला. ९ प ब मंदिर. १० उ भवणाण जहा, श भवणावण्णाण जहा. ११ श जीवाणं.

तहिं चेव भद्दसाले मेरुस्स पदाहिणेण णिद्दिट्ठा । णामेण दिसगइंदा अट्ठेव य पव्वया होंति ॥ ७४
पउमोत्तरो य णीलो सोवत्थिय अंजणो य कुमुदो य । पव्वदपलासणामो अवदंसो रोयणागिरी य[1] ॥ ७५
सयजोयणउव्विद्धा सयजोयणवित्थडा हु मूलेसु[2] । सिहरेसु[3] य पण्णासा पणुवीसा गाढ धरणियले ॥ ७६
सीदासीदोदाणं तडेसु ते होंति पव्वदा रम्मा । एक्केक्काण णदीणं चउरो चउरो य णायव्वा ॥ ७७
वणवेदीपरिखित्ता मूलेसु तहा णगाण[4] सिहरेसु । मणितोरणेहिं रम्मा णाणामणिरयणदिप्पंता ॥ ७८
सिहरेसु देवणयरा णाणापासादभूसिदा[5] रम्मा । सुरसुंदरिसंछण्णा वरपोक्खरिणीहिं कयसोहा ॥ ७९
धुव्वंतधयवडाया जिणभवणविहूसिया मणभिरामा । सुरसयसहस्सपउरा अणाइणिहणा हु ते णयरा ॥ ८०
णयरेसु तेसु राया णामेण य दिसगइंदणामसुरा । पलिदोवमाउगा ते अच्छंति महाणुभावेण ॥ ८१
पंचसया उच्चत्तं मंदरतलपीढियाखिदितलादो[6] । वित्थिण्णा पंचसया पढमा सेढी णगवरस्स ॥ ८२
वणवेदीपरिखित्ते मणितोरणमंडिदे पढमपीढे । चदुसु वि दिसासु[7] रम्मा सुरभवणा होंति चत्तारि ॥ ८३

स्थित आठ दिग्गजेन्द्र नामक पर्वत कहे गये हैं ॥ ७४ ॥ पद्मोत्तर, नील, स्वस्तिक, अंजन, कुमुद, पलाश पर्वत, अवतंस और रोचनगिरि, ये उन दिग्गज पर्वतोंके नाम हैं ॥ ७५ ॥ उक्त पर्वत सौ योजन ऊंचे, मूलमें सौ तथा शिखरोंपर पचास योजन विस्तृत, और पृथ्वीतलमें पच्चीस योजन अवगाहसे युक्त हैं ॥ ७६ ॥ वे रमणीय पर्वत सीता-सीतोदा नदियोंमेंसे एक एकके तटोंपर चार चार जानने चाहिये ॥ ७७ ॥ उक्त पर्वत मूलमें और शिखरोंपर वनवेदीसे वेष्टित, मणिमय तोरणोंसे रमणीय और नाना मणियों एवं रत्नोंसे देदीप्यमान हैं ॥ ७८ ॥ पर्वतोंके शिखरोंपर जो देवनगर हैं वे नाना प्रासादोंसे भूषित, रमणीय, सुरसुन्दरियोंसे व्याप्त, उत्तम पुष्करिणियोंसे शोभायमान, फहराती हुई ध्वजा-पताकाओंसे सहित, जिनभवनोंसे विभूषित, मनको अभिराम, लाखों देवोंसे प्रचुर और अनादि-निधन हैं ॥ ७९-८० ॥ उन नगरोंमें जो दिग्गजेन्द्र पर्वतोंके समान नामवाले अधिपति देव हैं वे पल्योपम प्रमाण आयुके धारक होते हुए वहां महा प्रभावके साथ रहते हैं ॥ ८१ ॥ मन्दरतलपीठिका रूप पृथिवीतलसे पांच सौ योजन ऊपर जाकर पांच सौ योजन विस्तीर्ण मेरु पर्वतकी प्रथम श्रेणी (प्रथम परिधि) है ॥ ८२ ॥ वनवेदीसे वेष्टित एवं मणिमय तोरणोंसे मण्डित उक्त प्रथम पीठपर चारों ही दिशाओंमें रमणीय चार देवप्रासाद हैं ॥ ८३ ॥ वहां सोम, यम, वरुण और कुबेर

---

१ उ गरीया, श गरी य. २ उ श वित्थडा य ति मूलेसु. ३ उ श जिहरेसु. ४ उ प ब श णगण. ५ उ श भूमिदा, ब भूमिया. ६ प मंदिरगिरिपीढिया, ब मंदिरगिरिपीढिया. ७ उ श खिदितला. ८ उ श धण. ९ उ श दिससु.

मणिभवणचारणालयगंधव्वणिवासचित्तणामाणि । सोमजमवरुणधणवइदेवाणं कीडणागेहा ॥ ८४
विक्खंभायामेण य जोयणतीसा हवंति णायव्वा । पण्णासा उत्तुंगा वरभवणा रयणपरिणामा ॥ ८५
णंदणवणम्मि णेया ते भवणा विविहरयणपरिणामा । पुव्वादिदिसविभागे पदाहिणा[1] होंति मेरुस्स ॥ ८६
अद्धुट्ठा कोडीओ गिरिकण्णाओ हवंति भवणेसु । एक्केक्केसु वियाणह णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहि ॥ ८७
लायण्णरूवजोव्वणेअच्छेरयपेच्छणिज्ज सव्वा हु[3] । सोमादीदेवाणं णायव्वा[4] होंति कण्णाओ ॥ ८८
सोमणसपंडुयाणं एसेव कमो हवइ णायव्वो[5] । देवीणं परिसंखा भवणाणं चावि एमेवं ॥ ८९
णवरि विसेसो जाणे उच्छेहायाम तह य[6] विक्खंभा । णामाणि य भवणाणं अण्णण्णं[7] होंति णिद्दिट्ठा ॥ ९०
वज्जभवणो य णामो वज्जप्पह तह सुवण्णणामा य । अवरो सुवण्णतेओ सोमणसवणस्स णायव्वा ॥ ९१
विक्खंभायामेण य पण्णरसा[8] जोयणा समुद्दिट्ठा । [9]पणुवीसा उच्छेहा वरभवणा होंति रयणमया ॥ ९२
लोहिय अंजणणामो हारिद्दो[10] भवण सेदणामो य । पासादा पंडुवणे णाणामणिरयणसंछण्णा ॥ ९३
विक्खंभायामेण य अद्धट्ठ[11] जोयणा समुद्दिट्ठा । अद्धत्तेरसतुंगा रयणमया पंडुवणगेहा ॥ ९४

देवोंके क्रमशः मणिभवन (मान, मानी), चारणालय, गन्धर्वनिवास और चित्र नामक क्रीडागृह हैं ॥ ८४ ॥ रत्नोंके परिणाम रूप वे उत्तम भवन तीस योजन प्रमाण विष्कम्भ व आयामसे सहित तथा पचास योजन ऊंचे जानना चाहिये ॥ ८५ ॥ विविध रत्नोंके परिणाम रूप वे भवन नन्दन वनमें मेरुके प्रदक्षिणक्रमसे पूर्वादिक दिशाभागमें स्थित हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ८६ ॥ एक एक भवनमें साढ़े तीन करोड़ गिरिकन्यायें होती हैं, ऐसा जिनेन्द्र देवके द्वारा निर्दिष्ट किया गया जानो ॥ ८७ ॥ आश्चर्यजनक लावण्य, रूप और यौवनसे दर्शनीय उक्त सब कन्यायें सोमादिक देवोंकी जाननी चाहिये ॥ ८८ ॥ यही क्रम सौमनस और पाण्डुक वनमें स्थित गृहोंका भी जानना चाहिये । वहां देवियों व भवनोंकी भी संख्या समान है ॥ ८९ ॥ विशेष केवल इतना जानना चाहिये कि भवनोंका उत्सेध, आयाम तथा विष्कम्भ और नाम भिन्न भिन्न कहे गये हैं ॥ ९० ॥ वज्र, वज्रप्रभ, सुवर्ण और सुवर्णतेज, ये सौमनस वनके भवनोंके नाम जानना चाहिये ॥ ९१ ॥ उक्त रत्नमय उत्तम भवन पन्द्रह योजन विष्कम्भ व आयामसे सहित तथा पच्चीस योजन ऊंचे कहे गये हैं ॥ ९२ ॥ लोहित, अंजन, हारिद्र और श्वेत (पाण्डु), ये पाण्डुक वनमें स्थित उन प्रासादोंके नाम हैं । ये प्रासाद नाना मणियों एवं रत्नोंसे व्याप्त हैं ॥ ९३ ॥ उक्त पाण्डुक वनके रत्नमय भवन साढ़े सात योजन प्रमाण विष्कम्भ व आयामसे सहित तथा साढ़े बारह योजन ऊंचे हैं ॥ ९४ ॥ फहराती हुई ध्वजा-पताकाओंसे सहित, उत्तम

---

१ उ श पदाहिणे (शप्रतौ 'पदाहिणे' इत्यत आरभ्य 'हवंति भवणे-' पर्यन्तः पाठस्त्रुटितः). २ उ श लोयण. ३ उ प ब श सव्वासु. ४ उ श णायव्वा. ५ श वावि एममेव. ६ लह य ७ प ब अण्णाणा. ८ ब पण्णारसा. ९ प-बप्रत्योः ९२तमगाथाया उत्तरार्द्धं नोपलभ्यते. १० उ श हारिदो. ११ उ श अद्धम-

धुव्वंतधयवडाया वरतोरणमंडिया परमरम्मा । कालागरुगंधड्ढो बहुकुसुमकयच्चणसणाहा ॥ ९५
सिंहासणसंजुत्ता कोमलपल्लंकसयणतलपउरा । पवरच्छराहि[1] भरिया अच्छेरयरूवसाराहि ॥ ९६
सव्वे वि पंचवण्णा णाणामणिकणयरयणसंछण्णा । उदियक्कमंडलणिभा संपुण्णमियंकउज्जोवा ॥ ९७
सोमजमवरुणवासवणामाणं लोयवालदेवाणं । ते होंति हु पासादा पुव्वक्कयसुकयकम्मेहि ॥ ९८
जोयणसहस्स तुंगो विरिथिण्णायाम तेत्तिओ दिट्ठो । बलभद्दणामकूडो णाणामणिरयणपरिणामो ॥ ९९
पुव्वुत्तरम्मि भागे ईसाणे होइ णंदणवणस्स । बलभद्दणामदेवो सिहरम्मि महाबलो वसइ ॥ १००
णंदणवण रुंभित्ता पंचसया जोयणा दु णिस्सरिदो[7] । आयासं पंचसया रुंधित्ता ठाइ[8] सो सेलो ॥ १०१
सिहरम्मि तस्स णेया देवाण पुरा हवंति रमणीया । पायारगोउरजुदा वावीवणसंडसंजुत्ता ॥ १०२
णंदणमंदरणिसधा हिमविजया रुजयसायरा वज्जो[9] । अट्ठेव समुद्दिट्ठा मेरुस्स पदाहिणे कूडा ॥ १०३
विक्खंभायामेण य पंचेव सयाणि होंति मूलेसु । उच्छेहा पंचसया तदद्ध सिहरेसु विरिथिण्णा ॥ १०४

तोरणोंसे मण्डित, अतिशय रमणीय, कालागरुके गन्धसे व्याप्त, बहुत कुसुमोंसे की गई पूजासे सनाथ, सिंहासनसे संयुक्त, प्रचुर कोमल पर्यंक (पलंग) एवं शय्यातलोंसे सहित, आश्चर्यजनक श्रेष्ठ रूपवाली उत्तम अप्सराओंसे परिपूर्ण, सब ही पांच वर्णवाले; नाना मणि, सुवर्ण एवं रत्नोंसे व्याप्त, उदयको प्राप्त हुए सूर्यमण्डलके सदृश, और सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान उद्योतवाले वे प्रासाद सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक लोकपालोंके पूर्वकृत पुण्य कर्मसे होते हैं ॥ ९५-९८ ॥ नन्दन वनके पूर्वोत्तर भाग रूप ईशान दिशामें एक हजार योजन ऊंचा, इतना ही विस्तीर्ण व आयत, नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप बलभद्र नामक कूट कहा गया है। उसके शिखरपर महा बलवान् बलभद्र नामक देव निवास करता है ॥ ९९-१०० ॥ वह पर्वत पांच सौ योजन प्रमाण नन्दन वनको रोककर फिर वहांसे निकल पांच सौ योजन प्रमाण आकाशको रोककर स्थित है ॥ १०१ ॥ उसके शिखरपर प्राकार व गोपुरोंसे युक्त तथा वापी और वनखण्डोंसे संयुक्त देवोंके रमणीय नगर हैं ॥ १०२ ॥ [जिनभवनोंके दोनों पार्श्वभागोंमें] मेरुके प्रदक्षिण रूपसे नन्दन, मन्दर, निषध, हिम (हिमवान्), विजय (रजत), रुचक, सागर और वज्र, ये आठ कूट कहे गये हैं ॥ १०३ ॥ ये कूट मूलमें पांच सौ योजन विष्कम्भ व आयामसे सहित, पांच सौ योजन ऊंचे, और शिखरोंपर इससे आधे अर्थात् अढ़ाई सौ योजन प्रमाण विस्तीर्ण हैं ॥ १०४ ॥ नन्दन

---

१ उ श संदट्ठा. २ प ब वय. ३ उ श पवरच्छराय, प ब पवराछाय. ४ प ब छेरय. ५ उ उदयक्क, प ब उदयक, श उदयक. ६ श णंदणवहंभिता. ७ उ श णिस्सरिदे. ८ प ब वाइ, श वाइ. ९ उ अद्दजसायरावज्जो, श अदजसायरवज्जे.

णंदणवणस्स कूडा पुव्वादिकमेण होंति णायव्वा । जिणइंदवरघराणं उभयप्पासेसु[1] दो दो दु ॥ १०५

गिरिकूडवरगिहेसु य दिव्वामलरूवदेहधारीओ । दिसकण्णकुमारीओ वसंति[2] परिवारजुत्ताओ ॥ १०६

कण्णकुमारीण घरा कोसायामा तदद्धविक्खंभा । पण्णरस धणुसदाइं[3] उत्तुंगा कूडसिहरेसु ॥ १०७

मेघकरा मेघवदी सुमेघा तह मेघमालिणी णाम । तोयंधरा विचित्ता मणिमालिणि णिंदिदा इदरा[4] ॥ १०८

एदाओ देवीओ अट्ठेव य होंति तेसु कूडेसु । णंदणवणस्स णेया पदाहिणे मंदरगिरिस्स ॥ १०९

उप्पलकुमुदा णलिणा तह उप्पलउज्जला दु णामाओ । दक्खिणपुव्वे णेया वावीओ होंति विमलाओ ॥ ११०

भिंगा भिंगणिभा तह कज्जलवर कज्जलाभ पवराओ । दक्खिणपच्छिमभागे णिम्मलजलपुण्णवावीओ ॥

सिरिभद्दा सिरिकंता सिरिमहिदा[5] तह य होदि सिरिणिलया । अवरुत्तरम्मि भागे णीलुप्पलकुमुदछण्णाओ ॥

णलिणा य णलिणगुम्मा कुमुदा कुमुदप्पभा य वावीओ[6] । पुव्वुत्तरम्मि भागे णायव्वा णंदणवणस्स ॥ ११३

पणुवीसा विक्खंभा पण्णासा जोयणा य आयामा[8] । दस जोयणावगाढा वावीण पमाणपरिसंखा ॥ ११४

दिणयरमऊहचुंबियवियसियसयवत्तसंडणिवहाओ । मयरंदरेणुपिंजरससिधवलसुगंधसलिलाओ ॥ ११५

वनके उपर्युक्त कूट पूर्वादिक्रमसे जिनभवनोंके दोनों पार्श्वभागोंमें दो दो होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ १०५ ॥ गिरिके कूटोंपर स्थित गृहोंमें दिव्य व निर्मल रूपसे युक्त देहको धारण करनेवाली दिक्कन्याकुमारियां अपने परिवारसे युक्त होकर निवास करती हैं ॥ १०६ ॥ कूटशिखरोंपर स्थित उक्त दिक्कन्याकुमारियोंके गृह एक कोश आयत, इससे आधे विस्तृत, और पन्द्रह सौ धनुष प्रमाण ऊंचे हैं ॥ १०७ ॥ मन्दरगिरि सम्बन्धी नन्दन वनके उन कूटोंपर प्रदक्षिणक्रमसे मेघकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयंधरा, विचित्रा, मणिमालिनी और अनिंदिता, ये आठ देवियां रहती हैं ॥ १०८-१०९ ॥ नन्दन वनके दक्षिण-पूर्वमें उत्पला, कुमुदा, नलिना व उत्पलोज्ज्वला नामक निर्मल वापिकायें जाननी चाहिये ॥ ११० ॥ उसके दक्षिण-पश्चिम भागमें भृंगा, भृंगनिभा, कज्जला तथा कज्जलाभा नामक निर्मल जलसे परिपूर्ण श्रेष्ठ वापियां हैं ॥ १११ ॥ उसके पश्चिमोत्तर भागमें नीलोत्पल और कुमुदोंसे व्याप्त श्रीभद्रा, श्रीकान्ता, श्रीमहिता तथा श्रीनिलया नामक वापियां हैं ॥ ११२ ॥ नन्दन वनके पूर्वोत्तर भागमें कुमुदोंसे व्याप्त नलिना, नलिनगुल्मा, कुमुदा और कुमुदप्रभा नामक वापियां हैं ॥ ११३ ॥ विष्कम्भ पच्चीस योजन, आयाम पचास योजन, और अवगाढ़ दश योजन, यह उन वापियोंके प्रमाणकी संख्या है ॥ ११४ ॥ उक्त सब वापियां दिनकर (सूर्य) की किरणोंसे चुम्बित होकर विकासको प्राप्त हुए कमलखण्डोंके समूहसे सहित, परागकी धूलिसे पीत वर्णको प्राप्त हुए चन्द्रवत् धवल

---

१ उ उभयपासेसु, प ब उभये पासेसु, श उभर्णे पासेसु. २ प ब वसति. ३ प ब पण्णरस धदाइं. ४ उ श मणमालिणि इदिदा इइरा. ५ प ब सिरिमहदा. ६ उ गुम्मा कुमुदप्पभा य वावीओ, श गुम्मा कुमुदा कुमुदप्पलकुमुदच्छण्णाओ. ७ शप्रतावेतस्या गाथाया उत्तरार्द्धं त्रुटितम्. ८ प ब पण्णासा जोय आयामा ९ उ दिणयरमऊहयुंविय, श दियणरमओहवुंचिविय. १० प ब विया वियसियसत्तचत्त, श वियसियसियवत्त.

सिसिरयरकरविणिग्गयं'विभिण्णवरकुमुदकुसुमपउराओ । पवणवसचलियं'णिम्मलतरंगरंगंतरमणाओ ॥
गयणयरजुवईमज्जणवियलियधम्मिल्लकुसुमणिवहाओ । खयरविलासिणिउरयर्देकुंकुमपंकेण लित्ताओ ॥
विज्जाहरवरसुंदरिजलकीडासद्दरावमुहलाओ । उच्छलियदूरबहुजलपडायसंघायरमणाओ ॥ ११८
वणवेदीजुत्ताओ वरतोरणमंडियाओ सव्वाओ । सोहंति हु वावीओ णिम्मलसलिलेहिं पुण्णाओ ॥ ११९
दक्खिणदिसाविभागे सोहम्मिंदस्स होंति वावीओ । उत्तरदिसाविभाए ईसाणिंदस्स णायव्वा ॥ १२०
वावीसु होंति गेहा तरंगसंवट्टसद्दगंभीरा । दिव्वामोयसुयंधा रयणुज्जलकिरणपिंजरिया ॥ १२१
बासट्ठिजोयणाइं[13] बे कोसा वरघरा[14] समुत्तुंगा । सक्कोसा इगितीसा विक्खंभायाम णिद्दिट्ठा ॥ १२२
तेसु घरेसु[15] वि णेया णाणामणिविप्फुरंतकिरणेसु । सीहासणा विचित्ता इंदाण सभा समुद्दिट्ठा १२३
इंदा सलोयवाला अच्छरसहिदा य वाविभवणेसु । कीडंति पहिट्ठमणा पुव्वक्कयं'णिम्मलतवेण ॥ १२४
एवं सोमणसवणे वावीओ विमलसलिलपुण्णाओ । कंचणकूडा य तहा पासादा होंति णायव्वा ॥ १२५

सुगन्धित जलसे परिपूर्ण, चन्द्रकिरणोंके निकलनेसे विकासको प्राप्त हुए प्रचुर उत्तम कुमुदकुसुमोंसे युक्त, पवनके प्रभावसे उठती हुई निर्मल तरंगोंके चलनेसे रमणीय, विद्याधरयुवतियोंके स्नान करनेमें निकले हुए चोटीके फूलोंके समूहसे संयुक्त, विद्याधरविलासिनियोंके उरस्थलसे निकले हुए कुंकुमपंकसे लिप्त, विद्याधरोंकी श्रेष्ठ सुन्दरियोंकी जलक्रीड़ाके शब्दसे मुखरित, दूर तक उछलते हुए बहुतसे जलबिन्दुओंके संघातसे रमणीय, वन और वेदियोंसे युक्त, उत्तम तोरणोंसे मण्डित, और निर्मल जलसे परिपूर्ण होती हुई शोभायमान हैं ॥ ११५-११९ ॥ दक्षिणदिशा विभागमें सौधर्म इन्द्रकी वापियां और उत्तरदिशा विभागमें ईशान इन्द्रकी वापियां जाननी चाहिये ॥ १२० ॥ वापियोंमें तरंगोंके टकरानेके शब्दसे गम्भीर, दिव्य आमोदसे सुगन्धित और रत्नोंकी उज्ज्वल किरणोंसे पीत वर्ण हुए गृह होते हैं ॥ १२१ ॥ इन उत्तम गृहोंकी उंचाई बासठ योजन दो कोश (६२½ यो.) और विष्कम्भ तथा आयाम एक कोश सहित इकतीस (३१¼) योजन प्रमाण कहा गया है ॥ १२२ ॥ नाना मणियोंकी प्रकाशमान किरणोंसे सहित उन गृहोंमें भी विचित्र सिंहासनोंसे युक्त इन्द्रोंकी सभा कही गई है ॥ १२३ ॥ पूर्वकृत तपके प्रभावसे लोकपालों और अप्सराओंसे सहित इन्द्र मनमें हर्षित होते हुए इन वापीभवनोंमें क्रीड़ा करते हैं ॥ १२४ ॥ इसी प्रकार सौमनस वनमें भी निर्मल जलसे परिपूर्ण वापियां, कंचनकूट तथा प्रासाद जानना चाहिये ॥ १२५ ॥ नन्दन वनसे बासठ हजार पांच सौ

१ प य सिसियरकरविणिग्गय. २ श विलिय. ३ उ गयणयरज्जुवई, प ब गइणयरजुवय, श गयणयरहुवई. ४ श लम्मिल्ल. ५ उ श खयल, प ब खर. ६ उ उरयडु, प ब उरपड, श उरपड्ड. ७ उ श विज्जाहरिवरसुंदरी, प ब विज्जाहरवसुंदरी. ८ उ श कील, प ब कीला. ९ उ जलपाडयसंग्घाय, प ब जलपडायसंघाय, श जलपाछयसंग्घाय. १० उ सोहंति बहु. ११ श संवट्ट. १२ श सुरंधा णयणुज्जलं. १३ उ श जोयणाए. १४ उ श वरग्वरा. १५ उ श ग्वरेसु. १६ उ पुव्वकय, श पुव्वकरा.

बासट्ठिं[1] च सहस्सा पंचसया जोयणा य उप्पइया[2] । णंदणवणादु णेया सोमणसवणं[3] समुद्दिट्ठं ॥ १२६
पंचेव[4] जोयणसया विच्छिण्णो रयणजालकिरणोहो । देवासुरिंदणिवहो जिणभवणविहूसिओ दिव्वो ॥ १२७
बेगाउदउव्विद्धा पंचधणुस्सयपमाणविच्छिण्णा । वणवेदी णिद्दिट्ठा णंदणवणसोमणस्साणं ॥ १२८
अवसेसाण वणाणं सव्वाण गिरीण[5] सव्वसरियाणं । उच्छेहो विक्खंभो एसेव कमो दु वेदीणं ॥ १२९
तत्तो[6] सोमणसादो उड्ढं छत्तीसजोयणसहस्सा । गंतूण पंडुकवणं होइ महातेयसंपण्णं ॥ १३०
छज्जोयणपरिहीणो पंचसया जोयणा य विच्छिण्णो । बहुविहतरुगणपउरो[7] वरमंदरसिहरवणसंडो ॥ १३१
पंडुकवणस्स मज्झे वेरुलियमया दु[8] चूलिया दिट्ठा[9] । मणिगणजलंतणिवहा जोयण चालीसउत्तुंगा ॥ १३२
बारह जोयण मूले मज्झे अट्ठेव जोयणा णेया । सिहरे चत्तारि हवे विक्खंभायामपरिसंखा ॥ १३३
मंदरमहाणगाणं वेदीणं चूलियाण कूडाणं । सव्वाण पव्वदाणं भवणाणं वरघराणं[10] च ॥ १३४

योजन ऊपर सौमनस वन कहा गया जानना चाहिये ॥ १२६ ॥ यह दिव्य वन पांच सौ योजन विस्तीर्ण, रत्नसमूहकी किरणमालासे संयुक्त, देवेन्द्र एवं असुरेन्द्रोंके समूहसे सहित, और जिनभवनोंसे विभूषित है ॥ १२७ ॥ नन्दन वन और सौमनस वनकी वनवेदी दो कोश ऊंची और पांच सौ धनुष प्रमाण विस्तीर्ण कही गई है ॥ १२८ ॥ शेष सब वनों, पर्वतों और सब नदियोंकी वेदियोंकी उंचाई व विष्कम्भका यही क्रम जानना चाहिये ॥ १२९ ॥ सौमनस वनसे छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर महा तेजसे सम्पन्न पाण्डुक वन है ॥ १३० ॥ उत्तम मन्दर पर्वतके शिखर सम्बधी यह वन-खण्ड छह योजन कम पांच सौ (४९४) योजन विस्तीर्ण व बहुत प्रकारके प्रचुर वृक्षोंके समूहसे सहित वनखण्डोंसे संयुक्त है ॥ १३१ ॥ पाण्डुक वनके मध्यमें चमकते हुए मणिसमूहोंसे सहित और चालीस योजन ऊंची दीर्घ वैडूर्यमय चूलिका है ॥ १३२ ॥ इसके विष्कम्भ और आयामका प्रमाण मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन, और शिखरपर चार योजन जानना चाहिये ॥ १३३ ॥ कटि (मूलविस्तार) और शिर (शिखरविस्तार) को परस्परमें घटाकर [शेषको उत्सेधसे भाजित करनेपर जो लब्ध हो] उतना भूमिकी अपेक्षा इनके विष्कम्भमें हानिका तथा मुखकी अपेक्षा वृद्धिका प्रमाण होता है । इसको अभीष्ट स्थानकी उंचाईसे गुणा करनेपर जो प्राप्त हो उसे मूलविस्तारमेंसे कम करने अथवा मुखमें मिला देनेपर अभीष्ट स्थानमें इच्छित विस्तारका प्रमाण होता है । इन करणगाथाओंके द्वारा मन्दर महापर्वतों, वेदियों, चूलिकाओं, कूटों,

---

१ उ श बाविट्ठिं. २ श उप्पयिया. ३ प ब सोमणवाणं ४ उ श पंचेण. ५ श सव्वाण सव्वगिरीण. ६ उ श ससो. ७ ब पवरो. ८ उ श वेतुलियमया दु, प ब वेरुलियमहा दु. ९ उ श दिघा. १० उ वरव्वराणं, श वरव्वणाणं.

कडिसिरविसुद्धसेसं इच्छगुणं तह य चेव काऊणं । विक्खंभहाणि-वड्ढी आणिज्जो करणगाहाहिं ॥ १३५
तुंगो चूलियसिहरो ण विलग्गइ[1] उडुविमाणणामस्स । तलभागे[2] णायव्वा बालपमाणेण णिद्दिट्ठा ॥ १३६
उत्तरकुरुमणुयाणं[3] कोमलसुकुमालॅणिद्धवण्णेण[5] । सिहरितलमज्झभागे[6] केसेण दु अंतरं होइ ॥ १३७
पंडुकसिला वि णेया कणयमया विविहरयणसंछण्णा । पुव्वुत्तरम्मि भागे इंदाउहसंणिहा होइ[7] ॥ १३८
दाक्खिणपुव्वदिसाए पंडुकवरकंबला सिला होइ । कुंदिंदुसंखवण्णा अट्ठमिससिसंणिभा रम्मा ॥ १३९
दक्खिणपच्छिमभागे [[8]जासवणणिभा दु इंदधणुसरिसा[9] । णामेण रत्तकंबलमहासिला होइ णायव्वा ॥ १४०
उत्तरपच्छिमभागे] सुरिंदधणुसंणिभा परमरम्मा । रत्तसिला णायव्वा तवणिज्जणिभा[10] समुद्दिट्ठा ॥ १४१
पंचसया आयामा वित्थार तदद्ध होंति णिद्दिट्ठा । चत्तारि जोयणाइं उत्तुंगाओ वरसिलाओ ॥ १४२
अइउज्जलरूवाओ वरतोरणमंडियाओ दिव्वाओ । वरवेदियजुत्ताओ मणिरयणफुरंतकिरणाओ ॥ १४३
एगेगसिलावट्टे[11] सिंहासण तिण्णि तिण्णि णिद्दिट्ठा । मणिकंचणपरिणामा णिम्मलससिकंतकिरणोहा ॥ १४४

सब पर्वतों (?) भवनों और उत्तम गृहोंके इच्छित विस्तारको लाना चाहिये (देखिये पीछे गाथा ३२) ॥ १३४–३५ ॥ उन्नत चूलिकाशिखर बालके प्रमाणसे ऋतु नामक विमानके तलभागसे नहीं लगा है, अर्थात् मेरुचूलिकाके ऊपर बाल मात्रके अन्तरसे ऋतु विमान निरालम्ब स्थित है, ऐसा निर्दिष्ट जानना चाहिये ॥ १३६ ॥ मेरुके शिखर और ऋतु विमानतलके मध्य भागमें उत्तरकुरुमें उत्पन्न मनुष्योंके कोमल, सुकुमार एवं स्निग्ध वर्णवाले एक बाल मात्रका अन्तर है ॥ १३७ ॥ पूर्वोत्तर भाग (ईशान) में इन्द्रायुध (इन्द्रधनुष) के सदृश और विविध रत्नोंसे व्याप्त सुवर्णमय पाण्डुकशिला जानना चाहिये ॥ १३८ ॥ दक्षिण-पूर्वदिशा (आग्नेय) में कुंदपुष्प, चन्द्रमा एवं शंखके समान वर्णवाली अष्टमीके चन्द्रके सदृश रमणीय उत्तम पाण्डुकंबला नामक शिला है ॥ १३९ ॥ दक्षिण-पश्चिम भाग (नैऋत्य) में जपाकुसुम व इन्द्रधनुषके सदृश रक्तकंबला नामक महा शिला जाननी चाहिये ॥ १४० ॥ उत्तर-पश्चिम (वायव्य) भागमें इन्द्रधनुषके सदृश, अतिशय रमणीय और तपनीयके समान प्रभावाली रक्तशिला कही गई है ॥ १४१ ॥ इन उत्तम शिलाओंकी लम्बाई पांच सौ योजन, विस्तार इससे आधा अर्थात् अढ़ाई सौ योजन और उंचाई चार योजन प्रमाण कही गई है ॥ १४२ ॥ उक्त शिलायें अतिशय उज्ज्वल रूपवाली, उत्तम तोरणोंसे मण्डित, दिव्य, श्रेष्ठ वेदीसे संयुक्त और मणि एवं रत्नोंकी प्रकाशमान किरणोंसे सहित हैं ॥ १४३ ॥ एक एक शिलापट्टपर मणि व सुवर्णके परिणाम रूप तथा निर्मल चन्द्रकान्त मणियोंके किरणसमूहसे संयुक्त तीन तीन सिंहासन कहे गये हैं ॥ १४४ ॥ ये सिंहासन पांच सौ धनुष ऊंचे, पांच सौ धनुष आयत,

---

१ उ लग्गह, श लिग्गइ. २ प ब उडभागो. ३ श उत्तरकुणुयाणं. ४ उ श कुसुमाल. ५ उ णिधवणेण, श णिधवलेण. ६ उ श मागो. ७ उ श °उहसणिहाइ, व °उहसणिग्गहा होय. ८ प-बप्रत्योस्त्रुटितोऽयं कोष्ठकस्थः पाठः । ९ उ °भागे जासवणनिभा दु इंदुधणु, श °भागे सुरिंदधणु. १० उ तवणिज्जणिमा, प ब तवणिज्जभा, श तवणिजुणिमा. ११ उ श पदे, प ब यट्टे.

बासट्ठिं[1] च सहस्सा पंचसया जोयणा य उप्पइया[2] । णंदणवणादु णेया सोमणसवणं[3] समुद्दिट्ठं ॥ १२६
पंचेव[4] जोयणसया विच्छिण्णो रयणजालकिरणोहो । देवासुरिंदणिवहो जिणभवणविहूसिओ दिव्वो ॥ १२७
बेगाउदउव्विद्धा पंचधणुस्सयपमाणविच्छिण्णा । वणवेदी णिद्दिट्ठा णंदणवणसोमणस्साणं ॥ १२८
अवसेसाण वणाणं सव्वाण गिरीण[5] सव्वसरियाणं । उच्छेहो विक्खंभो एसेव कमो दु वेदीणं ॥ १२९
तत्तो[6] सोमणसादो उड्ढं छत्तीसजोयणसहस्सा । गंतूण पंडुकवणं होइ महातेयसंपण्णं ॥ १३०
छज्जोयणपरिहीणो पंचसया जोयणा य विच्छिण्णो । बहुविहतरुगणपउरो[7] वरमंदरसिहरवणसंडो ॥ १३१
पंडुकवणस्स मज्झे वेरुलियमया दु[8] चूलिया दिट्ठा[9] । मणिगणजलंतणिवहा जोयण चालीसउत्तुंगा ॥ १३२
बारह जोयण मूले मज्झे अट्ठेव जोयणा णेया । सिहरे चत्तारि हवे विक्खंभायामपरिसंखा ॥ १३३
मंदरमहाणगाणं वेदीणं चूलियाण कूडाणं । सव्वाण पव्वदाणं भवणाणं वरघराणं[10] च ॥ १३४

योजन ऊपर सौमनस वन कहा गया जानना चाहिये ॥ १२६ ॥ यह दिव्य वन पांच सौ योजन विस्तीर्ण, रत्नसमूहकी किरणमालासे संयुक्त, देवेन्द्र एवं असुरेन्द्रोंके समूहसे सहित, और जिनभवनोंसे विभूषित है ॥ १२७ ॥ नन्दन वन और सौमनस वनकी वनवेदी दो कोश ऊंची और पांच सौ धनुष प्रमाण विस्तीर्ण कही गई है ॥ १२८ ॥ शेष सब वनों, पर्वतों और सब नदियोंकी वेदियोंकी उंचाई व विष्कम्भका यही क्रम जानना चाहिये ॥ १२९ ॥ सौमनस वनसे छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर महा तेजसे सम्पन्न पाण्डुक वन है ॥ १३० ॥ उत्तम मन्दर पर्वतके शिखर सम्बंधी यह वन-खण्ड छह योजन कम पांच सौ (४९४) योजन विस्तीर्ण व बहुत प्रकारके प्रचुर वृक्षोंके समूहसे सहित वनखण्डोंसे संयुक्त है ॥ १३१ ॥ पाण्डुक वनके मध्यमें चमकते हुए मणिसमूहोंसे सहित और चालीस योजन ऊंची दीर्घ वैडूर्यमय चूलिका है ॥ १३२ ॥ इसके विष्कम्भ और आयामका प्रमाण मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन, और शिखरपर चार योजन जानना चाहिये ॥ १३३ ॥ कटि (मूलविस्तार) और शिर (शिखरविस्तार) को परस्परमें घटाकर [शेषको उत्सेधसे भाजित करनेपर जो लब्ध हो] उतना भूमिकी अपेक्षा इनके विष्कम्भमें हानिका तथा मुखकी अपेक्षा वृद्धिका प्रमाण होता है । इसको अभीष्ट स्थानकी उंचाईसे गुणा करनेपर जो प्राप्त हो उसे मूलविस्तारमेंसे कम करने अथवा मुखमें मिला देनेपर अभीष्ट स्थानमें इच्छित विस्तारका प्रमाण होता है । इन करणगाथाओंके द्वारा मन्दर महापर्वतों, वेदियों, चूलिकाओं, कूटों,

---

१ उ श बाविट्ठिं. २ श उप्पयिया. ३ प ब सोमणवाणं ४ उ श पंचेण. ५ श सव्वाण सव्वगिरीण. ६ उ श सत्तो. ७ ब पवरो. ८ उ श वेतुलियमया वु, प ब वेरुलियमहा दु. ९ उ श दिष्टा. १० उ वरव्वराणं, श वरव्वणाणं.

कडिसिरविसुद्धसेसं इच्छगुणं तह य चेव काऊणं । विक्खंभहाणि-वड्ढी आणिज्जो करणगाहाहिं ॥ १३५
तुंगो चूलियसिहरो ण विलग्गइ[1] उडुविमाणणामस्स । तलभागे[2] णायव्वा बालपमाणेण णिद्दिट्ठा ॥ १३६
उत्तरकुरुमणुयाणं[3] कोमलसुकुमालणिद्धवण्णेण[5] । सिहरितलमज्झभागे[6] केसेण दु अंतरं होइ ॥ १३७
पंडुकसिला वि णेया कणयमया विविहरयणसंछण्णा । पुव्वुत्तरम्मि भागे इंदाउहसंणिहा होइ[7] ॥ १३८
दक्खिणपुव्वादिसाए पंडुकवरकंबला सिला होइ । कुंदिंदुसंखवण्णा अट्ठमिससिसंणिभा रम्मा ॥ १३९
दक्खिणपच्छिमभागे [[8]जासवणणिभा दु इंदधणुसरिसा[9] । णामेण रत्तकंबलमहासिला होइ णायव्वा ॥ १४०
उत्तरपच्छिमभागे] सुरिंदधणुसंणिभा परमरम्मा । रत्तसिला णायव्वा तवणिज्जणिभा[10] समुद्दिट्ठा ॥ १४१
पंचसया आयामा वित्थार तदद्ध होंति णिद्दिट्ठा । चत्तारि जोयणाइं उत्तुंगाओ वरसिलाओ ॥ १४२
अइउज्जलरूवाओ वरतोरणमंडियाओ दिव्वाओ । वरवेदियजुत्ताओ मणिरयणफुरंतकिरणाओ ॥ १४३
एगेगसिलापट्टे[11] सिंहासण तिण्णि तिण्णि णिद्दिट्ठा । मणिकंचणपरिणामा णिम्मलससिकंतकिरणोहा ॥ १४४

सब पर्वतों (?) भवनों और उत्तम गृहोंके इच्छित विस्तारको लाना चाहिये (देखिये पीछे गाथा ३२) ॥ १३४–३५ ॥ उन्नत चूलिकाशिखर बालके प्रमाणसे ऋतु नामक विमानके तलभागसे नहीं लगा है, अर्थात् मेरुचूलिकाके ऊपर बाल मात्रके अन्तरसे ऋतु विमान निरालम्ब स्थित है, ऐसा निर्दिष्ट जानना चाहिये ॥ १३६ ॥ मेरुके शिखर और ऋतु विमानतलके मध्य भागमें उत्तरकुरुमें उत्पन्न मनुष्योंके कोमल, सुकुमार एवं स्निग्ध वर्णवाले एक बाल मात्रका अन्तर है ॥ १३७ ॥ पूर्वोत्तर भाग (ईशान) में इन्द्रायुध (इन्द्रधनुष) के सदृश और विविध रत्नोंसे व्याप्त सुवर्णमय पाण्डुकशिला जानना चाहिये ॥ १३८ ॥ दक्षिण-पूर्वदिशा (आग्नेय) में कुंदपुष्प, चन्द्रमा एवं शंखके समान वर्णवाली अष्टमीके चन्द्रके सदृश रमणीय उत्तम पाण्डुकंबला नामक शिला है ॥ १३९ ॥ दक्षिण-पश्चिम भाग (नैऋत्य) में जपाकुसुम व इन्द्रधनुषके सदृश रक्तकंबला नामक महा शिला जाननी चाहिये ॥ १४० ॥ उत्तर-पश्चिम (वायव्य) भागमें इन्द्रधनुषके सदृश, अतिशय रमणीय और तपनीयके समान प्रभावाली रक्तशिला कही गई है ॥ १४१ ॥ इन उत्तम शिलाओंकी लम्बाई पांच सौ योजन, विस्तार इससे आधा अर्थात् अढ़ाई सौ योजन और उंचाई चार योजन प्रमाण कही गई है ॥ १४२ ॥ उक्त शिलायें अतिशय उज्ज्वल रूपवाली, उत्तम तोरणोंसे मण्डित, दिव्य, श्रेष्ठ वेदीसे संयुक्त और मणि एवं रत्नोंकी प्रकाशमान किरणोंसे सहित हैं ॥ १४३ ॥ एक एक शिलापट्टपर मणि व सुवर्णके परिणाम रूप तथा निर्मल चन्द्रकान्त मणियोंके किरणसमूहसे संयुक्त तीन तीन सिंहासन कहे गये हैं ॥ १४४ ॥ ये सिंहासन पांच सौ धनुष ऊंचे, पांच सौ धनुष आयत,

---

१ उ लग्गइ, श लिग्गइ. २ प ब उडभागो. ३ श उत्तरकुणुयाणं. ४ उ श कुसुमाल. ५ उ णिधवणेण, श णिधवलेण. ६ उ श भागो. ७ उ श °उहसणिहाइ, ब °उहसणिगहा होय. ८ प-बप्रत्योस्त्रुटितोऽयं कोष्ठकस्थः पाठः । ९ उ °भागे जासवणनिमा दु इंदुधणु, श °भागे सुरिंदधणु. १० उ तवणिज्जुणिभा, प-ब तवणिज्जभा, श तवणिज्जुणिभा. ११ उ श पदे, प ब यट्टे.

पंचधणुस्सयतुंगा आयामा ते हवंति पंचसया । विक्खंभेण य णेया अड्ढाइज्जा धणुसदाणि ॥ १४५
पुव्वाभिमुहा सव्वा सिदादवत्ता सचामराडोवा । मज्झेसु होंति दिव्वा सिंहासण जिणवरिंदाणं ॥ १४६
सोहम्मीसाणाणं इंदाणं होंति दोसु पासेसु । दाहिणवामदिसाए जहाकमेणं समुद्दिट्ठा ॥ १४७
ईसाणदिसाभागे भरहजिणिंदाण[1] दिव्वदेहाणं । पंडुकसिलावले[2] तह जम्मणमहिमा समुद्दिट्ठा ॥ १४८
अवरविदेहाण तहा वरपंडुयकंबलम्मि धूमदिसे[4] । वररत्तकंबलम्मि दु णेरदि एरावदाणं तु ॥ १४९
वाउदिसे रत्तसिला पुव्वविदेहाण जिणवरिंदाणं । जम्मणमहिमा मेरुप्पदाहिणेणं तु गंतूणं ॥ १५०
ससुरासुरदेवगणा आगंतूणं महाविभूदीए । सिंहासणेसु दिव्वा[5] जम्मणमहिमं पकुव्वंति ॥ १५१
संखवरपडहमणहरसिंहणिणाएहि घंटसद्देहि । भवणवइवाणविंतरजोइसकप्पाहिवा देवा ॥ १५२
णाऊण जिणुप्पात्तिं हरिसेहि महाविभूदिजुत्तेहि । आगच्छंति सुरवरा छायंता णहयलं सयलं ॥ १५३
इंदो वि महासत्तो तीहि[6] य परिसाहि सत्तअणियाहि । गयवरखंधारूढो एइ महाइड्ढिसंपण्णो ॥ १५४
रविससिजदु त्ति णामा परिसाणं[9] महदरा[10] समुद्दिट्ठा । अब्भंतरमज्झिमबाहिराण कमसो मुणेयव्वा ॥ १५५

और अढ़ाई सौ धनुष प्रमाण विष्कम्भसे सहित जानना चाहिये ॥ १४५ ॥ सब सिंहासन पूर्वाभिमुख, धवल आतपत्रसे संयुक्त और चामरोंके आटोपसे सहित हैं । इनमें मध्यके सिंहासन जिनेन्द्रोंके होते हैं ॥ १४६ ॥ उनके दोनों पार्श्वभागोंमें यथाक्रमसे दक्षिण और वाम (उत्तर) दिशामें सौधर्म और ईशान इन्द्रके सिंहासन कहे गये हैं ॥ १४७ ॥ ईशान दिशाभागमें स्थित पाण्डुकशिलातलपर दिव्य देहके धारक भरतक्षेत्र सम्बन्धी जिनेन्द्रोंके जन्मकी महिमा कही गई है ॥ १४८ ॥ अग्नि दिशामें स्थित उत्तम पाण्डुकम्बल शिलापर अपर विदेह सम्बन्धी जिनेन्द्रोंकी तथा नैऋत्य दिशामें स्थित उत्तम रक्तकम्बल शिलापर ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी जिनेन्द्रोंके जन्मकी महिमा कही गई है ॥ १४९ ॥ वायुदिशामें स्थित रक्तशिलापर पूर्व विदेह सम्बन्धी जिनेन्द्रोंके जन्मकी महिमा जानना चाहिये । सुर और असुरोंसे सहित देवगण मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुए महा विभूतिके साथ आकर सिंहासनोंपर दिव्य जन्ममहिमाको करते हैं ॥ १५०-१५१ ॥ भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पाधिपति देव क्रमशः शंख, उत्तम पटह, मनोहर सिंहनाद और घंटाके शब्दसे जिन भगवान्‌की उत्पत्तिको जानकर सहर्ष महा विभूतिसे युक्त होकर समस्त आकाशतलको आच्छादित करते हुये आते हैं ॥ १५२-१५३ ॥ महा बलवान् इन्द्र भी तीन परिषद और सात अनीकोंसे युक्त हो उत्तम हाथीके कन्धेपर चढ़कर महा ऋद्धिके साथ आता है ॥ १५४ ॥ अभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य परिषद्‌के क्रमसे रवि चन्द्र और जतु नामक महत्तर कहे गये जानना चाहिये ॥ १५५ ॥ अभ्यन्तर परिषद्

१ उ ईसाण, प ब इसाण, श इसोण. २ प ब जिणंदाण. ३ प ब तहे. ४ उ श °दिसो. ५ उ दिव्वे, प ब दिव्वो, श दिव्वा. ६ श भावणाइइ. ७ उ श तिणि. ८ प ब रिषि. ९ उ श त्ति णा परिसाणं. १० उ महधरा, श महुवरा.

बारसयसयसहस्सा अब्भंतरपारिसा सुरा होंति । चउद्दसयसयसहस्सा मज्झिमपरिसा समुद्दिट्ठा ॥ १५६
सोलसयसयसहस्सा बाहिरपरिसासुराण परिसंखा । सव्वे वि दिव्वरूवा णाणाविहपहरणाभरणा[1] ॥ १५७
तिण्णि[2] वि परिसा कहिया एत्तो सत्ताणिया पवक्खामि । सोहम्मकप्पवासीइंदस्स[3] महाणुभावस्स[4] ॥ १५८
वसभरहतुरयमयगलणच्चणगंधव्वभिच्चवग्गाणं[5] । सत्ताणीया दिट्ठा सत्तहि कच्छाहि संजुत्ता ॥ १५९
चुलसीदिसयसहस्सा [धवलवसभा संखकुंदसंकासा । पढमाए कच्छाए पुरदो गच्छंति लीलाहिं ॥ १६०
अडसट्ठिसयसहस्सा] एया कोडी हवंति वरवसभा । जासवणकुसुमवण्णा मणिरयणविहूसिया विदिए ॥ १६१
तिण्णेव य कोडीओ छत्तीसा सयसहस्स वरवसहा । णीलुप्पलसंकासा तदियाकच्छम्मि णिद्दिट्ठा ॥ १६२
छच्चेव य कोडीओ बाहत्तरिसयसहस्स वरवसहा । मरगयमणिकिरणोहा चउत्थकच्छट्ठिया जंति ॥ १६३
तेरह सह कोडीओ चउदाला सयसहस्स वरवसहा । कणयणिभा विण्णेया पंचमकच्छम्हि णिद्दिट्ठा ॥ १६४
छब्बीसा कोडीओ अट्ठासीदा य सयसहस्साणि । छट्ठमकच्छे दिट्ठा भिण्णंजणसच्छहा वसभा ॥ १६५
तेवण्णा कोडीओ छावत्तरि सयसहस्स वरवसभा । सत्तमकच्छे दिट्ठा किंसुयकुसुमप्पभा[6] णेया ॥ १६६

देव बारह लाख, मध्यम पारिषद चौदह लाख और बाह्य पारिषद सोलह लाख प्रमाण कहे गये हैं । ये सब ही देव दिव्य रूपसे संयुक्त और नाना प्रकारके आयुधों एवं आभरणोंसे विभूषित होते हैं ॥ १५६–१५७ ॥ तीनों ही परिषदोंका कथन किया जा चुका है । अब यहांसे आगे महा प्रभावसे युक्त सौधर्म इन्द्रकी सात अनीकोंका वर्णन करते हैं ॥ १५८ ॥ वृषभ, रथ, तुरग, मदगल (हाथी), नर्तक, गन्धर्व और भृत्यवर्ग, इनकी सात कक्षाओंसे संयुक्त सात सेनायें कही गई हैं ॥ १५९ ॥ प्रथम कक्षामें शंख एवं कुंद पुष्पके सदृश धवल चौरासी लाख उत्तम वृषभ लीलापूर्वक आगे जाते हैं ॥ १६० ॥ द्वितीय कक्षामें जपा कुसुमके सदृश वर्णवाले और मणि एवं रत्नोंसे विभूषित वे उत्तम वृषभ एक करोड़ अड़सठ लाख होते हैं ॥ १६१ ॥ तृतीय कक्षामें नील कमलके सदृश वर्णवाले उत्तम वृषभ तीन करोड़ छत्तीस लाख कहे गये हैं ॥ १६२ ॥ चतुर्थ कक्षामें स्थित मरकत मणिकी किरणोंके समूहके समान कान्तिवाले उत्तम वृषभ छह करोड़ बहत्तर लाख होते हैं ॥ १६३ ॥ पंचम कक्षामें सुवर्णके सदृश वर्णवाले उत्तम वृषभ तेरह करोड़ चवालीस लाख निर्दिष्ट किये गये हैं ॥१६४॥ छठी कक्षामें भिन्न अंजनके सदृश कान्तिवाले वृषभ छब्बीस करोड़ अठासी लाख कहे गये हैं ॥ १६५ ॥ सातवीं कक्षामें किंशुक कुसुमके समान प्रभावाले उत्तम वृषभ तिरेपन करोड़ छयत्तर लाख कहे गये समझना चाहिये ॥ १६६॥ उनके मध्य मध्यमें बजते हुए महा वादित्रोंके

---

१ उ श पहरणावरणा, प ब पहरणावरणे. २ उ तिणि, श विण. ३ उ श इंदस, ब इंदस्सा. ४ श महणुभावस्सा. ५ प ब वसहस्सरहतुरिय. ६ श विच्च. ७ उ-शप्रत्योस्त्रुटितोऽयं कोष्ठकस्थः पाठः । ८ श ओदम.. ९ प ब °प्पहा.

मज्झे मज्झे तेसिं वज्जंतमहंततूरणिग्घोसं । जिणजम्मणमहिमाए[1] वसभाणीया समुच्छरिया[2] ॥ १६७
घंटाकिंकिणिणिवहा वरचामरमंडिया मणभिरामा । मणिकुसुममालपउरा[3] अणोवमा रूवसंपण्णा ॥ १६८
वरकोमलपल्लाणा देवकुमारेहिं[4] वाहमाणा ते । सोहंति दु गच्छंता चलंतधरणीहरा चेव ॥ १६९
कोडीसय छब्भहिया अडसट्ठा लक्ख होंति णिद्दिट्ठा । सत्तविभागाण तहा वसभाणीयाण परिसंखा ॥ १७०
रूवूणअट्ठ विरलिय दो दो दाऊण तेसु रूवेसु । अण्णोण्णगुणेण तहा फलेण रूवूणजादेण ॥ १७१
आदिमकच्छं गुणिदे[6] सत्त वि कच्छाण[7] होदि[8] वसभाणं । परिसंखा णिद्दिट्ठा जिणिंदइंदेहि णाणीहि ॥ १७२
सव्वाण अणीयाणं कच्छाणं पिंडसंखपरिमाणं । एस कमो णायव्वो संखेवेण य समुद्दिट्ठं[10] ॥ १७३
सिसिरयरहारहिमचयसंखेंदुमुणालकुंदकुमुदाभा । धवलादवत्तभासुर धवलरहा[11] पढमकच्छम्मि ॥ १७४
वेरुलियरयणणिम्मियचउचक्कविरायमाण गच्छंति । मंदारकुसुमसंणिह महारहा बिदियकच्छम्मि ॥ १७५

शब्दसे सहित वे वृषभानीक उछलते हुए जिन भगवान्‌के जन्मकल्याणकमें जाते हैं ॥१६७॥ घंटा व किंकिणियोंके समूहसे सहित, उत्तम चामरोंसे मण्डित, मनोहर, प्रचुर मणिमालाओं व पुष्प-मालाओंको पहिने हुए, अनुपम रूपसे सम्पन्न, उत्तम कोमल पलानसे सहित, और देवकुमारोंसे चलाये जानेवाले वे वृषभ चलते हुए पर्वतों जैसे शोभायमान होते हैं ॥ १६८-१६९ ॥ सात विभागोंके वृषभानीकोंकी संख्या एक सौ छह करोड़ अड़सठ लाख कही गई है ॥१७०॥ एक कम आठ अंकोंका विरलन करके उन अंकोंके ऊपर दो दो अंक देकर परस्पर गुणा करनेसे जो फल प्राप्त हो उसमेंसे एक कम करके शेपसे प्रथम कक्षाको गुणा करनेपर सातों कक्षाओं सम्बन्धी वृषभानीकोंकी संख्या प्राप्त होती है, ऐसा ज्ञानवान् जिनेन्द्र भगवान्‌ने निर्दिष्ट किया है ॥ १७१-१७२ ॥

उदाहरण— ८ - १ = ७; $\frac{२}{१}\ \frac{२}{१}\ \frac{२}{१}\ \frac{२}{१}\ \frac{२}{१}\ \frac{२}{१}\ \frac{२}{१}$; इनके परस्परका गुणनफल १२८; १२८ - १ = १२७; प्रथम कक्षामें ८४०००००; ८४००००० × १२७ = १०६६८००००० समस्त वृषभानीकसंख्या ।

सब अनीकों सम्बन्धी कक्षाओंकी संख्याके पिंडप्रमाणको लानेके लिये संक्षेपसे यहां क्रम कहा गया जानना चाहिये ॥१७३॥ प्रथम कक्षामें शिशिरकर (चन्द्र), हार, हिमचय, शंख, इन्दु, मृणाल एवं कुंद पुष्प जैसी प्रभावाले; धवल छत्रसे सुशोभित धवल रथ होते हैं ॥ १७४ ॥ द्वितीय कक्षामें वैडूर्य मणिसे निर्मित चार चाकोंसे विराजमान और मन्दार कुसुमके सदृश कान्तिवाले महारथ गमन करते हैं ॥ १७५ ॥ तृतीय कक्षामें सुवर्णमय छत्र, चामर और हिलते हुए उत्तम

---

१ प ब महिमाण २ उ श समोच्छारिया. ३ उ श परिहा. ४ उ प ब श देवकुमाराहि. ५ उ श तूरूण, प ब रूवेण. ६ प गणिदो, ब गुणिहो. ७ उ श सच वि फच्छाण. ८ उ प ब श होंति. ९ उ श पिंठ. १० प ब संखेवेण समुदिट्ठं. ११ श सिसिरहार. १२ उ श धवलहरा.

कणयाइवत्तचामरधयवडउधुव्वंतभासुराडोवा । णिद्धंतकणयसुघडियरहपउरा तदियकच्छम्मि ॥ १७६
मरगयरयणविणिम्मियबहुचक्कुप्पण्णसद्दगंभीरा । [‌[1]दुव्वंकुरदलसंणिह महारहा तह चउत्थीए ॥ १७७
कक्केयणमणिणिम्मियबहुचक्कघुलंतसद्दगंभीरा ।] णीलुप्पलदलसंणिभ महारहा होंति पंचमिए ॥ १७८
वरपउमरायमणिमयवरधुरदढअक्खचक्कसंघडिया । पप्फुल्लकमलसंणिभ महारहा होंति छट्टीए ॥ १७९
सिहिकंठवण्णमणिमयणिम्मलकिरणोहजालपज्जलिया[7] । वरइंदणीलसंणिभ महारहा होंति सत्तमिए[8] ॥ १८०
एवं महारहाणं सत्त वि कच्छा जलंतमणिकिरणा । आयासं छायंता चलिया जिणजम्मकल्लाणे ॥ १८१
वज्जंततूरणिवहा रहकच्छा[9] अंतरेसु सव्वेसु । गच्छंता पवररहा सोहंति मणोहरा तुंगा ॥ १८२
बहुदेवदेविपुण्णा वरचामरछत्तधयवडा णिवहा । लंबंतकुसुममाला अच्छेरयरूवसंठाणा ॥ १८३
पुव्वक्कएण णेया मायारहिएण चरणसुद्धेण । धम्मेण तेण लद्धा इंदेण महाविहूईओ ॥ १८४
खरपवणघायविचलियखीरोवहिवरतरंगणिहवण्णा[11] । वरसियचलंतचामर धवलस्सा पढमकच्छाए ॥ १८५

ध्वजपटोंके आटोप (आडम्बर) से प्रकाशमान तथा अग्निसंयोगसे संशोधित निर्मल सुवर्णसे निर्मित प्रचुर रथ गमन करते हैं ॥ १७६ ॥ चतुर्थ कक्षामें मरकत मणियोंसे निर्मित बहुत चाकोंसे उत्पन्न हुए शब्दसे गम्भीर और दूर्वाङ्कुरके पत्तोंके सदृश वर्णवाले महारथ होते हैं ॥ १७७ ॥ पांचवीं कक्षामें कर्केतन रत्नोंसे निर्मित व बहुतसे चाकोंके घूमनेके शब्दसे गम्भीर महारथ नीलोत्पलपत्रके सदृश वर्णवाले होते हैं ॥ १७८ ॥ छठी कक्षामें उत्कृष्ट पद्मराग मणिमय उत्तम धुरा, दृढ़ अक्ष एवं चाकोंसे संघटित महारथ प्रफुल्ल कमलके सदृश वर्णवाले होते हैं ॥ १७९ ॥ सातवीं कक्षामें मयूरकण्ठके समान वर्णवाले व मणियोंसे निर्मित निर्मल किरणसमूहसे देदीप्यमान महारथ उत्तम इन्द्रनील मणिके सदृश कान्तिवाले होते हैं ॥ १८० ॥ इस प्रकार प्रकाशमान मणिकिरणोंसे सहित महारथोंकी सातों कक्षायें आकाशको आच्छादित करती हुई जिनजन्मकल्याणकमें जाती हैं ॥ १८१ ॥ सब रथ कक्षाओंके मध्यमें बजते हुए वादित्रोंके समूहसे सहित, उन्नत व मनोहर उत्तम रथ गमन करते हुए शोभायमान होते हैं ॥ १८२ ॥ बहुतसे देव देवियोंसे परिपूर्ण; उत्तम चमर, छत्र और ध्वजा-पताकाओंके समूहसे सहित; लटकती हुई कुसुमोंकी मालाओंसे सुशोभित, तथा आश्चर्यजनक रूप एवं आकृतिसे संयुक्त, उक्त रथ रूप महा विभूतियां सौधर्म इन्द्रको पूर्वकृत निष्कपट शुद्ध चारित्र रूप धर्मसे प्राप्त होती हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ १८३ - १८४ ॥ प्रथम कक्षामें तीक्ष्ण पवनके घातसे विचलित हुए क्षीरोदधिकी उत्तम तरंगोंके सदृश वर्णवाले और चलते हुए उत्तम धवल चामरोंसे सहित धवल अश्व होते हैं ॥ १८५ ॥ द्वितीय

---

१ उ श धयवर. २ प ब णिद्धत्त ३ उ श रुह. ४ उ श चक्कप्पण, प ब चक्करव. ५ कोष्ठकस्थोऽयं पाठः प-ब प्रत्योर्नोपलभ्यते। ६ उ श दड्ड. ७ उ जालप्पंजरिया, प जालपिंजरिया, ब जालपिञ्जरिया, श जालप्पजरिया. ८ उ प सत्तामिए. ९ प रहछा, ब रहछा, शप्रतावतोऽग्रे स्खलितः पाठः। १० उ व्वायवियालिय, ब °घायवियलिया, श °घायविरलिय. ११ उ वरतुरंगणिमवणा, प ब वरंगतुरंगणिहवण्णा, श वरतुरंगणिववणा.

उदयंतभाणुसंणिभमंदारासोगकमलसरिच्छाया । पचलंतचारुचामर रत्ततुरंगा दु बिदियाए ॥ १८६
णिद्धंतकणयसंणिहखुरखुंडभरजणियरेणुपिंजरिया । वरगोरोयणसंणिभ वरतुरया तदियकच्छाए ॥ १८७
मरगयवण्णसमुज्जलतुंगमहाकाय गमणपरिहत्था । अभिणवतमालसामल तुरयवरा तह चउत्थीए ॥ १८८
रयणाभरणविहूसिय मणिकिरणसमूहणासियतमोहा । णीलुप्पलदलसंणिभ तुरगवरा पंचमाए दु ॥ १८९
ससहरकिरणसमागमविभिण्णवररत्तकुमुदवण्णाभा । जासवणकुसुमसंणिभ वरतुरया छट्ठमाए दु ॥ १९०
मणपवणगमणचंचलखरखुररवजणियसद्दगंभीरा । भिण्णिंदणीलसंणिभ वरतुरया सत्तमाए दु ॥ १९१
एवं तुरयाणीया सत्तविभागा हवंति णिद्दिट्ठा । दिव्वामलरूवधरा णाणाभरणेहि संछण्णा ॥ १९२
मज्झेसु तूरणिवहा पडहमुदिंगादिसद्दगंभीरा । वरकाहलमहुररवा पक्खुभियसमुद्दणिग्घोसा ॥ १९३
रयणमया पल्लाणा देवकुमारेहि वाहमाणा ते । सोहंति महाकाया देवाण विउव्वणा दिव्वा ॥ १९४

कक्षामें उदित होनेवाले सूर्यके सदृश अथवा मन्दार, अशोक एवं कमलके सदृश कान्तिवाले, तथा चलते हुए सुन्दर चामरोंसे सहित रक्त तुरंग होते हैं ॥ १८६ ॥ तृतीय कक्षामें अग्निसंयोगसे शुद्ध किये गये निर्मल सुवर्णके सदृश व खुरपुटोंके भारसे जनित धूलिसे पिंजरित उत्तम अश्व श्रेष्ठ गोरोचनके सदृश (पीत) होते हैं ॥ १८७ ॥ चतुर्थ कक्षामें मरकत जैसे वर्णवाले उज्ज्वल एवं उन्नत महान् शरीरसे संयुक्त तथा गमनमें दक्ष उत्तम अश्व नवीन तमाल वृक्षके समान श्याम वर्णवाले होते हैं ॥ १८८ ॥ पंचम कक्षामें रत्नोंके आभरणोंसे विभूषित व मणिकिरणोंके समूहसे अन्धकारसमूहको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठ अश्व नीलोत्पलपत्रके सदृश वर्णवाले होते हैं ॥ १८९ ॥ छठी कक्षामें शशधर (चन्द्र) के समागमसे विकासको प्राप्त उत्तम रक्त कमल जैसे वर्णवाले श्रेष्ठ अश्व जपा कुसुमके सदृश होते हैं ॥ १९० ॥ सातवीं कक्षामें मन अथवा पवनके समान गमन करनेमें चंचलताको प्राप्त तीक्ष्ण खुरोंके शब्दसे उत्पन्न शब्दसे गम्भीर उत्तम अश्व भिन्न इन्द्रनील मणिके सदृश होते हैं ॥ १९१ ॥ इस प्रकार दिव्य व निर्मल रूपको धारण करनेवालीं और नाना आभरणोंसे व्याप्त अश्व सेनायें सात विभागोंसे युक्त निर्दिष्ट की गई हैं ॥ १९२ ॥ मध्यमें वादित्रसमूहसे सहित, पटह व मृदंग आदिके शब्दसे गम्भीर, उत्तम काहलके मधुर शब्दसे युक्त, प्रक्षोभको प्राप्त हुए समुद्र जैसे निर्घोषसे संयुक्त, रत्नमय पलानोंसे सहित, और देवकुमारोंसे चलाये जानेवाले वे देवोंकी विक्रियासे निर्मित महाकाय दिव्य घोड़े शोभायमान होते हैं ॥ १९३-१९४ ॥ अनुपम रूप व तेजसे सम्पन्न वे महा बलवान्

१ प ब पचलंत. २ उ खुरवड, प खुरउद, ब खुरउद्ध, श खुरकर. ३ उ श वरातुरया, प ब वरतु-रिया. ४ उ श ससहकिरण. ५ उ श वण्णड्ढा, ब वण्णाभ. ६ उ श तुरय. ७ ब श पच्चलखर, प ब चंचकखल. ८ उ श काहलमहुवररवापक्खुभिय, प ब काहलमुद्गरवरपखुभिय, ९ प ब समद्दुणिरघोसा.

सव्वदिसा पूरेंता[1] अणोवमा तेयरूवसंपण्णा। जिणजम्मणमहिमाए गच्छंति महाबला तुरया ॥ १९५
धुलसीदिलक्खसंखा वियडघडा गुलगुलंतगज्जंता। गोखीरसंखधवला हत्थिघडा पढमकच्छाए ॥ १९६
अडसट्ठिसया णेया लक्खगुणा बालभाणुसमतेयाँ। पगलंतदाणगंडा हत्थिहडा बिदियकच्छाए ॥ १९७
छत्तीसा तिण्णिसया हत्थिहडा सयसहस्ससंगुणिया। णिद्धंतकणयवण्णा तदियाए होंति कच्छाए ॥ १९८
बाहत्तरि छच्चसया लक्खगुणा सिरिसकुसुमसंकासा। उत्तुंगदंतमुसला चउत्थीए होंति ते णागा ॥ १९९
तेरससयचउदाला हत्थिहडा सयसहस्ससंगुणिया। णीलुप्पलसंकासा पंचमिए होंति कच्छाए ॥ २००
छव्वीससया णेया अट्ठासीदा य होंति लक्खगुणा। जासवणकुसुमवण्णा हत्थिहडा तह य छट्ठीए ॥ २०१
तेवण्णसया णेया छावत्तरि तह य होंति लक्खगुणा। अंजणगिरिसमतेया हत्थिहडा सत्तमाए दु ॥ २०२
अडसट्ठा छच्चसया दससयसहस्सा हवंति लक्खगुणा। सत्त वि गयकच्छाणं परिसंखा होंति णायव्वा ॥ २०३
कच्छपमाणं विरलिय इच्छगुणं तेसु उवरि दाऊणं। अण्णोण्णब्भत्थेण य लद्धेण य रूवरहिदेण ॥ २०४

घोड़े सब दिशाओंको पूर्ण करते हुए जिनजन्ममहिमामें जाते हैं ॥ १९५ ॥ प्रथम कक्षामें हर्षसे गुल-गुल गरजनेवाले चौरासी लाख हाथियोंके समूह गोक्षीर अथवा शंखके समान धवल होते हैं ॥ १९६ ॥ द्वितीय कक्षामें गण्डस्थलसे मदको बहानेवाले उन एक लाखसे गुणित एक सौ अड़सठ अर्थात् एक करोड़ अड़सठ लाख हाथियोंकी घटायें बाल सूर्यके सदृश कान्तिवाली जानना चाहिये ॥ १९७ ॥ तृतीय कक्षामें एक लाखसे गुणित तीन सौ छत्तीस (३३६०००००) हाथियोंकी घटायें अग्निसंयोगसे शुद्ध किये गये सुवर्ण जैसे वर्णवाली होती हैं ॥ १९८ ॥ चतुर्थ कक्षामें उन्नत दांत रूपी मूसलोंसे सहित वे एक लाखसे गुणित छह सौ बहत्तर (६७२०००००) हाथी शिरीष कुसुमके सदृश होते हैं ॥ १९९ ॥ पंचम कक्षामें एक लाखसे गुणित तेरह सौ चवालीस (१३४४००००००) हाथियोंकी घटायें नीलोत्पलके सदृश होती हैं ॥ २०० ॥ छठीं कक्षामें एक लाखसे गुणित छब्बीस सौ अठासी (२६८८०००००) हाथियोंकी घटायें जपा कुसुम जैसे वर्णवाली होती हैं ॥ २०१ ॥ सातवीं कक्षामें एक लाखसे गुणित तिरेपन सौ छयत्तर (५३७६०००००) हाथियोंकी घटायें अंजनगिरिके समान कान्तिवाली होती हैं ॥ २०२ ॥ सातों कक्षाओंके हाथियोंकी संख्या एक लाखसे गुणित दश हजार छह सौ अड़सठ (१०६६८०००००) जानना चाहिये ॥ २०३ ॥ कक्षाके प्रमाणका विरलन कर उनके ऊपर इच्छित गुणकार (२) को देकर परस्पर गुणा करनेसे प्राप्त हुई राशिमेंसे एक कम करनेपर जो शेष इच्छित गुणकार राशि रहे उससे फिर आदिधनको गुणित कर जो प्राप्त हो उतना सब कक्षाओंका इच्छित धन होता है (देखिये पीछे गा. १७१-७२) ॥ २०४-२०५ ॥ प्रत्येक कक्षाके आगे पटु पटह, शंख, मर्दल और

---

१ उ श पूरंता. २ श तेया. ३ श वियडव्वा गुलकुलंत. ४ उ श तेय. ५ उ श सिरस, प ब षरिष. ६ श हत्थिहयसकाससहस्स. ७ उ श ओवरि. ८ उ श दाओणं.

इच्छगुणरासियाणं आदिधणं संगुणं पुणो किच्चा[1] । जं लद्धं णायव्वं इच्छधणं होइ सव्वाणं ॥ २०५
कच्छाए कच्छाए पुरदो वज्जंति तूररमणीया । पडुपडहसंखमद्दलकाहलकोलाहलरवेहिं ॥ २०६
उच्छंगदंतमुसला पभिण्णकरडा मुहा गुलगुलंता[2] । पगलंतझरणणिज्झरधरणीधरसंणिभा चेव ॥ २०७
लंबंतरयणघंटा णिम्मलमणिकुसुमदामकयसोहा । णाणापडायचित्ता[3] सिदादवत्तेहिं छज्जंता ॥ २०८
लंबंतकण्णचामर मणिकिंकिणिरणरणंतरमणीया । मणिकणयरज्जु[4]कच्छा कयलीहरछज्जिया[5] रम्मा ॥ २०९
वरदेविदेवपउरा अच्चब्भुद[6]सोहसारसंपण्णा । हत्थिहडाणं सेण्णं वित्थरइ समंतदो गयणं[7] ॥ २१०
एवं णागाणीया गच्छंता सुरवरा महासत्ता । दाविंता पुण्णफलं पच्चक्खं जीवलोयस्स ॥ २११
णट्टाणीया[8] वि सुरा णच्चंता[9] बहुविहेहिं रूवेहिं । गच्छंति[10] मेरुसिहरं जिणजम्मणमहिमअणुराया[11] ॥ २१२
विज्जाहरकुसुमाउहरायारायाहिवाण[12] चरियाणं । णच्चंति णच्चणसुरा पढमे कच्छम्मि णिद्दिट्ठा ॥ २१३
पुहइवईणं[13] चरियं सयलद्धमहंतमंडलीयाणं । बिदियाए कच्छाए णच्चंता सुरवरा जंति ॥ २१४

काहलके कोलाहल शब्दोंके साथ रमणीय बाजे बजते हैं ॥ २०६ ॥ उन्नत दांतरूपी मूसलोंसे सहित, गण्डस्थलसे मदको बहानेवाले तथा मुखसे सहर्ष गरजनेवाले वे हाथी बहते हुए मद जैसे झरनासे युक्त पर्वतके समान ही प्रतीत होते हैं ॥ २०७ ॥ लटकते हुए रत्नमय घंटासे संयुक्त, निर्मल मणियों व कुसुमोंकी मालासे की गई शोभाको प्राप्त, नाना पताकाओंसे विचित्र, धवल छत्रसे सुशोभित, कानोंमें लटकते हुए चामरों और मणिमय क्षुद्र घंटिकाओंके रण-रण शब्दसे रमणीय, मणि एवं सुवर्णमय कक्षा (हाथीके पेटपर बांधनेकी रस्सी) से अलंकृत, कदलीभारसे सुशोभित, रमणीय, उत्तम देव-देवियोंसे प्रचुर तथा आश्चर्यजनक श्रेष्ठ शोभासे सम्पन्न उन हस्तिघटाओंकी सेना आकाशमें चारों ओर फैल जाती है ॥ २०८–२१० ॥ इस प्रकार महा बलवान् उत्तम नागानीक देव जीवलोकको प्रत्यक्षमें पुण्यफलको प्रगट करते हुए गमन करते हैं ॥ २११ ॥ नर्तकानीक देव भी बहुत प्रकारके वेषोंसे नाचते हुए जिनजन्ममहिमाके अनुरागसे मेरु-शिखरपर जाते हैं ॥ २१२ ॥ नर्तकानीक देव प्रथम कक्षामें विद्याधर, कुसुमायुध (कामदेव) राजा और राजाधिपके चरित्रोंका अभिनय करते हैं ॥ २१३ ॥ द्वितीय कक्षाके नर्तक देव समस्त अर्ध मण्डलीक और महा मण्डलीक राजाओंके चरित्रका अभिनय करते हुए जाते हैं ॥ २१४ ॥ तृतीय कक्षाके नर्तक देवगण बलदेव, वासुदेव और

---

१ प ब किच्च, श कि. २ उ गुलुगुलिंवा, प गुलगुलंता, श गुलिंता. ३ उ पडापचित्ता, ब बडायचिता, श पडायविता. ४ श रज्ज. ५ उ कयलीहरछज्जुया, श कयलीहरच्छज्जुया. ६ उ अच्चुम्भद, प ब अच्चच्चुय, श अच्चुम्बद ७ प ब गाणं. ८ उ णदाणीया, श णद्दाणीया. ९ प ब णच्चंति. १० प ब बहुविहेहिंगच्छंति. ११ उ श अणराय. १२ उ प ब रायाहियाण, श साहाहियाण. १३ उ पुहइवइण, प ब पुवईण.

बलदेवहरिगणाण य तप्पडिवक्खाणं तह य वरचरियं । णच्चंति अमरविंदा णिद्दिट्ठा तदियकच्छाए[1] ॥ २१५

चोद्दसरयणवईणं णवणिहिअक्खीणकोसणाहाणं । चक्कहराण य चरियं चउत्थकच्छम्मि णच्चंति ॥ २१६

सव्वाणं चरिमाणं सलोयवालाण सुरवरिंदाणं । चरियं णच्चंति[4] सुरा कच्छाए[5] पंचमाए दु ॥ २१७

णिम्मलवरबुद्धीणं अणिमादिविसुद्धरिद्धिपत्ताणं । गणहरदेवाण सुरा चरियं णच्चंति छट्ठीए[6] ॥ २१८

वरपाडिहेरअइसयकल्लाणअणंतसोक्खजुत्ताणं । जिणइंदाणं चरियं सत्तमकच्छम्मि णच्चंति ॥ २१९

तेवण्णकोडिदेवा छाहत्तरिलक्ख दिव्वदेहधरा[9] । णच्चंति य जिणचरियं सुरसुंदरिसंजुदा धीरा ॥ २२०

इच्छाठाणं विरलिय काऊणं एयरूवपरिहाणी[10] । इच्छगुणं दाऊण य[11] विरलियरूवेसु सव्वेसु ॥ २२१

अण्णोण्णब्भत्थेण य जादेण[12] य तेण रासिणा गुणिदे[13] । इच्छाण मूलरासिं इच्छधणं होइ सव्वाणं[14] ॥ २२२

रूऊणे अद्धाणे विरलिय रासिम्मि इच्छगुण दिण्णे । अण्णोण्णगुणेण हदे आदिधणं हवइ इच्छफलं ॥ २२३

दिव्वामलदेहधरा दिव्वालंकारभूसियसरीरा । णच्चंता गायंता मेरुं तत्तो समुप्पइया ॥ २२४

प्रतिशत्रुओंके (प्रतिनारायणोंके) उत्तम चरित्रका अभिनय करते हैं ॥ २१५ ॥ चतुर्थ कक्षाके नर्तक देव चौदह रत्नोंके अधिपति और नौ निधियों तथा अक्षीण कोषके स्वामी चक्रवर्तियोंके चरित्रका अभिनय करते हैं ॥ २१६ ॥ पंचम कक्षाके नर्तक देव चरमशरीरियों और लोकपालों सहित समस्त इन्द्रोंके चरित्रका अभिनय करते हैं ॥ २१७ ॥ छठी कक्षाके नर्तक देव निर्मल उत्तम बुद्धिके धारक तथा अणिमादि विशुद्ध ऋद्धियोंको प्राप्त हुए गणधर देवोंके चरित्रका अभिनय करते हैं ॥ २१८ ॥ सातवीं कक्षाके नर्तक देव उत्तम प्रातिहार्य अतिशय, कल्याणक एवं अनन्त सुखसे संयुक्त जिनेन्द्रोंके चरित्रका अभिनय करते हैं ॥ २१९ ॥ दिव्य देहके धारक उपर्युक्त तिरेपन करोड़ छयत्तर लाख (७ – १ = ६; २ × २ × २ × २ × २ × २ = ६४; ८४०००००० × ६४ = ५३७६००००००) धीर नर्तकानीक देव देवांगनाओंसे संयुक्त होकर जिनचरित्रका अभिनय करते हैं ॥ २२० ॥ इच्छित स्थानको एक अंकसे हीन कर विरलन करके विरलित सब अंकोंके प्रति इच्छित गुणकारको देकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उससे इच्छित मूल राशिको गुणा करनेपर इच्छित सर्वधन प्राप्त होता है (देखिये पीछे गाथा २०४–५) ॥ २२१–२२२ ॥ एक कम अध्वानका (स्थानोंका) विरलन करके विरलित राशिके ऊपर इच्छित गुणकारको देकर परस्पर गुणित करनेसे जो प्राप्त हो उससे आदि धनको गुणा करनेपर इच्छाफल (इच्छित धन) प्राप्त होता है (देखिये पीछे गाथा २०४–५) ॥ २२३ ॥ दिव्य एवं निर्मल देहके धारक और दिव्य अलंकारोंसे विभूषित शरीरवाले उक्त देव नाचते गाते हुए वहांसे मेरुके ऊपर जाते हैं ॥ २२४ ॥ गन्धर्वोंकी सेनाके श्रेष्ठ देव जिन भगवान्‌के जन्मसे

---

१ प ब तप्पडवक्खाण. २ श णियकच्छाण. ३ श सेलोय ४ श गच्छंति. ५ श गच्छाए. ६ उ सुरा. कच्छा पंच छट्ठमाए दु. श सुरी कच्छाय छट्ठमाए दु. ७ उ श अइसया, प अइसुय, ब अहिसुय, ८ उ श वाण. ९ उ श देहदिव्वधरा. १० उ श णच्चंति जिणवेरयं. ११ उ श परिहीणा, ब परिहाणं. ११ उ दाऊणं णाय, श दाऊणं णि य. १२ उ श जायेण. १३ प ब तोरणासिणा, गुणिदो १४ उ श इच्छगुणं होइ सव्वधणं.

गंधव्वाण अणीया सत्तस्सरसंजुदा हु गायंता । गच्छंति सुरा पवरा जिणजम्मणजणियसंतोसा ॥ २२५
महुरमणोहरवक्का दिव्वाहरणेहिं भूसिया देवा । सज्जसरेहिं[1] य जुत्ता कच्छाए होंति पढमाए ॥ २२६
रिसभसरेण[2] य जुत्ता वत्थाभरणेहिं मंडिया दिव्वा । बिदियाए कच्छाए महुरं[3] गायंति णच्चंति[4] ॥ २२७
णीलुप्पलणीसासा अहिणवलावण्णरूवसंपण्णा । तदियाए कच्छाए गंधारसरेण गायंति ॥ २२८
मज्झिमसरेण जुत्ता जलंतवरमउडकुंडलाभरणा । गायंति पवरदेवा कच्छाए तह चउत्थीए ॥ २२९
पंचमसरेण जुत्ता सुकुमरसिंगारसद्दगंभीरा । कच्छाए पंचमिए णिद्दिट्ठा सुरवरा णिवहा[6] ॥ २३०
धइवदसरेण जुत्ता सायरणिग्घोससमणहरालावा[7] । छट्ठीए कच्छाए अमरकुमारा समुद्दिट्ठा ॥ २३१
गायंति महुरमणहरणिसायघोसेण भासुरा अमरा । सुरसुंदरिसंजुत्ता सत्तमिए तह य कच्छाए ॥ २३२
वंसीवीणावच्चिसमहुयरिकंसालतालियादीहिं । संजुत्ता देवीओ गायंति जिणाण भत्तीए ॥ २३३
ढक्कामुदिंगझल्लरिमहसारमउंदकिण्णरादीहिं । वज्जंतमहुरमणहरगंधव्वा सुरगणा[10] चलिया ॥ २३४
सायरतरंगसंणिभ भमरंजणसच्छहा जगजगंता । पढमाए कच्छाए किण्हझयेसंजुत्ता णेया ॥ २३५

उत्पन्न हुए सन्तोषसे सात स्वर युक्त गान करते हुए जाते हैं ॥ २२५ ॥ मधुर एवं मनोहर मुखवाले तथा दिव्य आभरणोंसे भूषित उक्त देव प्रथम कक्षामें षड्ज स्वरोंसे युक्त होते हैं ॥ २२६ ॥ वस्त्राभरणोंसे मण्डित उक्त दिव्य देव द्वितीय कक्षामें ऋषभ स्वरसे युक्त मधुर गान करते व नाचते हैं ॥ २२७ ॥ तृतीय कक्षामें नीलोत्पलके समान निश्वासवाले और अभिनय लावण्यमय स्वरूपसे सम्पन्न वे देव गान्धार स्वरसे गाते हैं ॥ २२८ ॥ चतुर्थ कक्षामें चमकते हुए मुकुट एवं कुण्डल रूप आभरणोंसे सहित वे उत्तम देव मध्यम स्वरसे युक्त होकर गाते हैं ॥ २२९ ॥ पांचवीं कक्षामें सुकुमार (सुन्दर) आभूषणोंके शब्दसे गम्भीर उक्त श्रेष्ठ देवोंके समूह पंचम स्वरसे युक्त कहे गये हैं ॥ २३० ॥ छठी कक्षामें समुद्रके निर्घोषके समान मनोहर आलापवाले देवकुमार धैवत स्वरसे युक्त कहे गये हैं ॥ २३१ ॥ सातवीं कक्षामें सुन्दर कान्तिवाले उक्त देव देवांगनाओंसे संयुक्त होकर मधुर एवं मनोहर निषाद स्वरसे गाते हैं ॥ २३२ ॥ वंशी, वीणा, वच्ची (व्वी) सक, मधुकरी, कांस्याल और ताल (कंसिका) आदि वाद्यविशेषोंसे संयुक्त देवियां जिन भगवान्की भक्तिसे गान करती हैं ॥ २३३ ॥ ढक्का, मृदंग, झालर, महासार, मुकुंद (वाद्यविशेष) और किन्नर आदि वादित्रोंको बजाते हुए मधुर एवं मनोहर गन्धर्व देवोंके समूह प्रस्थित हुए ॥ २३४ ॥ प्रथम कक्षामें समुद्रतरंगके सदृश अथवा भ्रमर व अंजनके समान प्रभावाले जगमगाते हुए [भृत्य] कृष्ण ध्वजाओंसे युक्त जानना चाहिये ॥ २३५ ॥ [उक्त भृत्य] द्वितीय कक्षामें उन्नत

१ उ श °सरेहिं. २ प ब रिसतसरेण, श सितभेरण. ३ प ब महुरा. ४ उ श गच्छंति. ५ उ श सद्दूर. ६ उ श सुणिवहा. ७ प ब मणहरावाला, श मणिहरालावा. ८ श मुदिद. ९ प ब महासारमदद. १० उ श गंधव्वहुरा गणा. ११ उ श किण्हम्मय, प ब किण्हज्झय.

कंचणदंडुत्तुंगा[1] मणिरयणकुरंतभासुराडोवा । चामरधवलंतसिहरा णीलद्धयसंकुला[2] विदिए ॥ २३६
वेरुलियदंडणिवहा कवोदवण्णेहि वत्थणिवहेहिं । देवकुमारकरत्था पंडुद्धयसंकुला[3] तदिए[4] ॥ २३७
करिसीहवसहदप्पणसिहि[5]सारसगरुडचक्करविससिहरा[6] । मरगयदंडुत्तुंगा कणयमया तह य चोत्थीए ॥ २३८
उब्भिण्ण[7]कमलपाडलमंदारासोय[8]किंसुकुसुमाभा । विदुमदंडुत्तुंगा पउमधया[9] पंचमाए दु ॥ २३९
गोखीरकुंदहिमचयसरयब्भतुसारहारसंकासा । णिम्मलकंचणदंडा धवलधया छट्ठकच्छाए ॥ २४०
मणिगणकुरंतदंडा मुत्तादामेहिं मंडिया दिव्वा । धवलादवत्तणिवहा[10] सत्तमियाए दु कच्छाए ॥ २४१
एवं सत्त वि कच्छा भिच्चाणीयाण होंति णायव्वा । जिणभत्तिरायरत्ता गच्छंति महाणुभावेण ॥ २४२
बावण्णा कोडीओ बाणउदा लक्ख होंति णिद्दिट्ठा । धयणिवहाणं संखा पवणपणच्चंतसोहंता ॥ २४३
तेवण्णा कोडीओ छावत्तरिलक्ख कुंदधवलाणं । छत्ताणं परिसंखा णायव्वा रयणचित्ताणं ॥ २४४

सुवर्णदण्डसे संयुक्त, मणि एवं रत्नोंके प्रकाशमान आटोपसे सहित तथा शिखरपर चलते हुए चामरोंसे शोभायमान नीली ध्वजाओंसे संयुक्त होते हैं ॥ २३६ ॥ तृतीय कक्षामें वैडूर्य मणिमय दण्डसमूहसे संयुक्त और कपोतवर्ण वस्त्रसमूहोंसे सहित वे कुमार देवोंके हाथोंमें स्थित ध्वजासमूह शुक्लवर्ण होते हैं ॥ २३७ ॥ चतुर्थ कक्षामें हाथी, सिंह, वृषभ, दर्पण, मयूर, सारस, गरुड़, चक्र, सूर्य और चन्द्र, ये उन्नत मरकतमय दण्डसे संयुक्त ध्वजायें सुवर्णमय (पीत) होती हैं ॥ २३८ ॥ पांचवीं कक्षामें विकसित कमल, पाटल, मंदार, अशोक और किंशुक कुसुमके समान कान्तिवाली पद्मध्वजायें मूंगेके उन्नत दण्डसे संयुक्त होती हैं ॥ २३९ ॥ छठी कक्षामें गोक्षीर, कुंद पुष्प, हिमसमूह, शरत्कालीन मेघ, तुषार और हारके सदृश धवल ध्वजायें निर्मल सुवर्णदण्डसे संयुक्त होती हैं ॥ २४० ॥ सातवीं कक्षामें मणिगणोंसे प्रकाशमान दण्डसे सहित और मुक्तामालाओंसे मण्डित दिव्य धवल आतपत्रोंके समूह होते हैं ॥ २४१ ॥ इस प्रकार भृत्यानीकोंकी सात कक्षायें होती हैं जो जिनभक्तिरागमें अनुरक्त होकर महा प्रभावसे जाती हैं ॥ २४२ ॥ पवनसे प्रेरित होकर नाचनेवाली उन शोभायमान ध्वजाओंके समूहोंकी संख्या बावन करोड़ बानबे लाख निर्दिष्ट की गई है ॥ २४३ ॥ कुन्द पुष्पके समान धवल और रत्नोंसे विचित्र छत्रोंकी संख्या तिरेपन करोड़ छयत्तर लाख जानना चाहिये ॥ २४४ ॥ सात अनीकों

---

१ प ब दंडतुगा. २ उ श णीलव्वय, प ब णीलध्धुय. ३ उ श पंडुद्धय. ४ प तिदिए, ब तिदिये. ५ प ब सिह. ६ ब गडुडचक्क. ७ प उभण्णिण, ब उभव्विण. ८ उ श मंदारसोय. ९ उ प ब श पउमन्धया. १० उ धवलादवत्तिणिवहा, श धवलदवत्तिणिवहा.

छाहत्तरिलक्खजुया छादाला सत्तकोडिसय संखा । सत्ताणीयाणं[1] तहा उणवण्णाणं[2] तु कच्छाणं ॥ २४५
चुलसीदिलक्खगुणिदे सत्तावीसुत्तरेण य सएण । सत्तगुणेणुप्पज्जइ सत्ताणीयाण परिसंखा ॥ २४६
चुलसीदिलक्खदेवा पढमाए तह य[3] होंति कच्छाए । सव्वाणं अणियाणं आदिधणं एस णिद्दिट्ठं ॥ २४७
बिदियादीकच्छाणं दुगुणा दुगुणा हवंति णादव्वा । एवं सत्त वि कच्छा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥ २४८
सोहम्मसुरवरस्स[4] दु सत्ताणीया समासदो वुत्ता[5] । अवसेससुरिंदाणं एसेव कमो[6] मुणेयव्वो ॥ २४९
एसेव लोयपालाण चारुरूवाण[7] देवरायाणं । णवरि विसेसो णेओ[8] परिवारा होंति अद्धद्धा ॥ २५०
धणुफलहसत्तितोमरणाणाविहपहरणेहि[10] बहुएहि । इंदस्स पायरक्खा असंखदेवा मुणेयव्वा ॥ २५१
इंदो वि देवराया आरुहिऊणं गयंदपट्ठम्मि । सव्वादरेण जुत्तो गच्छइ परमाए भत्तीए ॥ २५२
सह सो सुरिंदहत्थी एरावणणामदो त्ति विक्खाओ । जोयणलक्खपमाणं विउव्वइ[11] णिम्मलं देहं ॥ २५३

सम्बन्धी उनंचास कक्षाओंकी संख्या सात सौ छयालीस करोड़ छयत्तर लाख है ॥ २४५ ॥ सातसे गुणित एक सौ सत्ताईससे चौरासी लाखको गुणा करनेपर उपर्युक्त सात अनीकोंकी संख्या उत्पन्न होती है [८४००००० × (१२७ × ७) = ७४६७६०००००] ॥ २४६ ॥ प्रथम कक्षामें चौरासी लाख देव होते हैं । यह सब अनीकोंका आदिधन कहा गया है ॥ २४७ ॥ द्वितीयादिक कक्षाओंका प्रमाण उत्तरोत्तर इससे दूना दूना जानना चाहिये । इस प्रकार सर्वदर्शियोंने सातों कक्षाओंका स्वरूप कहा है ॥ २४८ ॥ यहां संक्षेपसे सौधर्म इन्द्रकी सात कक्षाओंका कथन किया गया है । शेष सुरेन्द्रोंकी सात अनीकोंका भी यही क्रम समझना चाहिये ॥ २४९ ॥ सुन्दर स्वरूपवाले इन्द्रोंके लोकपालोंका भी यही क्रम जानना चाहिये । विशेषता केवल यह है कि उनके परिवार आधे आधे होते हैं ॥ २५० ॥ धनुष फलक, शक्ति और तोमर इत्यादि नाना प्रकारके बहुतसे शस्त्रोंसे सुसज्जित असंख्यात देव इन्द्रके पादरक्षक जानना चाहिये ॥ २५१ ॥ देवोंका राजा इन्द्र भी गजराजकी पीठपर चढ़कर पूर्ण आदरसे युक्त होता हुआ अतिशय भक्तिसे वहां जाता है ॥ २५२ ॥ ऐरावण नामसे विख्यात वह इन्द्रका हाथी एक लाख योजन प्रमाण निर्मल देहकी विक्रिया करता है ॥ २५३ ॥ शंख, चन्द्र और कुंद पुष्पके समान

---

१ उ श सत्ताणीयाणि. २ उ श उणवणाणं, प ब उवण्णाणं. ३ उ श तह य. ४ प ब सोहम्मि° ५ उ श वुत्ता. ६ उ श एसे कमो. ७ उ लोयपालारा चारु, प लोयपाला चारु, ब लोयपाला चार, श लोयपादाण चारु. ८ प ब णउ, श णिओ. ९ ब धणुहफलिह. १० उ श पहरिणेहि. ११ उ श विउव्वइ, प ब विवव्वइ.

संखेंदुकुंदधवलं णाणाहरणेहिं[1] मंडियं दिव्वं । घंटारणंतकक्खं तारायणभूसियं कुंभं ॥ २५४
बत्तीसवरमुहाणि य कंचणमणिरयणदामणिवहाणि[2] । एक्केक्कदिसाभागे णायव्वा तस्स णागस्स ॥ २५५
एक्केक्कम्मि मुहम्मि दु मणिकंचणमंडिदम्मि दिव्वम्मि । अट्ठट्ठ धवलदंता णाणामणिरयणपरिणामा ॥
एक्केक्कम्मि य दंते एक्केक्का सरवरा विमलतोया । एक्केक्कसरवरम्मि दु एक्केक्का कमलगच्छाणि ॥
एगेगकमलसंडे एगेगविचित्तवेदिसंजुत्ता । एगेगदिसाभागा एगेगा तोरणा रम्मा ॥ २५८
एगेगम्मि य गच्छे बत्तीसा वियसिया महापउमा । पउमेसु तेसु णेया णाडयसंगीयरमणीया ॥ २५९
एगेगकमलकुसुमा[3] एगेगा जोयणा सुरभिगंधा । मणिकंचणपरिणामा अमराण विउव्वणा दिव्वा ॥ २६०
एगेगकमलकुसुमे एगेगा णाडया[4] मुणेयव्वा । एगेगणाडयम्मि य अच्छरसा होंति[5] बत्तीसा ॥ २६१
इट्ठाणि पियाणि तहा कंताणि य कोमलाणि रूवाणि । विउव्विऊण बहुसो णच्चंति अणोवमगुणड्ढं ॥
समतालकंसतालं वरवीणाविविहवंसवामिस्सं[6] । वरमुरवसद्दगहिरं णट्टं[7] णच्चंति देवीओ ॥ २६३

धवल, नाना आभरणोंसे मण्डित, दिव्य तथा घंटाके शब्द युक्त कक्षा (हाथीके पेटपर बांधनेकी रस्सी) वाला उसका कुम्भस्थल तारागणों (धवल बिन्दुओं) से भूषित होता है ॥ २५४ ॥ उस हाथीके एक एक दिशाभागमें सुवर्ण, मणि एवं रत्नोंकी मालाओंके समूहसे संयुक्त बत्तीस उत्तम मुख होते हैं ॥ २५५ ॥ मणि और सुवर्णसे मण्डित एक एक दिव्य मुखमें नाना मणियों एवं रत्नोंके परिणाम रूप आठ आठ धवल दांत होते हैं ॥ २५६ ॥ एक एक दांतपर निर्मल जलसे परिपूर्ण एक सरोवर और एक एक सरोवरमें एक एक कमल-समूह होता है ॥ २५७ ॥ एक कमलसमूहमें एक एक विचित्र वेदीसे संयुक्त एक एक दिशाभागमें स्थित एक एक रमणीय तोरण होता है ॥ २५८ ॥ एक एक गच्छमें विकसित बत्तीस महापद्म होते हैं । उन पद्मोंपर नाट्य व संगीतसे रमणीय तथा एक एक योजन प्रमाण फैलनेवाली सुरभि गन्धसे संयुक्त एक एक कमल पुष्प होता है । मणियों एवं सुवर्णके परिणाम रूप ये दिव्य पुष्प देवोंकी विक्रिया रूप होते हैं ॥ २५९-२६० ॥ एक एक कमलकुसुमपर एक एक नाट्यशाला और एक एक नाट्यशालामें बत्तीस अप्सरायें होती हैं ॥ २६१ ॥ ये अप्सरायें इष्ट, प्रिय, कान्त तथा कोमल रूपोंकी विक्रिया कर अनुपम गुणोंसे युक्त बहुत प्रकारसे अभिनय करती हैं ॥ २६२ ॥ उक्त देवियां समतालसे युक्त कांस्यताल, उत्तम वीणा और विविध प्रकारकी बांसुरियोंसे मिश्रित तथा उत्तम मृदंगके शब्दसे गम्भीर नाट्यका अभिनय करती हैं ॥ २६३ ॥ जहां दक्षिण इन्द्र (सौधर्म) की बहुतसी

१ उ श णाणाहरिणेहि, २ उ श दामणिहाणि, प .... ब दामणिवहोमि. ३ प ब एगेगकमलकुसुमे. ४ उ श णडया, प...., ब डया. ५ उ अच्छरसु होंति, प ब अच्छासोहंति. ६ उ श वाम्मिसं. ७ उ श नट्टं.

लाय कयपल्लवेहि य मुहभंगवियारपायचलणेहि । णच्चंति अच्छराओ दक्खिणइंदस्स बहुगीओ ॥ २६४
वम्महदप्पुप्पाइय[1] ताओ रइरागरहसंजणणाइं[2] । रूवाइं[3] अच्छराओ रमयंति[4] अच्छेरयसमाइं ॥ २६५
कंतेहि[5] कोमलेहि य अंगेहि[6] अणंगरागजणणेहि । णच्चंति अच्छराओ गइंदसरकमलसंडेसु ॥ २६६
एवं रूववईओ देवीओ णच्चमाण सव्वाओ । गच्छंति पहिट्ठमणा जिणजम्मणमहिमकल्लाणे ॥ २६७
कोडी सत्तावीसा[7] अच्छरसाओ[8] हवंति इंदस्स । अट्ठेव महादेवी लक्खं पुण वल्लहीयाओ ॥ २६८
एयाओ देवीओ आरुहिऊणं गइंदपट्ठम्मि । अइआयरजुत्ताओ[9] जम्मणमहिमाए गच्छंति ॥ २६९
दक्खिणइंदस्स जहा[10] सत्ताणीयादियाण परिसंखा । उत्तरइंदस्स तहा[11] परिसंखा होंति णायव्वा[12] ॥ २७०
ईसाणिंदो वि तहा आरुहिऊणं महंत [व[13]सहम्मि । महदीइड्ढिसमुदओ आगच्छइ भत्तिराएण[14] ॥ २७१
सव्वाणं इंदाणं सत्ताणीया ह-] वंति णिद्दिट्ठा । तिण्णि य परिसा णेया असंख तह आदरक्खा[15] य ॥ २७२
सव्वे वि सुरवरिंदा जम्मणमहिमेण चोइया[16] संता । सगसगविहूइसहिया छायंता णहयलं एंति ॥ २७३

अप्सरायें लतापल्लवोंसे, मुखभंगविकारसे और पादसंचारसे युक्त नृत्य करती हैं ॥ २६४ ॥ वे अप्सरायें मन्मथ (काम) के दर्पको उत्पन्न करनेवाले व रतिरागरहस्यके जनक आश्चर्यकारक वेषोंको रचती हैं ॥ २६५ ॥ उक्त अप्सरायें गजेन्द्रके दांतोंपर स्थित तालाबोंके कमलसमूहोंपर कामविषयक रागको उत्पन्न करनेवाले कान्त (रमणीय) व कोमल अंगोंसे नाचती हैं ॥ २६६ ॥ इस प्रकार नृत्य करनेवाली उक्त सब रूपवती देवियां मनमें हर्षित होकर जिन भगवान्के जन्मकल्याणकमें जाती हैं ॥ २६७ ॥ इन्द्रके सत्ताईस करोड़ अप्सरायें, आठ महादेवियां और एक लाख वल्लभायें होती हैं ॥ २६८ ॥ ये देवियां गजराजकी पीठपर आरूढ होकर अति आदर युक्त होती हुई जन्ममहिमामें जाती हैं ॥ २६९ ॥ जिस प्रकार दक्षिण इन्द्रकी सात अनीकादिकोंकी संख्या है उसी प्रकार उत्तर इन्द्रकी सात अनीकादिकोंकी संख्या जानना चाहिये ॥ २७० ॥ उसी प्रकार ईशान इन्द्र भी महान् वृषभपर आरूढ हो बड़ी ऋद्धिसे युक्त होकर भक्तिसे यहां आता है ॥ २७१ ॥ सब इन्द्रोंके सात अनीक होती हैं । इनके अतिरिक्त उनके तीन पारिषद और असंख्यात आत्मरक्षक देव होते हैं, ऐसा निर्दिष्ट किया गया जानना चाहिये ॥ २७२ ॥ सभी इन्द्र जन्ममहिमासे प्रेरित होकर अपनी अपनी विभूतिके साथ आकाशतलको व्याप्त करते हुए आते हैं

१ प ब हदप्पुरपाइं. २ उ रइरागरहस, श रहरागरहस. ३ श जवाइ. ४ उ श रयंत. ५ ब श केतिहि. ६ प ब अंगहि. ७ प ब कोडी सत्तवीसा, श कोडीओ तावीसा. ८ उ श वीसा कोडी अच्छरसाओ. ९ उ अइमइआयारहुताओ, श अइआरहुताओ. १० ब जह. ११ ब तह. १२ प ब होंति णिद्दिट्ठा. १३ र-ग्रप्रमोस्त्रुटितोऽयं कोष्ठकस्थः पाठः । १४ श माचिणा एव १५ प ब आदिरक्खा. १६ प ब नोइया.

अवसेसा वि य णेया[1] णाणाजंपाणवाहणारूढा । [[2]सोहम्मादी जाव दु अच्चुदकप्पं सुरा चलिया ॥ २७४
भवणवइवाणावेंतरजोइसिया विविहवाहणारूढा ।] जिणसासणभत्तिरया महाविहूईहिं ते चलिया ॥ २७५
अहमिंदा वि य देवा आसणकंपेण बोहिया संता । गंतूण य सत्तपयं तत्थेव ठिया णमंसंति ॥ २७६
सेदादवत्त[3]णिवहा वरचामरधुव्वमाण[4] बहुमाणा । णाणापडायचिण्हा बहुविहवरवाहणारूढा ॥ २७७
कंकणपिणद्ध[5]हत्था कंठाकडिसुत्तभूसियसरीरा । पजलंतमहामउडा मणिकुंडलमंडियागंडा ॥ २७८
हारविराइयवच्छा केऊरविहूसिया महा[6]बाहू । तुडियं[7]गदणेवत्था वरवत्थविहूसिया देहा ॥ २७९
गंधड्ढकुसुममाला[8]मलयंदणसुरहिगंधणिस्सासा । सुकुमाल[9]पाणिपादा बहुविहवण्णुज्जल[9]सरीरा ॥ २८०
एवं ते देवगणा आगंतूणं[10] महाविभूदीए । मंदरगिरिस्स सिहरे वरपंडुवणे विसालम्मि ॥ २८१
सिंहासणेसु णेया णाणामणिविप्फुरंतकिरणेसु । जिणइंदवरकुमारे खीरोदजलेण ण्हावेंति[11] ॥ २८२
जोयणमुहविस्थारा अट्ठेव य जोयणा सुगंभीरा । अट्ठ सहस्सा कलसा मणिकंचणरयणकयसोहा ॥ २८३

॥ २७३ ॥ सौधर्म कल्पसे लेकर अच्युत कल्प तकके शेष देव भी नाना जम्पान (वाहनविशेष) वाहनोंपर चढ़कर चल देते हैं ॥ २७४ ॥ भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव भी विविध वाहनोंपर चढ़कर जिनशासनकी भक्तिमें रत होते हुए महा विभूतियोंके साथ प्रस्थान करते हैं ॥ २७५ ॥ अहमिन्द्र देव भी आसनके कम्पित होनेसे प्रबोधित होते हुए सात पैर जाकर वहीं स्थित होकर नमस्कार करते हैं ॥ २७६ ॥ धवल छत्रोंके समूहसे सहित, दुरते हुए उत्तम चामरोंसे संयुक्त, अतिशय आदर सहित, नाना प्रकार पताकाओंके चिह्नोंसे संयुक्त, बहुत प्रकारके उत्तम वाहनोंपर आरूढ़, हाथमें कंकण पहिने हुए, कंठा और कटिसूत्रसे विभूषित शरीरवाले, देदीप्यमान महा मुकुटसे सहित, मणिमय कुण्डलोंसे मण्डित कपोलोंसे संयुक्त, हारसे सुशोभित वक्षस्थलवाले, केयूरसे विभूषित महा बाहुओंसे सहित, त्रुटित (हाथका एक आभूषण) और अंगद युक्त वेषसे सहित, उत्तम वस्त्रोंसे विभूषित देहके धारक, गन्धसे व्याप्त कुसुममाला और निर्मल चन्दनकी सुगन्धित गन्धके समान निश्वासवाले, सुकुमार हाथ व पैरोंसे सहित, और बहुत प्रकारके वर्ण युक्त उज्ज्वल शरीरवाले, इस प्रकारके वे देवगण महा विभूतिके साथ मन्दर गिरिके शिखरपर विशाल व उत्तम पाण्डुक वनमें स्थित नाना मणियोंकी चमकती हुई किरणोंसे सहित सिंहासनोंपर श्रेष्ठ जिनेन्द्रकुमारोंको क्षीरसमुद्रके जलसे नहलाते हैं ॥ २७७-२८२ ॥ एक योजन प्रमाण मुखविस्तारसे सहित, आठ योजन गहरे ऐसे मणि, सुवर्ण एवं रत्नोंसे शोभायमान जो एक हजार आठ कलश होते हैं,

---

१ उ वि अणेया, श वि णेया. २ उ-शप्रत्योस्त्रुटितोऽयं कोष्ठकस्थः पाठः । ३ उ श सेदादिवत्त, प ब सेदाहवत्त. ४ ब चामरसव्वुव्वमाण. ५ उ कंकणपिणद्ध, प ब कंकणपिणच्च, श कंकणड्ड. ६ उ श तहा. ७ उ श उडियंग. ८ उ कुसुमाल, श कुसममाल. ९ उ प ब श वण्णुज्जल. १० ब आणंतूणं. ११ उ ण्हाविंति, प ब ण्हावंति, श ण्हविंति..